॥ श्रीराम: ॥

श्री रामस्नेही ग्रन्थ माला : ३

●

प्राप्ति स्थान —
श्री रामद्वारा, ग्रसाडा
ग्रसाडा पिन-344028
जिला - बाड़मेर (राज.) भारत

प्रकाशन तिथि
आचार्य श्री दयालदास जन्म दिवस (गीता जयन्ती)
विक्रम सम्वत् २०३७, मार्ग शीर्ष शुक्ल ११ शकाब्द १९०२

प्रथम संस्करण १०००
१८ दिसम्बर, १९८०

मुद्रक —
राठी प्रिन्टर्स पुंगलपाड़ा, जोधपुर

मूल्य २५)

॥ श्रीराम: ॥

- विषयानुक्रमणिका -

चित्रसूची

॥ श्री रामोजयति ॥

श्री रामदासाष्टकम्

आनन्दस्य परं स्वरूपविमलं सर्वेश्वरं सर्वगं,
योगीन्द्रैरपि पादपल्लवयुगं ध्येयं च यस्य स्वकम् ।
मायामानुषविग्रहं कलिमलध्वंसं सदा मोददं,
लोकानां सततंहि रक्षणपरं श्रीरामदासं भजे ॥१॥

मानामान विवर्जितं श्रुतिपथं हृत्पुण्डरीक स्थितं,
भक्तानामभयंकरं च सततं सर्वस्य सौख्यप्रदम् ।
मध्यस्थमनघं गिरीशहृदयामातं जगद्व्यापकं,
चैतन्यात्ममयं तमेव परमं श्री रामदासं भजे ॥२॥

देवानां मुकुट निरञ्जनममुं शान्तं विशुद्धं कविं,
तारकं निजबोधरूपममलं मायाश्रयं पुरुषम् ।
यं ध्यायंति जनाः विधूय कलुषं संसाराग्नि निर्वाणतां,
भूभार प्रविनाशकं च निरतं श्री रामदासं भजे ॥३॥

साधूनां जगद्रक्षितारकर्तारं . हृद्यं तमिस्रापहं,
यत् पादाब्ज निषेवनात् प्रतिदिनं सिद्धि गताः सज्जनाः ।
देहस्थान्तरमस्थितं शुभकरं शान्तं मनः कारणं,
ब्रह्मादैश्च परिसेवितं मधुरिपुं श्री रामदासं भजे ॥४॥

श्रीशं शीलनिधिं विभुं विजयिनं तापत्रयनाशकं,
यं वै सत्पुरुषा स्तुवंत्यतिशयं तोषप्रदं स्वं हरिम् ।
शोभाढ्यं जगदीश्वरं श्रुतिनुतं धाम्यं जनानां प्रियं,
भक्ताऽभीष्ट फलप्रदं शरणदं श्री रामदासं भजे ॥५॥

संसारं विदधात्यसौ परमया शक्त्या स्वया मायया,
सम्प्राप्तं च विभिन्न रूपमखिलं यत्रैव विश्वम्भरे, ।
सिद्धा.यं विमृशन्ति ज्ञान पदवि बहवः स्वरूपं गताः,
यज्ञानां फलदं तमेव रमणं श्री रामदासं भजे ॥६॥

अर्चित्वा क्रतुना यमेव पुरुषं केचिद्गता देवताः,
भक्तास्तेऽप्यनिशं तपोधनरता मुक्तिञ्च याताः पराम् ।
ज्ञानिभ्योहि ददात्ययं स्वपरमं धामाख्यसामीप्यकम्,
कर्मिभ्योऽप्यय स्वर्गरूपमपरं श्री रामदासं भजे ॥७॥

विद्याद्रव्य तपः श्रुतादि मदता नाराधितं योग्यताः
देवं सर्वजगत्पतिं गुणनिधिं नामावतारं प्रभुं ।
यन्नामस्मरणं सतां सुमधुरं दुःखौघ मृत्युं परं,
विज्ञाने नमितं तमेव परमं श्री रामदासं भजे ॥८॥

⊛ ⊛

सर्वदासस्य दासोऽहं सर्वकाले विशेषतः ।
अन्यं च नैव जानामि सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥१॥
इदं स्तोत्रं महत्पुण्यं श्रवणे सुखदं नृणाम् ।
त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नित्यं तस्य श्रेयो न संशयः ॥२॥

–दिल्ली निवासि तेजरामाख्या रामस्नेहिना विरचितम् ।

" स्मरण-महत्व "

हठ योग कहा सांख्य, नित्त नवधा पुनि कर है।
नाना धर्म अनेक, एक बिन काज न सर है॥
अनंता मत्त मतंत्र, धरण घट पाखण्ड सारा।
परा भक्ति मिल मुक्ति, एक सुमिरण तत सारा॥
श्रुति वचन भगवत कहत, राम मन्त्र जीवन सदा।
मम प्रसाद तारण तरण, एक बिना मुक्ति न कदा॥

—श्री दयालु वाक्यम्।

प्राक्कथन

मैंने "श्री मदाद्य रामस्नेहि सम्प्रदाय" नामक इस लघु पुस्तिका में लोक-विश्रुत श्री सिंहथल-खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय का अति संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय एवं उसके स्वरूप तथा दर्शन और साधना पद्धति का स्पष्ट प्रतिपादन करने का प्रयास किया है। बचपन से संत महात्माओं के सत्संग ने जहाँ एक ओर सम्प्रदाय के परम्परागत स्वरूप को सहज ही समझ लेने मे सहायता प्रदान की है, वहाँ पूज्य श्री गुरुदेव श्री रामगोपालजी महाराज (बूड़ीवाड़ा-असाडा, जिला-बाड़मेर) के सतत सान्निध्य एवं पूज्यपाद श्री हरिदासजी शास्त्री, दर्शनायुर्वेदाचार्य; काव्यतीर्थ (भूतपूर्व आचार्य खेड़ापा) और सम्प्रदाय के सम्प्रति विद्वान् और कवि दिवगत पण्डित श्री उत्साहरामजी म० प्राणाचार्य (जोधपुर) के सम्पर्क-महाप्रसाद के द्वारा सम्प्रदाय का दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक रूप हृदयंगम कर लेना सहज हो गया। विद्यार्थी जीवन, विशेष कर विश्वविद्यालय के साहित्यिक एवं शोध प्रधान तार्किक परिवेश के संस्कारवश बुद्धि ने सहज कौतूहल एवं अन्वेषण का मार्ग अपनाया। फलतः 'वाणी' साहित्य का विशद अनुशीलन करने के पश्चात् एक तटस्थ द्रष्टा के रूप मे सम्प्रदाय के ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक पक्ष का प्रस्तुत विश्लेषण सम्भव बन पाया है। परिणामतः प्रचलित विश्वास एवं विचारो के विपरीत मत का भी स्पष्टता से विवेचन कर दिया गया है। आशा है, संतगण एवं विद्वान् समाज उसे किसी प्रकार का मेरा पूर्वाग्रह न समझते हुए स्वीकार कर अपनी सत्यप्रियता एवं तथ्य ग्राहता का परिचय देंगे।

ऐसा समझा जाता है कि सम्प्रदाय के प्रवर्तकाचार्यों को किसी मत विशेष अथवा सम्प्रदाय का प्रचलन करने का लोभ नहीं था यथाः-

"हरिया तत्ता रत्ता का, मत का रत्ता नाहिं ।
मत का रत्ता जो फिरे, तहँ तत पाया नाहिं ॥"

सत्य ही उन महापुरुषों का पूर्व प्रचलित मत विशेष अथवा सम्प्रदाय के प्रति लगाव नहीं था, न ही वे दार्शनिक सिद्धान्त विशेष के प्रति पूर्वाग्रही थे। सार को कहीं से भी ग्रहण कर बाह्याडम्बरों की कटु आलोचना कर देने में भी उन्हें कोई हिचक न थी। वे सच्ची सत प्रवृत्ति के पुरुष थे।

"साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय ।
सार सार को गहिलेय, थोथा देय उड़ाय ।"

परिणामस्वरूप उन्हें किसी मत अथवा सम्प्रदाय विशेष के बंधन में बद्ध होना स्वीकार्य नहीं होते हुए भी स्वानुभूति एवं सहज अन्वेषण बुद्धि से जिस 'तत्व' को स्वयं ने उपलब्ध किया उसे लोक-कल्याणार्थ प्रसारित करना भी अभीष्ट था। अतः अपने इष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु वे सतत प्रयत्नशील जान पड़ते हैं। फलतः अनिच्छुक होते हुए भी नवीन सम्प्रदाय का गठन एवं प्रचार सुविचारित ढंग से किया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

आध्यात्मिक साधना एवं लोक प्रचलित पूजापाठ पर पण्डे और पुजारियों का जैसा एकाधिपत्य था, उसे चुनौति देते हुए धर्म एव अध्यात्म को सर्वजनसाधन सुलभ बनाने हेतु धर्म को केवल पूजापाठ-षोडषोपचार के बजाय आत्मसाधनापरक बनाया एवं ईश्वर की निर्गुण सत्ता का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म का निर्गुण-सगुण स्वरूप निर्धारित किया, जो उनकी समन्वयात्मक एवं तत्वग्राह्यता का परिचायक है।

ज्ञान एवं कर्म की एकात्मकता, योग का भक्ति के साथ विलय और सगुण निर्गुण में समन्वय स्थापित करते हुए समस्त बाह्याडम्बरों से सर्वथा मुक्त रहना, सच्चे धार्मिक पुनर्जागरण का प्रतीक है। इन महात्माओं की ऐसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति व तत्व ग्राह्यता को देखते हुए ऐसा लगता है कि इस सम्बन्ध मे इनका मत ठीक वैसा ही है, जैसा कि वेदान्त के प्रति स्वामी विवेकानन्द का विशेषाग्रह होते हुए भी सनातन धर्म के सर्व सम्प्रदाय एव मतों को वे हिन्दुओं की विशिष्टता के लिये आवश्यक और स्वीकार्य मानते हैं। आगे चल कर बीसवी शताब्दी में योगीराज अरविन्द ने आधुनिक भारत के लिये जिस योग समन्वय की चर्चा की है, इस सम्प्रदाय के महात्मा आज से दो ढाई शताब्दी पूर्व ही इसका मार्ग प्रशस्त कर चुके थे। इससे स्पष्ट होता है कि ये महात्मा सनातन धर्म की समस्त खूबियों को किस प्रकार आत्मसात करके उसे समन्वित रूप से एक अभिनव अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए धर्म व अध्यात्म के विशुद्ध तथा कल्याणकारी स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये यत्नशील थे।

अन्त में, मैं यह भी निवेदन करना चाहूँगा कि राजस्थान मे एक ही समय में लगभग समकालीन महात्माओं ने धार्मिक पुनर्जागरण में अपना अपना योगदान करते हुए सनातन धम की समस्त खूबियों को समझते हुए उनका समन्वयात्मक स्वरूप जनसमाज के सम्मुख प्रस्तुत कर लोक कल्याण सम्पन्न किया। कालान्तर में 'रामस्नेही' नाम से तीन सम्प्रदाय—(१) सिंहथल-खेड़ापा (२) रेण एवं (३) शाहपुरा बन गये। कालक्रम के ऐतिहासिक विवेचन से श्री सिंहथल-खेड़ापा को ही 'श्री मदाद्य रामस्नेही' कहना उपयुक्त जान पड़ता है। अन्य दो परवर्ती सम्प्रदायों के प्रवर्तक महात्मा भी श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय के मूल मंत्रदाता एवं प्रवर्तक प्रथम आचार्य श्री जयमलदासजी महाराज के समकालीन थे। इन तीनों सम्प्रदायों के उद्भव की अपनी अपनी स्वतंत्र प्रेरणा एवं पृथक् पृथक् इतिहास

है। सत्य तथ्य और उस परम सत्ता का एक ही समय में एक से अधिक महात्माओं के हृदयाकाश में उद्भासित होना सम्भव है। तीनों सम्प्रदायों का एक ही 'रामस्नेही' नाम एवं उनकी साधना पद्धति का एक-सा स्वरूप निश्चित करने के पीछे कोई अनुकरण प्रवृत्ति का हाथ न हो कर भारतीय समाज और सनातन धर्म का वह एक जैसा सामाजिक परिवेश तथा धार्मिक पृष्ठभूमि और तज्जन्य संस्कार है, जो इन महापुरुषों को अपनी अपनी विरासत में मिले। अतः तीनों सम्प्रदाय समादरणीय है।

राज्य, समाज एवं धर्म जैसे मूलभूत मानवीय संस्थानों का वर्तमान स्वरूप निर्धारित होने के पूर्व उन्हें विकास के कई सोपान पार करने पड़े हैं। अतएव ये मानव द्वारा समय विशेष में निर्मित नहीं किये गये अपितु विकसित हुए हैं। किसी विचार अथवा चिन्तनधारा का मूर्त रूप एक दीर्घकालीन मन्द विकास प्रक्रिया का फल होता है। रामस्नेही मत एव साधना पद्धति भी इस विकासक्रम का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। इसलिये सिंहथल-खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्य त्रयी में से श्री जयमलदासजी महाराज इस सम्प्रदाय के मूल मंत्र प्रदाता आचार्य; श्री हरिरामदासजी महाराज मंत्र प्रतिष्ठापक (निर्गुण निराकार 'राम,' मंत्र की योगविधि सहित साधना को सुप्रतिष्ठित करनेवाले) आचार्य; एवं श्री रामदासजी महाराज मत प्रचार-प्रसारक और सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य है। किसी सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य के जन्म सम्वत् अथवा दीक्षा सम्वत् को उस सम्प्रदाय के प्रवर्तन का सम्वत् कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इन महात्माओं को अपनी गुरु परम्परा से प्राप्त सगुण सीता-राम की भक्ति में परिवर्तन कर निर्गुण निराकार परब्रह्म 'राम' मंत्र की योगविधि सहित साधना को अपनाने में सुदीर्घ समयावधि व्यतीत करना पड़ा है। अतः इससे भी पश्चात् काल में

इस साधना पद्धति और मत के प्रचार-प्रसार की ओर उनका
होना सिद्ध होता है।

श्री रामचरणजी महाराज (शाहपुरा) विक्रम सम्वत् १८१६
में निर्गुण 'राम' भक्ति की ओर प्रवृत्त हुए।[1] श्री दरियाव सा
ने वि० सं० १७६६ में अपने गुरु श्री प्रेमदासजी से जो गुरु दीक्षा प्राप्त
वह सगुण मत की थी अथवा निर्गुण 'राम' मत्र की यह निश्चि
नहीं है।[2] जबकि यह सुनिश्चित है कि श्री जयमलदासजी महाराज
वि० सं० १७६० में सगुण उपासना का परित्याग कर निर्गुण-निराकार
परब्रह्म 'राम' की उपासना; योगविधि सहित 'राम' नाम के स्मरण
पूर्वक करने को प्रवृत्त हो गये थे।[3] उन्होंने इस मत की दीक्षा श्री
हरिरामदासजी महाराज को प्रदान की और श्री हरिरामदासजी
महाराज ने जिन सात शिष्यों को दीक्षित किया उनमें श्री रामदासजी
महाराज के द्वारा ही उनके मत एवं साधना पद्धति का विशेष प्रचार-
प्रसार हुआ। अतएव श्री जयमलदासजी महाराज की परम्परा वाला
श्री सिंहथल खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय का श्री रैण एवं श्री शाहपुरा
रामस्नेही सम्प्रदायों से पूर्व का होना सिद्ध होता है।

श्री जयमलदासजी महाराज प्रारम्भ में सगुणोपासक रामानन्दी
[illegible]ासियों के महंत थे, अतएव रोड़ा एवं डूलचासर की मूल गद्दियों पर
[illegible]मान पर्यन्त वैरागी परम्परा के महंत होते आये हैं। अतएव वे
[illegible]यें रामस्नेही सम्प्रदायान्तर्गत नहीं मानी जाती। श्री जयमलदासजी
[illegible]राज के निर्गुण मत में दीक्षित एक मात्र योग्य शिष्य श्री हरिराम-
[illegible]दी महाराज की साधना एवं उपदेशस्थली बीकानेर के निकट
[illegible]ल गांव है; अतएव उनका स्मारक सिंहथल में स्थापित हुआ,
[illegible]वरों ने उनके स्मारक पीठ की परम्परा प्रचलित हुई। परन्तु उन्होंने

---

[1] [illegible]ह्मणुराण पृ० १६६
[2] [illegible]वही पृ० १७०-१७१
[3] [illegible]वही पृ० १११; ११९, १०२;

अपने समर्थ शिष्य श्री रामदासजी महाराज को सम्प्रदाय के आचार्य का पीठस्थान खेड़ापा में स्थापित कर वहीं से सम्प्रदाय का प्रवर्तन एवं प्रचार-प्रसार करने की उन्हें आज्ञा प्रदान की थी। इस प्रकार सम्प्रदाय का स्मारक पीठ सिंहस्थल में एवं सम्प्रदायाचार्य का पीठस्थान खेड़ापा में स्थापित हुआ[४]।

इस पुस्तक के लिखने का उद्देश्य रामस्नेही सम्प्रदाय की साधना पद्धति का स्वरूप निरूपण कर सम्प्रदाय के इतिहासक्रम का प्रतिपादन करना है; जिससे कि साधना का वास्तविक स्वरूप एवं इतिहास की प्रामाणिकता को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सके। इस सम्प्रदाय की साधना एवं मत के सम्बन्ध में बहुत कम लिखा गया है। यद्यपि प्रवर्तकाचार्यों एवं महात्माओं के महान् व्यक्तित्व और उनकी आध्यात्मिक देन से लोक समाज खूब परिचित है; परन्तु धर्म के लोक-कल्याणकारी आध्यात्मिक पक्ष को इन आचार्यों ने जो प्रकाश प्रदान किया और विभिन्न मत-मतान्तरों में समन्वय स्थापित करते हुए उनके द्वारा जिस मध्यम मार्ग का अनुसरण कर उपनिषद् प्रतिपादित उपासना, अध्यात्म विद्या एवं एकेश्वर-वाद का प्रचार-प्रसार किया गया, उससे बहुत ही कम लोग परिचित हैं। अतः प्रस्तुत पुस्तक में इन तथ्यों पर संक्षेपतः प्रकाश डालना अभिप्रेत रहा है। यदि मैं अपने इस प्रयास में थोड़ा-सा भी सफल हुआ होऊँ तो उसका श्रेय परम श्रद्धेय, गुरुवर्य श्री श्री १०८ स्वर्गीय श्री रामगोपालजी महाराज को है, जिनका इस पुस्तक के लेखन कार्य में सतत मार्ग निर्देशन प्राप्त होता रहा एवं उन्होंने पाण्डुलिपि का अवलोकन कर उचित परिशोधन एवं परिष्कार कर पुस्तक को वर्तमान रूप देने की अनुकम्पा की है। तदोपरान्त भी अपनी अल्पज्ञता और असावधानी के कारण मानव सुलभ त्रुटियें रहना स्वाभाविक है, जिसके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

---

४ वही—[illegible]

प्राक्कथन की उपर्युक्त पंक्तियों सहित पुस्तक का मू [

कलेवर जून १९७६ मे लिख लिया गया था, परन्तु मुझे अत्यन्त हार्दि

वेदना है कि मैं पुस्तक के प्रेरणा स्रोत परम पूज्य श्री रामगोपालज

महाराज के जीवन काल मे इसे प्रकाशित नहीं करवा सका। अब भी

प्रकाशन विलम्ब से होता अथवा कभी होता भी नहीं, परन्तु मैं अपने

अग्रज श्री दयारामजी के ज्येष्ठ पुत्र अपने भतीज श्री जयमालराम बी०

ए० का यह बालहठपूर्वक आग्रहभरा परामर्श टाल नहीं सका कि पूज्य

गुरुदेव श्री की जीवन भर की यह साध अविलम्ब ही उनकी षण्मासीय

निर्वाण तिथि को आयोजित 'निर्वाण स्मृति महोत्सव' के अवसर पर

प्रकाशित कर दिया जाना चाहिए। इस समय गुरुदेव की यह वाणी

'के तो तूं थारी आ किताब छपवा दे के म्हारे अठासूं ले जा अर

'घर कठेई रख दे' मेरे मन-मस्तिष्क में गूंज रही थी, जो उन्होंने

अपने निर्वाण से मात्र एक-सवा माह पूर्व मुझ से कहा था।

यद्यपि मैंने पुस्तक को पूर्ण मान लिया था, परन्तु निर्देशक

पूज्यगुरुदेव इसे संक्षिप्त, एवं अपूर्ण मान रहे थे किन्तु विस्तार एवं

तुलना के लिये जिस स्वाध्याय और बहुज्ञता की आवश्यकता है,

उसकी स्वयं मे कमी अनुभव कर मै मौन था। फिर भी पारस्परिक

विचार विमर्श के दौरान जो विचार बिन्दु उभरे उनको प्रकाशन के

समय अध्याय चार से छः के प्रारम्भ मे समाविष्ट कर पुस्तक को

स्वरूप परिवर्धित किया गया है। वाणी साहित्य के अन्तः साक्ष्य एवं

सम्प्रदाय की परम्परा के परिचय के आधार पर ग्यारहवें अध्याय के

उत्तरार्द्ध मे भी संशोधन कर तथ्य को अधिक स्पष्ट कर दिया गया

। यद्यपि संशोधन मे कई पुनरुक्तियाँ आ गई है। परन्तु मै ऐसा ही अनुभव

करता हूँ; अतः लिखने के लिये बाध्य हूँ। साथ ही सम्प्रदाय के विद्वानो

से क्षमाप्रार्थी भी।

पुस्तक मे रह गई त्रुटियें एवं इतिहासदोष की पुनरुक्तियो के

अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे मेरा अपना कुछ भी नहीं है। ग्रन्थ की जो भी

खूबियां हैं, अथवा गुण हैं, वे सब गुरु महाराज का प्रसाद, संत-महा
त्माओं की कृपा एवं ईश्वरानुकम्पा का फल है। अतः उनका श्रे
भी उन्हीं को है। त्रुटियें एवं दोष मुझ अल्पज्ञ के हैं। मेरी अज्ञता के
नमूने स्थल-स्थल पर विज्ञजनों को मिलेंगे, जिन्हें स्वयं सुधार कर
समझने की संत-महात्मा एवं विद्वानगण कृपा करें और मुझे अपनी
अज्ञता, एवं त्रुटियों तथा दोषों के लिये क्षमा करें।

विनीत
प्रहलादराम पटेल
M A.; B.Ed.

॥ श्री रामदयालुं वन्दे ॥

प्रस्तुत - प्रकाशन

चिरप्रतीक्षित "श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय" नामक
स्तुत पुस्तक के माध्यम से सम्प्रदाय के इतिहास एवं उसकी साधना
द्धति का समीक्षात्मक अध्ययन पाठकों के सम्मुख रखते हुए हमें परम
र्ष का अनुभव हो रहा है। हमारे परमाराध्य गुरुदेव स्वर्गीय श्री श्री
अनन्त श्री रामगोपालजी महाराज की सद्प्रेरणा एवं सतत निर्देशन
में पुस्तक का लेखन कार्य जून १९७६ में ही सम्पन्न हो गया था।
जिसका अवलोकन कर उन्होंने अपना आशीर्वादात्मक निबन्ध 'धर्म-
समीक्षा' भी लिखकर पुस्तक के साथ प्रकाशनार्थ दे दिया था परन्तु
कई कारणों से प्रकाशन में विलम्ब होता गया और प्रकाशन का कार्य
प्रारम्भ होने के पूर्व ही वे अपने पंच भौतिक कलेवर का परित्याग कर
परम ज्योति में लीन हो गये। आज उनका स्मरण कर हमारा मन
विरह-वेदना से व्याकुल हो कर शोक-सागर में डूब जाता है। हमें
रम खेद है कि हम उनकी विद्यमानता में पुस्तक का प्रकाशन नहीं
रवा पाए। यदि उनका प्रकाशन कार्य में भी निर्देशन रहा होता तो
पुस्तक का स्वरूप कुछ विशेष मुखरित होता।

राजस्थान प्रदेशान्तर्गत प्रादुर्भूत तीन रामस्नेही सम्प्रदायों
सिंहस्थल-खेड़ापा २. रैण एवं ३. शाहपुरा में से प्रस्तुत ग्रन्थ में श्री
थल-खेडापा रामस्नेहि सम्प्रदाय के इतिहास एव साधना पद्धति का
क, तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। यह लेखक
, अन्वेषण प्रवृत्ति एवं सतत साहित्य साधना का प्रतीक है।

यद्यपि इससे पूर्व भी सम्प्रदाय के धार्मिक विचारों, साधना पद्धति, धर्म, दर्शन एवं इतिहास तथा आचार्यों की जीवनियों के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है, यहाँ तक कि शोध उपाधि के लिये शोध प्रबन्ध लिखे गये एवं विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत भी हुए हैं, उनमें से कुछेक प्रकाशित भी किये गये हैं, परन्तु यह कृति उन सबसे भिन्न एवं पूर्णरूपेण मौलिक होने से अपना विशिष्ट महत्व रखती है। पुस्तक निर्देशक का लेख 'धर्म-समीक्षा' से लेकर भारतीय धर्म तथा दर्शन का इतिवृत्त एवं सम्प्रदाय तथा साम्प्रदायिकता का विभेद, योग समन्वय, भक्ति के नवाङ्गों का परम्परागत भावबोध से भिन्न तात्विक विवेचन और संतमत की साधनापद्धति का स्वरूप निर्धारण आदि के सम्बन्ध में लेखक के विचार न केवल चिन्तन-मनन करने योग्य है, अपितु धर्म एवं धार्मिकता के सम्बन्ध में फैले अनेक अन्धविश्वासों और रूढ़िगत मान्यताओं को ध्वस्त कर हमें वास्तविक दिशाबोध भी कराते हैं।

जहाँ तक इतिहास खण्ड का प्रश्न है, लेखक ने प्रथम बार एक प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। परम्परा से सिंहथल की वर्तमान परम्परा को श्री हरिरामदासजी म० सिंहथल द्वारा प्रवर्तित मत व सम्प्रदाय के मूल उत्तराधिकारी समझा जाता था, परन्तु इस पुस्तक में लेखक ने श्री रामदासजी महाराज (खेड़ापा) को श्री हरिरामदासजी म० द्वारा प्रवर्तित मत तथा सम्प्रदायका मूल उत्तराधिकारी सिद्ध किया है और सिंहथल की वर्तमान परम्परा को श्री हरिरामदासजी म० के पोते एवं प्रशिष्य श्री हरिदेवदासजी म० द्वारा सिंहथल में हो स्थापित गद्दी की परम्परा स्वीकारा है। पुस्तक में युक्ति युक्त अन्तः साक्ष्यों के परिपेक्ष्य में यह दर्शाया गया है कि श्री हरिरामदासजी महाराज (सिंहथल) ने अपने अन्तरंग शिष्य श्री नारायणदासजी म० एव अपने उक्त प्रशिष्य श्री हरिदेवदासजी म० को स्वयं की मूल गद्दी का (सम्प्रदाय) उत्तराधिकारी बनने का निषेध

किया था-तदनुसार वे श्री हरिरामदासजी म० की मूल गद्दी (सम्प्रदा
के उत्तराधिकारी नहीं बने। अतः उनके ब्रह्मलीन हो जाने के पश्च
सिंहथल की मूल गद्दी (सम्प्रदाय) खेड़ापा में स्थानान्तरित हो ग
ता समझा जाना चाहिये क्योंकि स्वयं श्री हरिरामदासजी म०
ापा में आचार्य पीठ स्थापित करने का निर्देश दिया था और
नुसार इनके उत्तराधिकारी श्री रामदासजी म० खेड़ापा मे ही
ार्य पद पर गद्दीसीन हुए। परन्तु मूल स्थान सिंहथल में भी श्री
देवदासजी म० ने एक गद्दी स्थापित की और उन्होंने वहाँ पर श्री
ामदासजी म० का स्मृति चिह्न- स्मारक स्थापित किया। उस
क का संरक्षण आजदिन पर्यन्त श्री हरिदेवदासजी म० के
ाधिकारियों द्वारा होता आया है। अतः इस गद्दी के उत्तराधिकारी
आपको श्री हरिरामदासजी म० के मूल उत्तराधिकारी तथा
को एक पृथक् सम्प्रदाय बताया करते हैं। वास्तविकता क्या है?
पुस्तक पढ़ने से पाठकों के समक्ष स्वतः सुस्पष्ट हो जाती है।

पुस्तक में व्यापक रूप से संकलित तथ्य यह सिद्ध करने के
प्ति है कि श्री रामदासजी म० (खेड़ापा) श्री हरिरामदाजी म०
(सिंहथल) के मत एवं सम्प्रदाय के एक मात्र उत्तराधिकारी थे।
श्री हरिदेवदासजी म० द्वारा सिंहथल में श्री हरिरामदासजी म० का
स्मारक निर्माण करने एवं वहाँ पर अपनी गद्दी स्थापित करने मात्र
से उन्हें श्री हरिरामदासजी म० का उत्तराधिकारी और उनके द्वारा
स्थापित गद्दीधरों को श्री हरिरामदास जी म० के मत एव सम्प्रदाय
की मूल परम्परा स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्री हरिदेवदासजी
म० तो मात्र श्री हरिरामदाजी म० की वंश परम्परागत सम्पत्ति के
उत्तराधिकारी थे, न कि उनके मत एवं सम्प्रदाय के। अतएव स्मारक
पीठ सिंहथल की वर्तमान आचार्य परम्परा को भी श्री हरिरामदासजी
महाराज के मत एवं सम्प्रदाय की मूल परम्परा कदापि स्वीकार नहीं
किया जा सकता।

सिंहथल स्मारक पीठ की परम्परा के भूतपूर्व आचार्य श्री भगवद्दास जी महाराज ने प्रस्तुत पुस्तक के आवरण पृष्ठ (मुद्रणाधीन अवलोकनार्थ प्रति) पर टिप्पणी देते हुए लिखा है :—"आपको तो सदा ही कृतज्ञ बनना चाहिए क्योंकि प्रभु सर्व समर्थ होने पर भी श्रेय भक्त को ही देते हैं, जैसे दुर्वासा के समय अम्बरीष को ? तो क्या प्रभु अपनी सत्ता भूल गये।" अर्थात् श्री हरिरामदास जी म० (सिंहथल) ने कृपापूर्वक अपनी सम्पूर्ण सत्ता श्री रामदास जी म० (खेड़ापा) को सम्प्रदान कर सारा श्रेय एक मात्र उन्हें ही प्रदान किया। हाँ, इससे प्रभु (श्री हरिरामदास जी म०) अपनी सत्ता को भूल तो नहीं गये, परन्तु उन्होंने समझ-बूझ कर अपनी सत्ता को भक्त (श्री रामदास जी म०) को हस्तान्तरित अवश्य कर दिया। उपर्युक्त कथन द्वारा श्री भगवद्दास जी म० भी यह स्वीकार करते हैं और यही तथ्य लेखक ने पुस्तक में कहना चाहा है।

लेखक की शैली शोध प्रधान एवं गवेषणात्मक होने से निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व अन्तः साक्ष्यों का विश्लेषण विवेचन किया गया है। अतएव सम्भव है, इतिहास खण्ड में कुछेक स्थलों पर पाठक को अस्पष्टता का अनुभव हो, परन्तु अवधानतापूर्वक पढ़ने पर एक स्थल की शंकाओं का समाधान अन्यत्र अवश्य हो जाता है। लेखक ने व्यापक रूप से तथ्य प्रस्तुत कर पाठक को स्वयं निष्कर्ष निकालने को उत्प्रेरित किया है, परन्तु साधारण शिक्षित एवं पूर्वाग्रही पाठक निष्पक्ष निष्कर्ष पर पहुँचने में सम्भवतः अपने को असमर्थ पा सकता है। फलतः वह लेखक की मूल प्रस्थापना को समझ ही न पावें। अतः इतिहास खण्ड में लेखक का जो मूल कथ्य और उसका भाव है; उसे मैंने उपर्युक्त पंक्तियों में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आशा है, इससे पाठक को स्वयं निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता मिलेगी और वह लेखक के कथन को हृदयंगम कर सकेगा।

निवेदक

श्री गुरुदेव-चरण चाकरी   जयमालाराम पटेल B.A.

श्रावण सुदी १०, वि० सं० २०३७, २१ अगस्त १९८०, अगाड़ा

सेवा, स्वाध्याय, संयम एवं साधना के धनी

श्रीश्री १०८ श्री रामगोपालजी महाराज (७)

रामद्वारा-बूड़ीवाड़ा मसाडा (बाड़मेर)

जन्म	दीक्षा	निर्वाण
वि.स. १९७८	वि.स. १९८५	वि.स. २०३६
		श्रावण शुक्ल १० शुक्रवार

॥ श्री रामः ॥

समर्पण

उन साधना, स्वाध्याय, सेवा एवं संयम के धनी परमपूज्य, प्रातः स्मरणीय, परम श्रद्धेय, गुरुवर्य श्री श्री १०८ श्री रामगोपालजी महाराज को;

जिनके पावन पार्श्व में बैठ कर शिक्षा, स्वाध्याय एवं सृजन का परम सौभाग्य सुलभ हुआ।

हे महामहिम मनीषी! हे कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के समुच्चयरूप परमयोगी!! हे तपस्वी, परमदयालु गुरुदेव!!! मैं आपकी आशा-आकांक्षा के अनुरूप तो क्या बन पाया हूँ! परन्तु जो हूँ और जितना हूँ, वह और उतना आपके ही अनवरत श्रम का फल हूँ। अतएव प्रस्तुत पुस्तक भी जो है एवं जैसी यह है, वह एवं वैसी आप ही की है एवं आप को ही समर्पित करता हूँ।

गणतंत्र दिवस; १९८०
मसादा।

आपका अन्तेवासी शिष्य
'प्रह्लाद'

आभार-ज्ञापन

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन व्यय के लिये निम्नलिखित प्रकार से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है:—

७५१) रु० परमपूज्य आचार्य श्री १०८ श्री पुरुषोत्तमदासजी महाराज शास्त्री रामस्नेही सम्प्रदायचार्य, प्रधान पीठ खेड़ापा (जोधपुर) ने आचार्यों के तिरंगे फोटो उपलब्ध करवा कर प्रदान किये ।

४१५१) रु० अग्रज श्री दयाराम आत्मज श्री चतुरारामजी, असाडा (बाड़मेर)

३७५१) रु० पटेल श्री गोकलराम हुवताजो, सायला (जालोर)

३७५१) रु० पटेल श्री लालाराम हुवताजी, सायला (जालोर)

३१५१) रु० माता सुश्री तुलसी धर्मपत्नी श्री चतुराराम जी असाडा (बाड़मेर)

१५५५५) कुल रुपये मात्र ।

'श्री मदाद्य रामस्नेहि सम्प्रदाय' के इतिहास और साधना पद्धति का समीक्षात्मक अध्ययन पाठकों के सम्मक्ष प्रस्तुत करने के लिये मुझे आर्थिक सहयोग और नैतिक प्रोत्साहन देने वाले इन सभी महानुभावों के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ । ये सब धन्यवादार्ह हैं । मैं इन के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

बड़ा रामद्वारा, मोती चौक, जोधपुर के उदारमना वर्तमान महंत माननीय श्री श्री १०८ श्री शिवरामदासजी महाराज का मैं किन

शब्दों में आभार व्यक्त करूं जिन्होंने पुस्तक को प्रकाशित करने के लिये सर्वप्रथम 'शुभस्य शीघ्रम्' का सत्परामर्श दिया और प्रकाशन कार्य में सतत नानाविध सहयोग एवं प्रोत्साहन देते हुए मुझे कृतकार्य बनाया। उन सब विद्वानों का, विशेषकर जोधपुर विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग के प्रोफेसर डा० श्री रामप्रसादजी दाधीच साहब का मैं हार्दिक रूप से कृतज्ञ हूं, जिन्होंने अपनी सम्मति एवं अमूल्य सुझाव प्रदान कर मार्ग दर्शन करते हुए मेरा उत्साह वर्धन किया और पुस्तक के मान को बढाया। मैं 'श्री मदाद्य रामस्नेहि साहित्य शोध प्रतिष्ठान, प्रधान पीठ खेडापा के पदाधिकारियों; विशेषकर सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्य श्री श्री १००८ श्री पुरुषोत्तमदासजी महाराज शास्त्री का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने प्रकाशन कार्य में मेरा पथ-प्रदर्शन कर मुझे अनुगृहीत किया। पुस्तक निदेशक परमपूज्य गुरुदेव श्री श्री १००८ श्री रामगोपाल जी महाराज के उत्तराधिकारी, रामद्वारा अमाडा एवं बूडीवाड़ा के वर्तमान महंत श्री श्री १०८ श्री जुगतिरामजी महाराज के प्रति भी मैं आभार व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने पुस्तक के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय स्वयं वहन करने का प्रस्ताव किया था, परन्तु अन्य स्रोतों से आर्थिक सहयोग मिल जाने से मुझे इस प्रस्ताव को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं हुई।

यह उल्लेखनीय है कि पुस्तक निर्देशक ने अपना कभी कोई फोटो नहीं खिचवाया था। एक समारोह के अवसर पर चलते हुए जुलूस के फोटो में उनका चित्र मिला। मैं अपने सहपाठी एवं सुहृद; विधिशास्त्री एवं विधायक श्री अमरारामजी चौधरी, पारलू (बाड़मेर) को धन्यवाद अर्पित करना चाहूँगा, जिन्होंने निजी एलबम से यह फोटो उपलब्ध करवाया। धन्यवादार्ह तो अग्रजसुत भतीज जयमालराम भी है; जिसके बालहट्ठ ने मुझे इस पुस्तक का प्रकाशन करने को बाध्य किया।

अन्त में; पुस्तक को आकर्षक एवं सुन्दर बनाने के लिये काम करने वाले समस्त कलाकारों और प्रेस कर्मचारियों को साधुवाद सम्प्रदान करते हुए राठी प्रिण्टर्स, पुंगलपाड़ा, जोधपुर के प्रबन्धक श्रीबसंतजी राठी के प्रति आभार ज्ञापित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने मुद्रण कार्य को उत्तम एवं सज्जा को सर्व प्रकारेण सुन्दर और आकर्षक बनाने का प्रयास किया है :

विनीत

प्रह्लादराम पटेल,
एम. ए. बी एड.

❀ शुभाशीर्वाद ❀

(पुस्तक-निर्देशक परमपूज्य गुरुदेव स्वर्गीय अनन्त श्री रामगोपालजी महाराज प्रसादा)

❀

धर्म-समीक्षा

(१)

मानव को सभ्यता, संस्कृति एवं मानवत्व का पाठ पढ़ानेवाली प्रागैतिहासिक संस्था 'धर्म' नाम से पहिचानी जाती है। 'धर्म' जहाँ एक ओर 'तत्व बोध' है, वहाँ दूसरी ओर यह एक संस्थागत संस्था भी है। युगों-युगों से यह धर्म मानव समाज को 'तत्व बोध' के रूप में एकता के सूत्र में पिरोता आया है, परन्तु एक संस्थागत संस्था के रूप में उसने मानव समुदाय में अभेद के साथ साथ विभेदों का भी सृजन किया है। ये विभेद ही सम्प्रति समाज में जाति, सम्प्रदाय एवं साम्प्रदायिकता के नाम से जाने जाते हैं।

आदि काल में सर्वप्रथम मनुष्य रक्त सम्बन्धों के कारण परस्पर एक स्वाभाविक प्रेरणा से संगठित हुआ। परन्तु शनैः शनैः जनसंख्या के विस्तार के साथ उनमें सहयोग एवं सहकार का भाव लुप्त होने लगा और उसका स्थान पृथकतावादी स्वार्थ ने ग्रहण कर लिया। रक्त सम्बन्धों की संश्लिष्टता दूरस्थ सम्बन्धों में परिवर्तित होने लगी। अतः मात्र रक्त सम्बन्ध उन्हें एकता व संगठन के सूत्र में बाँधे रखने में असमर्थ सिद्ध होने लगा। उस समय एक ऐसी सत्ता की परिकल्पना की गई, जिसने उन्हें संगठित हो कर रहने और सहयोग-सहकार से जीवन व्यतीत करने को प्रेरित किया, वह शक्ति एवं वह दिव्य 'सत्ता' 'धर्म' नाम से प्रसिद्ध हुई। अतएव जो विश्व को धारण करे, वह धर्म है,' ऐसी उस सत्ता की (धर्म) परिभाषा की गई :-

धरति विश्वं यः स धर्मः ।

महाभारत के कर्णपर्व (६९/५८) में कहा गया है कि 'सृष्टि को धारण करने से धर्म कहा जाता है। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण के साथ रहे, वह धर्म है, यह निश्चय है।'

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तं धर्म इति निश्चयः ॥

मानव समुदाय को विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में एवं भिन्न-भिन्न समय में इस धर्मसत्ताने विभिन्न रूपों में अभिभूत किया है। कहीं पर यह दृश्य प्रकृति और अदृश्य पुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है, कहीं पर श्रेष्ठ एवं सत्तावान् पुरुष विशेष को उसका प्रतीक मान लिया गया। जहां धर्मसत्ता का स्रोत व्यक्त प्रकृति और अव्यक्त पुरुष को स्वीकार किया गया वहां उसका स्तवन सामूहिक स्तुति-प्रार्थनाओं के माध्यम से होने लगा। चूंकि दिग्दिगन्त में परिव्याप्त दृश्य प्रकृति अथवा उससे परे अदृश्य पुरुष शक्ति की अनन्तता असन्दिग्ध थी, अतएव 'धर्मसत्ता' को भी पुरुष एवं प्रकृति की ही तरह अनन्त और शाश्वत स्वीकार किया गया, जो सनातन धर्म नाम से अभिहित किया जाता है। दूसरी ओर जहां व्यक्ति विशेष को धर्म का प्रतीक माना गया, वहां उन महापुरुषों से धर्म-संस्थाएं प्रचलित हुई, जो हजरत मूसा का यहूदी धर्म, ईसा मसीह का ईसाई धर्म, मुहम्मदसाहब का इस्लाम धर्म, ज़िन्द का पारसी धर्म, महात्मा बुद्ध का बौद्ध धर्म, महावीर का जैन धर्म एवं गुरु नानक का सिख धर्म कहा जाता है।

इस प्रकार यदि हम धर्म का अध्ययन एक संस्था के रूप में करते हैं तो उसके कई रूप हैं और विभिन्न संस्थागत संगठन धर्म एवं [illegible] सम्प्रदाय के नाम से कार्य करते हैं। उनका अपना उद्गम, विकास और परवर्तिकाल का इतिहास है। हम इनके अध्ययन द्वारा धर्म के किसी वास्तविक स्वरूप की पहिचान नहीं कर सकेंगे।

'तत्व-बोध' के रूप में आध्यात्मिक अनुभूति का
है। यह मनुष्य का एक दिव्यान्तरण है, जो ज्ञान साधन
सांख्यनिष्ठा एवं योग साधना के माध्यम से प्राप्तव्य है। इस
धर्म व्यक्ति को अन्तर्मुखी ही नहीं अपितु एकांगी बनाता है
व्यक्ति को ससार से पलायन करना सीखाता है। इसी से
यह भ्रान्त धारणा बद्ध मूल हो गई है कि धर्म इस लोक के लिये
अपितु परलोक के लिये है। अतएव हमे धर्म के उस वास्तविक
की पहिचान करना है, जो मनुष्य को देव बनाने के पहले मनुष्य ब
है। ऐसे धर्म को आवश्यकता है जो परलोक को सुध
के पूर्व इहलोक को सुधारता है।

वस्तुत: एक संस्था के रूप में सृजन के स्थान पर विध्वंस
स्वीकार करना और तत्वबोध के रूप में ससार से पलायन करन
धर्म को कदापि अभिप्रेत नही रहा है। फिर भी विभिन्न धर्मों एव
सम्प्रदायो के मतावलम्बियों मे संघर्ष हुए है और इस देश में उन लोगो
की संख्या कम नही है जो इस लोक को समुन्नत बनाए बिना ही उस
लोक (परलोक) को सुधारने के लिये चिन्तित रहते हैं। यह उनका
धर्म के सम्बन्ध में अज्ञान ही कहा जायगा, क्योंकि धर्म केवल
परलोक की वस्तु नही है। धर्म तो इहलोक एवं परलोक के उभय
पक्षों को सन्तुलित और समुन्नत बनाने वाला तत्त्व है।

यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:।

(वैशेषिक दर्शन १/२)

जिससे ऐहलौकिक अभ्युदय और परम कल्याण (मोक्ष) की प्राप्ति
हो, वह धर्म है। अतएव स्पष्ट है कि सांसारिक जीवन का भी अभ्युदय
करने और उसे समुन्नत बनाने का कार्य धर्म द्वारा सम्पादित होता है।

यहाँ हमे यह जान लेना आवश्यक है कि धर्म उभय लोको को
किस प्रकार समुन्नत करने में योगदान देता है? इसकी व्याख्या

श्रीमद्भगवद्गीता में उपलब्ध होती है। अतएव हमें यह समझ लेना भी आवश्यक है कि गीता की दृष्टि में धर्म का स्वरूप क्या है? यहाँ श्रीमद्भगवद्गीता का ही उल्लेख करने का कारण यह है कि यह ग्रन्थ उस धार्मिक संस्था का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका धर्म किसी व्यक्ति विशेष से उद्भूत न हो कर 'प्रकृति' एवं 'पुरुष' जैसे आदि, अनन्त एवं शाश्वत तत्वों से प्रेरित हुआ है। वही सनातन (शाश्वत) धर्म नाम से जाना जाता है। कालान्तर में इस सनातन धर्म ने सम्प्रदाय रूपी अनेक धार्मिक संगठन स्थापित किये, जिनके माध्यम से सनातन धर्म का सन्देश मानव कल्याणार्थ प्रसारित हुआ और अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से उत्तरवर्ती पीढ़ी को संस्कार, संस्कृति एवं संस्था के रूप में हस्तान्तरित हुआ। अतएव श्रीमद्भगवद्गीता किसी सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है, अपितु यह एक मानव धर्म-ग्रन्थ है और वह सनातन धर्मान्तर्गत समस्त सम्प्रदायों का एक सर्वमान्य धर्मग्रन्थ है।

प्रथमत: गीता में धर्म शब्द का प्रयोग कर्म योग के सन्दर्भ में हुआ है —

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्　　(२/४०)

'इस कर्म योग में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है (और) उल्टा फलरूप दोष (भी) नहीं है (बल्कि) इस कर्मयोगरूप धर्म का थोड़ा-सा भी साधन (जन्म मृत्यु रूप) महान् भय से रक्षा कर लेता है।'

द्वितीयत: ज्ञानयोग के सन्दर्भ में भी ऐसा ही कथन है। कर्म योग के प्रसंग में कर्म को ही धर्म कहा है, जबकि ज्ञान योग के विषय में 'धर्म्य' विशेषण देकर ज्ञानको धर्म से युक्त बताया

गया है। परन्तु भाव यही है कि ज्ञान ही धर्म है। अतः जो व्यक्ति ज्ञान रूप धर्म का आचरण करता है, वह कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त होता है। यथा:—

राजविद्या राजगुह्यम् पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥९।२॥

'यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओं का राजा, सब गोपनियों का राजा, अतिपवित्र; अतिउत्तम प्रत्यक्ष फलवाला धर्म युक्त साधन करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है।' और :-

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्ततेमृत्युसंसारवर्त्मनि ॥९/३॥

'हे परंतप ! इस (उपर्युक्त) धर्म में श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त हो कर मृत्युरूप संसार चक्रमे भ्रमण करते रहते हैं।'

यहाँ पर विज्ञानसहित ज्ञानको धर्म कहा गया है। गीता के बारहवें अध्याय में भक्तियोग का प्रतिपादन किया गया है। वहाँ भक्तिका स्वरूप एवं भक्त के लक्षण विशद रूप से स्पष्ट किये गये हैं। उन सबको (भक्त-लक्षणों को) धर्मरूपी अमृत की संज्ञा प्रदान की है.-

येतु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥१२/२०॥

परन्तु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण हो कर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत को निष्काम प्रेम भाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय है।'

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता ने ज्ञान, कर्म एवं सद्गुण, सदाचार तथा सद्भावरूपी भक्ति को धर्म का स्वरूप स्वीकार किया है। सम्भवतः विश्व में 'श्री गीता' ही एक मात्र ऐसा धर्म ग्रन्थ है, जो केवल

उपासना पद्धतियों को ही निर्दिष्ट नहीं करता अपितु धर्म की एक तात्विक व्याख्या भी प्रस्तुत करता है।

भक्तियोग का उद्देश्य मनुष्य में उच्चतम भावसम्वेदनाओं को विकसित करना है जिससे कि व्यक्ति मानसिक दुर्बलताओं और विकृतियों से मुक्त हो जाय। भक्तियोग की चरमपरिणति अहं के पूर्ण विसर्जन मे होती है, जहाँ समस्त कर्मों में किंचित्मात्र भी 'स्व' के लिये स्थान नहीं होता अपितु सर्वस्व 'पर' के लिये समर्पित होता है। यह स्थिति आध्यात्मिक ज्ञान दृष्टि को विकसित करके भी प्राप्त की जा सकती है, जिसका नाम ज्ञानयोग रखा गया है। ज्ञानी के लिये सर्वभूतहिते: रताः कहा गया है। अर्थात् सब भूत प्राणियों का न केवल हितचिन्तन ही करना है अपितु उनकी समुन्नति एवं कल्याण के लिये सतत कार्य में सलग्न रहना भी आवश्यक है। कर्म योगी का कर्म तो सर्वथा निष्काम होता है। जो कामना रहित है, वह परार्थ ही किया जाता है। कर्मयोगी 'स्व' के लिये नहीं अपितु 'पर' के लिये समस्त कर्म करता है। उसका कर्म सृष्टिक्रम को निर्बाध गतिशील बनाए रखने के लिये लोकसंग्रहार्थ होता है।

इस प्रकार ज्ञानयोग, कर्मयोग एव भक्तियोग के सन्दर्भ में धर्म शब्द का प्रयोग करके श्रीमद्भगवद्गीता ने यह स्पष्ट किया है कि मनुष्य द्वारा सम्पूर्ण मानव समाज के उत्थान के निमित्त, मानव सम्बन्धों को स्वस्थ और सहृदयता के धरातल पर विकसित कर परस्पर सुमधुर सम्पर्क स्थापित करने के लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे समस्त कर्म धर्ममय धर्मस्वरूप एवं साक्षात् धर्म ही हैं। इस प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति योग का साधक निश्चय ही किसी सम्प्रदाय का अनुयायी नहीं होता अपितु सच्चे धर्म का उपासक होता है। अतएव गीता मानव धर्म का उद्घोष करनेवाला विश्व में अपने ही ढंग का एकमात्र एवं निराला धर्मग्रन्थ है।

धर्म क्या है ? इसकी व्याख्या गीताकारने अन्यत्र और भी स्पष्ट की है। वहाँ गीता में धर्म शब्द का प्रयोग दो रूपों मे हुआ है। प्रथम बिना किसी उपसर्ग एव प्रत्यय के धर्म शब्द का प्रयोग अपने मूलरूप में करके धर्म को 'धर्म' ही कहा गया है। द्वितीय, इस शब्द के पूर्व 'स्व' उपसर्ग लगा कर इस शब्द को 'स्वधर्म' के रूप में प्रयुक्त किया है। अतः 'धर्म' एव 'स्वधर्म' के प्रयोग मे गीता को धर्म के दो प्रमुख रूप अभिप्रेत है।

प्रथम, धर्म शब्द का प्रयोग गीता ने ज्ञानयोग, कर्म योग एवं भक्तियोग के प्रसंग मे किया है, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना समझ लेना आवश्यक है कि ज्ञान योग का आशय गुणातीत अवस्था को प्राप्त होना है। भक्तियोग का अर्थ समस्त भक्त लक्षणों को धारण करना है एव कर्म योग का अभिप्राय मात्र परार्थ कर्म किये जाने मे है। इन तीनों अवस्थाओं का चरमोत्कर्ष ही 'स्थितप्रज्ञता' कही गई है। अतः धर्म का तात्पर्य सद्गुण, सदाचार एवं सद्भावों को धारण करना है।

सम्भवतः यहाँ ऐसी शंका करना स्वाभाविक ही होगा कि स्थितप्रज्ञ के लक्षण भक्त एव ज्ञानी के लक्षण, कर्म योगी का स्वरूप एवं गुणातीत पुरुष के लक्षण के रूप में जिस सदाचार एवं सद्गुण तथा सद्भावों का वर्णन किया है वे केवल उच्चकोटि के आध्यात्मिक साधकों के लिये ही है। लौकिक जीवन में सामान्यजन के द्वारा उनका पालन करना सर्वथा असम्भव है। हठपूर्वक यदि कोई व्यक्ति इन गुणों को धारण करता है तो उसे सामाजिक जीवन में असफलता का ही वरण करना पड़ेगा। उसे समस्त भौतिक उपलब्धियों से वंचित रहना होगा। उसका जीवन समुन्नत नहीं होगा। इत्यादि।

इस प्रकार की सब शंकाएं निराधार है। इनके समाधानार्थ यहाँ मात्र इतना कहना पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त सद्गुण, सदाचार

एवं सद्भाव के माध्यम से जो एक स्थिति प्राप्त करना है, वह समता की स्थिति है। *सुख-दुख, जय-पराजय, हानि-लाभ, मान-अपमान* हर स्थिति में समचित्त रहना अत्यन्त ही दुष्कर है। परन्तु समता की दिशा में अग्रसर होने के लिये प्रथम कदम क्षमा, धैर्य एवं सहिष्णुता है। आज इस बात से कौन सहमत नहीं होगा कि व्यष्टि एवं समष्टि के जीवन में इन गुणों की कितनी आवश्यकता है ? वैयक्तिक जीवन की सफलता, पारिवारिक जीवन में शान्ति एवं सामाजिक समृद्धि के लिये इन गुणों की नितान्त आवश्यकता है। आए दिन होने वाले *आत्म हत्याओं, तलाक, गृहक्लेश एवं साम्प्रदायिक उपद्रवों का मूल* व्यक्ति के जीवन में क्षमा का अभाव, अधैर्य एवं असहिष्णुता ही है। अतएव व्यक्ति के आत्मोत्कर्ष, पारिवारिक सुख-समृद्धि, सामाजिक प्रगति एवं राष्ट्रोत्थान के लिये व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के जीवन में क्षमा, धैर्य, सहिष्णुता आदि सद्गुण, सदाचार एवं सद्भावों का विकास होना परमावश्यक है। सद्गुण, सदाचार एव सद्भावों का धारण करना ही वास्तविक धर्माचरण है; समस्त शास्त्रों में इन्ही पर बल दिया गया है। वैदिक धर्म अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को धर्म नाम से प्रतिपादित करता है। इन्हीं गुणों की जैन धर्म में पंचमहाव्रत नाम से महिमा गायी गई है। बौद्ध धर्म उसे पंचशील नाम से पुकारता है। श्रुति एवं स्मृतियों मे भी सद्गुणो को धारण करना और उनको आचरण में उतारने को धर्म कहा गया है।

> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणं ॥
>
> *(मनुस्मृति ६/९२)*

'धृति, क्षमा, दम यानी अपने मनको वश में रखना, अस्तेय (चोरी न करना) शौच (बाह्य एवं आभ्यन्तर की पवित्रता) इन्द्रिय निग्रह (इन्द्रियों को वशमें रखना) धी (बुद्धि) विद्या, सत्य (वाणी और

न की यथार्थता) और अक्रोध—ये दस धर्म के लक्षण हैं।' अर्थात् ये सद्गुण ही धर्म का स्वरूप स्थिर करते हैं। अतः सद्गुण ही धर्म है। अन्यत्र सद्गुणों को धर्माचरण का साधन बताया गया है :—

> अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
> दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्म साधनम् ॥
> (याज्ञवल्क्य स्मृति-आचा० १२२)

सद्गुणों की सत्ता देश काल एवं परिस्थिति से प्रभावित नहीं होती। उनकी उपादेयता में भी कोई अन्तर नहीं आता। वे कालातीत है। उनको सत्ता शाश्वत है। ये सद्गुण ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। इन्हीं से मानवता विकसित एवं परिपूर्ण होती है। अतएव धर्म शब्द का अर्थ 'सद्गुणों का मानव में विकास करना' कहा जाय तो वह समीचीन ही है।

चेतन प्राणिक सत्ता एवं जड़ पदार्थ सत्ता को गुण ही धारण करते हैं 'धरति लोकानिति धर्मः' के अनुसार मानव समाज को एवं उसके लोगों को जो धारण करे, वह धर्म है। सद्गुण समुच्चय ही वास्तविक धर्म में मानव और उसके समाज को धारण करता है। जड़ पदार्थसत्ता को भी गुण धारण करते हैं। यथा—अग्नि का धर्म दहन शक्ति है और जल का धर्म आर्द्रता। गुण ही पदार्थ को धारण करता है, अतएव उसे धर्म कहा गया है। अतः धर्म शब्द का अर्थ गुण है। धर्म शब्द की उत्पत्ति धृ धातु से हुई है और उसका अर्थ धारण करना है। इस प्रकार मानव धर्म उन गुणों का नाम है, जो मानव को मानवत्व प्रदान करता है। दहन शक्ति के अभाव में हम अग्नि की कल्पना ही नहीं कर सकते। ठीक इसी तरह मानवीय गुणों से रहित दो हाथ पैर वाला प्राणी भी मानव क्यों कर हो सकता है?

पदार्थ का गुण या शक्ति जो उस पदार्थ विशेष को धारण करती है, हर देश काल में एक ही रहती है। ठीक इसी तरह मानवीय गुण भी एक-से होते हैं। हमने ऐसा कभी नहीं देखा कि हिन्दू के चूल्हे मे जलने वाली अग्नि एक ईसाई या मुसलमान के चूल्हे में जलने वाली अग्नि से गुण-धर्म मे भिन्न है। कभी यह भी देखा सुना नहीं गया कि यूरोप के देशों को अग्नि अफ्रीका एशिया या अमेरिका अथवा आस्ट्रेलिया की अग्नि से गुण-धर्म में भिन्न है। इसी प्रकार अतीत काल को अग्नि एवं वर्तमान की अग्नि एकरूप है। यही बात अन्यान्य समस्त पदार्थों पर भी लागू होती है। अत. यह स्वतः सिद्ध है कि मानव को धारण करने वाले, उसका अभ्युदय एवं श्रेय सम्पादन करने वाले गुण अर्थात् धर्म भिन्न-भिन्न क्यों हो? परस्पर विपरीत तो हो ही नहीं सकते। उनमें संस्थागत भेद हो सकते हैं। तत्वतः वे सब एक ही होते हैं। अतएव मानव का कल्याण इसी में निहित है कि वे धार्मिक संस्थाओं यथा हिन्दू, इस्लाम, ईसाई इत्यादि को नहीं अपितु धर्म को सर्वोपरि महत्ता प्रदान करें।

भारतीय महर्षियों ने इस तथ्य को भली भांति समझा और हृदयगम किया था। अतएव उन्होंने धर्म को सनातन (यथा-सनातन धर्म) घोषित किया। सनातन का अर्थ है देश और काल की सीमा से परे सर्वव्यापी स्वतः सृष्ट गुण। अतः जिस तरह अग्नि की दहन शक्ति का कोई सृष्टा नहीं है, और न कोई निश्चितकाल, उसी तरह सनातन धर्म का भी कोई प्रवर्तक नहीं है और न ही उसके प्राकट्य का कोई निश्चित समय। अतएव भाव, विचार और कर्म का परिष्कार एवं परिमार्जन करने के लिये, पवित्र उदात्त सद्गुण, सदाचार एवं सद्भाव ही मानव धर्म है।

द्वितीय, श्रीमद्भगवद्गीता में जहाँ कहीं 'स्वधर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ वह कर्तव्य कर्म का बोधक है। कर्तव्य निष्ठा या कर्तव्यपरायणता अथवा विहित कर्तव्य कर्म का पालन धर्म

कहलाता है। इस प्रकार धर्म के दो प्रमुख आयाम हैं। एक पूर्व वर्णित सद्गुण-सदाचार-सद्भाव एवं द्वितीय, कर्तव्य पालन। प्रथम का विवेचन पूर्व में किया जा चुका है; अतः यहाँ केवल द्वितीय की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

कर्तव्य कर्म का पालन ही धर्म है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कर्तव्यपरायणता को अपनी श्रेष्ठतमपूजा बताया है। इसी कर्तव्य-निष्ठा से भगवान् ने परमसिद्धि अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होना घोषित किया है :–

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दतिमानवः ॥

'हे अर्जुन ! जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है।'

शास्त्रों में सद्गुण, सदाचार एवं सद्भाव को सामान्य धर्म एवं कर्तव्य कर्म के पालन को विशेष धर्म नाम से सम्बोधित किया गया है। सद्गुणों की सत्ता जैसा कि पूर्व में उल्लिखित किया जा चुका है, देश, काल, एवं परिस्थिति से प्रभावित नहीं होती और उनकी उपादेयता में भी कोई अन्तर नहीं आता। वे कालातीत हैं उनकी सत्ता शाश्वत है। परन्तु कर्तव्य कर्म देश, काल एवं परिस्थिति के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होता रहता है। साथ ही जहाँ एक सद्गुण सबके लिये कल्याणप्रद होता है, वहीं एक ही कर्म अथवा एक-सा कर्म सबके लिये ग्राह्य कदापि नहीं हो सकता। व्यक्ति-व्यक्ति का कर्तव्य-कर्म एक दूसरे से भिन्न होता है। अतएव स्वकर्तव्य कर्म (स्वधर्म) को हेय समझने वाला उन्नति के शिखर पर कभी भी आरूढ़ नहीं हो सकता।

यदि एक व्यक्ति दूसरे के लिये विहित कर्तव्य-कर्म की उपासना करता है, तो वह निश्चय ही अपना पतन करता है। वह यदि अन्य

के कर्तव्य-कर्म को श्रेष्ठ समझ कर उसे करने के लिये ललचाता है और वैसी शक्ति, सामर्थ्य एवं योग्यता नहीं होते हुए भी अन्य के कर्म को अपनाता है, तो वह असफलता को ही निमंत्रण देता है—

> श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
> स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥
> (गीता १८/४७)

'अच्छी प्रकार आचरण किये गये दूसरे के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्म रूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता है।'

जरा कल्पना कीजिये। यदि राजनेता प्रशासन के बजाय शिक्षाकार्य में हस्तक्षेप करें और सैनिक अधिकारी सैन्योचित कार्यों से अपना ध्यान हटा कर राजनीति में दखलन्दाजी करना आरम्भ करें तो क्या होगा? निश्चय ही वह एक भयंकर स्थिति होगी। जहाँ सेना ने राजनीति को अपनाया वहाँ की स्थितिएँ सब जगह भयंकर ही हुई है। शिक्षा के स्तर की अवनति भी बाह्य हस्तक्षेप के ही कारण हो रही है। साथ ही विद्यार्थी भी स्वकर्म अथवा स्वधर्मरूप विद्योपार्जन का परित्याग कर के अन्य कार्यों में रुचि ले रहे हैं; इन सबके भयानक परिणाम आज हमारा राष्ट्र भुगत रहा है। इसीलिये भगवान् ने कहा है—

> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।
> (३/३५)

अर्थात् अपने कर्तव्य कर्म को करते हुए शहीद हो जाने में ही व्यक्ति का कल्याण है। यदि वह दूसरे के कार्य में अनधिकार हस्तक्षेप करता है तो वह एक भयानक स्थिति को पैदा करता है।

इस प्रकार कर्तव्य कर्म के पालन के रूप में धर्म की व्याख्या करके गीताकार ने अनधिकार चेष्टा करने एवं अन्य के कार्य में हस्तक्षेप

उसमें विघ्न उत्पन्न करने की प्रवृत्ति का निषेध करके प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति को कर्तव्यपरायण बनने को प्रेरित किया है। तिक उन्नति एवं सामाजिक प्रगति तथा लौकिक अभ्युदय का यही मात्र मूलमन्त्र है।

अतः जो व्यक्ति सद्गुण-सदाचाररूपी धर्म को धारण ता है एवं कर्तव्य कर्म का कर्म योग के रूप में निष्काम भावना से पकारार्थ एक निष्ठा के साथ पालन करता है; वह व्यक्ति अपना यं मित्र है क्योंकि इस पथ पर चलता हुआ वह भौतिक उन्नति एवं त्मोत्कर्ष एवं आत्म कल्याण करता है। परन्तु जो व्यक्ति सद्गुण ाचाररूप धर्म से विहीन है एवं कर्तव्यपालनरूपी स्वधर्माचरण नहीं ता है, वह स्वयं ही अपने आपका शत्रु है क्योंकि जो व्यक्ति अपने र्तव्य कर्म का पालन नहीं करता वह अपना पतन ही करता है:—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ (६/५)

इस तरह यह स्पष्ट है कि धर्म शब्द का पर्याय मजहब अथवा लीजन नहीं है। इन शब्दों का अर्थ सम्प्रदाय है। सनातन र्म की उद्घोषणा करनेवाले समस्त महापुरुष-बुद्ध, महावीर, ईसा, गम्बर मुहम्मद प्रभृति धर्म प्रवर्तक नहीं अपितु सम्प्रदाय प्रवर्तक थे। समस्त धार्मिक संस्थान जिनका कोई एक प्रवर्तक हो, जो निश्चित पासना पद्धति तथा अनुयायी रखता हो, सम्प्रदाय है। परन्तु सर्व ाधारण की भाषा में उन्हें धर्म नाम से पुकारा जाता है। यथाः-शैव र्म, शाक्त धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म एवं सिख धर्म और इसी तरह ईसाई, पारसी एवं इस्लाम धर्म प्रचलित है।

भारत भूमि पर निवास करनेवाले आर्यों ने इस सत्य को स्वीकार किया कि मानव धर्म सनातन है, अखण्ड है और वह मानवत्व का परिचायक है। यही वेदों की घोषणा है। प्राकृत मानव को धर्म

का ज्ञान कराने के लिये गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु जि
प्रक्रिया द्वारा मानव में उन सनातन गुणों (धर्म) का आधान करता
वह प्रक्रिया ही इसकी साधना अथवा उपासना पद्धति होती है।
पैगम्बर अथवा धर्माचार्य अपने अनुभव द्वारा समाज व्यवस्था
गुणधारण करने की प्रक्रिया हेतु जिन नियमों का प्रतिपादन करते
वे पुस्तकें ही धार्मिक अनुयायियों द्वारा धर्म-ग्रन्थ के रूप में सुपू
होती हैं। अतः धर्म के प्रचार के लिये सम्प्रदाय का होना नि
आवश्यक है। यही कारण है कि विश्व में अनेक धार्मिक संस्थाएं
धर्म सम्प्रदाय संस्थापित हुए हैं। उनमें परस्पर विरोध
अन्तर्विरोधों का होना, जो संघर्ष को प्रेरित करे, वह धर्म के
लज्जास्पद ही कहा जायगा।

समस्त धर्मों का उद्देश्य धर्म यानि मानवीय गुणों
मानवता का प्रचार-प्रसार करना है। मानव को संकीर्ण साम्प्र
घेरे में घेरने का काम जो कई बार धार्मिक संस्थाओं एवं
(सम्प्रदायों) द्वारा किया जाता रहा है, उस का परित्याग करके
का सम्बन्ध समाज से और लघु समाज का सम्बन्ध वृहत् मानव
मे स्थापित करने की दिशा में समस्त धर्मों को अग्रसर होना
यह कार्य धर्म की मूल भावना को समझ कर तथा धार्मिक क्रिय
नियमों में प्रगतिशील संशोधन करके किया जा सकता है।
व्यवस्था और नियम जो काल विशेष में धार्मिक आवश्यकता
सामाजिक मांग के कारण एक धर्म (सम्प्रदाय) प्रवर्तक द्वारा प्र
होते हैं, परिस्थितियों एवं कालचक्र के परिवर्तन के साथ संशोध

जब एक धर्म-सम्प्रदाय के नियम एवं व्यवस्था क
कर विकृत हो जाती है और वह मानवीय गुणों का विकास
असमर्थ हो जाती है, तब या तो वह धर्म (सम्प्रदाय) लुप्त
है अथवा उसके संशोधन एवं परिशोधन के रूप में नवीन

का उद्भव होता है जो नितान्त आवश्यक है। इससे सम्प्रदायरूपी
में धर्म का पेण्डुलम धर्म भावना की भित्तियों से बहुत दूर भाग नहीं
अपितु एक निश्चित व्यास में मण्डराता रहता है। इससे मानवन
अभ्युदय एवं श्रेयः सिद्धि में धर्म पूर्वापेक्षा अधिकाधिक सहायक
पाता है। जिन संस्थागत धर्मों में सुदीर्घ अन्तराल में भी किसी नवी
सम्प्रदाय का उद्भव नहीं हुआ है, उन धर्मों (सम्प्रदायों) की धार्मि
भावना कुण्ठित होती रही है। बड़ा खेद है कि आज अधिकांश धर
इस प्राकृत प्रक्रिया को भुला बैठे हैं। फलतः धर्म संकुचित हुआ है और
उसकी गति अवरुद्ध।

आज भी हिन्दू धर्म प्राणवान इसी कारण से बना हुआ है,
कि इसमें जैन, बौद्ध, सिख, शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य एवं वैष्णव
सम्प्रदाय और उसके अन्तर्गत निर्गुण तथा सगुण आदि विविध
विचार धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। इन सबके कारण यह सनातन
धर्म प्राणवान तो अवश्य कहा जायगा, परन्तु वह व्यष्टि तथा समष्टि
के जीवन में पूर्ण नहीं हो पाता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति
धर्म के अभिप्राय को भूल गया, उसके मर्म को भूल गया और उसके
लक्ष्य को भुलाकर धार्मिक प्रक्रिया (बाह्य क्रिया-कलाप) के जाल में
फंस गया।

प्रत्येक धर्म की तीन अवस्थाएँ होती हैं। दर्शन, पुराण एवं
कर्मकाण्ड। दर्शन, मूल सिद्धान्त है। पुराण में कथाओं एवं महापुरुषों
की जीवनियों द्वारा उन सिद्धान्तों की व्याख्या की गई होती है। साथ
ही इसके द्वारा जीवन में उन सिद्धान्तों की परिणति, उपादेयता एवं
परिणाम दर्शाया जाता है। कर्मकाण्ड का उद्देश्य दर्शन को धर्म की
ओर उन्मुख करना है। अतः वह स्थूल एवं प्रारम्भिक सीढ़ी है।
व्यक्ति को कर्मकाण्ड, पुराण एवं दर्शन की क्रमशः उत्तम सीढ़ी पर
चढ़कर ही धर्म तत्व का साक्षात्कार करना होता है। परन्तु

व्यक्ति बीच में ही रुक गया है। उसके हाथ में जो भी सोपान आया उसके किसी एक कोने पर खड़े होकर उसने आरोहण की पूर्णता समझ लिया। यही कारण है कि धर्म अपने आपको व्यक्ति के जीवन में मूर्तरूप धारण कर विश्व में व्यक्त नहीं हो पाया। वह व्यष्टि और समष्टि के जीवन में जीवन्त नहीं बन सका है। परम कल्याण के लिये ज्ञान, कर्म एवं भक्ति मे से किसी एक की साधना ही पर्याप्त मान ली गई। पुनः नवधा भक्ति में से किसी एक प्रकार की भक्ति से ही मुक्ति सम्भव है, ऐसा मान लिया गया। यह अपने स्थान पर ही ठीक है, परन्तु इस एकांगिता के बजाय यदि समग्रता को अपनाया जाय तो उससे परम कल्याण अथवा मुक्ति के साथ साथ लौकिक अभ्युदय भी हो सकेगा।

रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्यों ने मुक्ति का स्वरूप जीवन मुक्त अवस्था को स्वीकार किया है। ऐसा जीवन मुक्त लोक कल्याणार्थ कर्म करता है, जिससे कि लोक समाज में सच्ची धर्म भावना को प्रतिष्ठित किया जा सके। उनका लक्ष्य निम्न से उच्च, लघु से महान् एवं स्थूल से सूक्ष्म की ओर निरन्तर आरोहण करते रहना है। अतएव "यह सत्य है कि उपनिषद् भी यज्ञों से प्राप्त धार्मिकता को अपने अध्यात्मवाद की तुलना में निम्न स्थान देते हैं।"[1] इस औपनिषदिक विचारधारा का अनुसरण करते हुए रामस्नेही सम्प्रदाय ने आत्मानुभूत आध्यात्मिकता की तुलना में रूढ़िगत धार्मिकता, कर्मकाण्ड, तीर्थाटन आदि को निम्न स्थान दिया है। साधना एवं उपासना की एकांगिता को समाप्त कर इनके आचार्यों ने ज्ञान, कर्म और भक्ति की एक समन्वित साधना प्रणाली को विकसित किया है।

लौकिक अभ्युदय एवं सामाजिक उत्थान के लिये व्यक्ति के जीवन का परिष्कार करके कथनी और करनी में एकता स्थापित

1 डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—भारत और विश्व पृ० १६

करने का प्रयास किया ताकि धर्म सिद्धान्त; उपासना एवं आचार का एक जीवित रूप बन कर उस आध्यात्मिक अनुभव को उपलब्ध करवाने में समर्थ हो, जिससे मनुष्य जीवन के अस्तित्व का प्रत्येक पहलू परम उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है, जिसमें मानव जीवन की परिपूर्णता निहित है।

'श्री मदाद्य रामस्नेहि सम्प्रदाय' नामक प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने रामस्नेहि सम्प्रदाय का इतिहास और साधना पद्धति का विश्लेषण किया है। आशा है, इससे पाठक सम्प्रदाय का परिचय प्राप्त करने के साथ-साथ सम्प्रदाय की लोकहित भावना एवं उसकी आध्यात्मिकता की एक झलक पा सकेंगे। वे इस बात पर भी विचार कर सकेंगे कि सच्ची धर्म भावना क्या है और वह किन-किन साधनों से प्राप्य है।

मैं हृदय से लेखक के इस प्रयास के सफल होने की कामना करता हूँ। यही मेरा आशीर्वाद है। इति शुभ।

रामद्वारा, असाडा

—रामगोपाल

॥ श्री रामगुरुदयालजी विजयन्ताम् ॥

आवश्यकता की पूर्ति

आज समूचा मानव जीवन भौतिकवाद के झंझावत से ग्रस्त हो रहा है। व्यक्ति तृष्णा, स्वार्थ एवं अहम् की शृंखलाओं से जकड़ा हुआ है। ईर्ष्या, घृणा एवं पाखंड से जीवन त्रस्त है। ऐसी स्थिति में हम ज्यों ज्यों विचार करते हैं, हमें अनुभव होता है कि—संतों की अनुभव-वाणी जितनी तीन सौ वर्ष पूर्व उपयोगी थी, आज कहीं उससे भी अधिक उपयोगी है। क्योंकि इसमें ही मानव में छुपी दानवता व उपर्युक्त दुर्गुणों को दूर करने की सच्ची शिक्षा निहित है। इस दृष्टि से स्पष्ट हो जाता है कि संतवाणी के अध्ययन की जितनी आज आवश्यकता है, उतनी शायद पहले नहीं थी।

"सन्तरूप हुय साहिब आया,
देह धार कर सन्त कहाया।"

ऐसी सन्तवाणियों के रचयिता एक दो तो सन्त हुए नहीं हैं, अपितु आवश्यकतानुसार स्वयं जगन्नियन्ता प्रभु ही सन्त रूप से जगत् में सदा सर्वदा विराजमान् रहते हैं। ऐसे सन्तों के द्वारा विभिन्न स्थलों, तरीको व नामों द्वारा प्रकट किया गया उपदेश ही विभिन्न सम्प्रदाय, मत व पंथ नामों से प्रख्यात हुए हैं। यद्यपि इनके नाम व रूप अनेक हैं, किन्तु लक्ष्य सभी का एक है। इस तरह विभिन्नता में एकता का रूप इनके द्वारा हमें प्राप्त होता है।

'वस्तुतः सम्प्रदाय का जन्म शुभ है व साम्प्रदायिकता का जन्म समाज के लिए एक महान् कलंक है। ऐसी साम्प्रदायिकता से ऊपर उठ कर ही प्राणी अपने चरम लक्ष्य को पा सकता है।' वर्तमान युग की ऐसी कसौटी पर इन सम्प्रदायों को परखना नितान्त आवश्यक है।

किन्तु परखने पर वास्तव में हम पावेंगे कि यह सिद्धान्त
इन्हीं सम्प्रदायों से प्रकट हुआ है। विभिन्न रूपों में स्थित इन संप्रद
के विषय में हम जब तक पूर्ण अभिज्ञ नहीं हो पाते तब तक उन
प्रति लगाव से हम वंचित रह जाते हैं।

"श्री मदाद्य रामस्नेहि सम्प्रदाय—इतिहास एवं साधना पद्धति
का समीक्षात्मक अध्ययन" नामक पुस्तक को देखने से ज्ञात हुआ है
कि :—इसके लेखक श्री प्रहलादराम पटेल ने इन्हीं सम्प्रदायों में से एक
अन्यतम 'श्री सींथल खेड़ापा रामस्नेहि सम्प्रदाय' के विषय में एक
र गवेषणात्मक अध्ययन कर अपने सद्विचारों को सम्प्रदाय के परिचय
रूप में प्रस्तुत किया है। यह एक महान्
एक आवश्यकता की पूर्ति के समान कहा जा सकता है।' अनुकरणीय उदाहरण है जिसे

इस पुस्तक में वर्णित साधना पद्धति, ऐतिहासिकता,
णी संकलन तथा अन्यान्य प्रसंग रोचक व परमोपादेय हैं। किन्तु
इनमें से इतिहास खंड में इतिहास सम्बन्धी कुछ एक वाक्यों व स्थलों
पर कुछ एक भाव अस्पष्ट से प्रतीत हो रहे हैं। अगर इनका और
स्पष्टीकरण हो जाता तो और भी अधिक अच्छा रहता।

प्रस्तुत पुस्तक लेखन के विषय में—व्यस्त समय में से भी समय निकाल
कर पुस्तक लिखने के सत्प्रयास को देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता
हुई है। आशा है, इसके द्वारा तत्वान्वेषी मनीषियों को बहुत ही लाभ
होगा। गुरुचरणों से यही प्रार्थना है कि वे आपके इस प्रकार के सत्प्रयास
में सदा ही सहयोग व कृपा प्रदान कराते रहें, ताकि आपका उत्साह
सदा उत्तरोत्तर भगवदुन्मुख होता रहे। सब प्रकार की शुभ कामनाओं
साथ:—

रामधाम, खेड़ापा
...६-८०

पुरुषोत्तमदास शास्त्री
श्रीमदाद्य रामस्नेहि सम्प्रदायाचार्य
आचार्य पीठ; खेड़ापा, जोधपुर (राज०)

SHRI RAM SANAI SAMPRADA

(An authentic Treatise)

The History of Shri Ram Sanai Samprada, undertaken by Shri Prahlad Ramji was a great needed work, as there was no authentic treatise on the subject written so far. This Hindu sector of Yoga and Bhagti has been practised under the guidance and preceptors from Vedic times. The revolutions and evolutions that naturally flowed in the practice and theory of Religious precepts according to great preceptors, according to their own way of thinking. It is a human trait that no two persons are alike and in thinking and physical features. From the main stream of theory and practice, the religious leaders expounded the cult. Sometimes the Chela excelled the Guru.

The Ram Sanai Samprada got great impetus in Rajasthan. Great Guru Jaimal Dassji passed it to Shri Guru Hari Ramdasji of Sinthal, and the inspiration is expounded by Great Ram Dassji of Khairapa. The ancestery of this Samprada is a long list.

There are two paths of Sadhna. One of Bhagti Marg, and Siddhi. Bhagti Marg is conducive to evolution and uplifting of the soul, while Siddhi Yoga leads to materialistic achievements, which deadens the soul.

The Bhagti Sadhna is inculculated by the pronouncement of the ideal Lord Shri Ram, who is the great Avtar of great Lord Vishnu.

Man gets salvation by the recital of the name of Shri Ram. The recital of this great name gives enlightenment and inner light to the practicing Soul. This is not an easy task. This can be imparted by a great Saint well-versed in this practice. There can be no knowledge without the aid of a Guru.

Bhagti Sadhna enlightening the soul and Asth S may not lead to that end.

There was dire need of a written work on the histo of Ram Sanai section of Hindu Religion, and Shri Prahlad Ran has undertaken this much needed work. This cannot be don by a layman. One who has received inspiration from a Guru and practiced this Yoga, can only undertake this.

Ram Sanai Samprada preaches austerity of life of a Sadhu, with the barestest necessition of life-food through public alms, to be bare-footed, save even the life of an ant, what to say of other creatures of nature Recitation of name of Shri Ram day and night, and to ask people to do the same, Avoid animal foods, intoxicants like liquors, opium, Bhang, Tobacco, and save animal life.

There is no other recitation than of Shri Ram and Shri Krishna for Hindu salvation of the soul, which retrieves a human soul of a Hindu from the evils of worldly desires, which drives the soul to lowest degration.

The achievement of human soul by the recitation and following the paths of the great Lords Rama and Shri Krishna cults which is more rugged and difficult. Man is general is very selfish and greedy. For upliftment of the soul he has to give up these traits, and by constant and hard practice he has to give up these, and adopt ways of doing good to all creation of the God.

When greatest evils spread into the World and Gods an are tormented to the hilt, Shri Vishnu takes Avtar, and deems the good and drive out the evil.

In times of lesser evil times, God sends Guru Ramanauj, nal dasji, Hari Ramji and Ram Dasji to preach good and

forsake evil. In recent times the threat is taken up by Shri Ramakrishna Pram Hans, Swami Vivekanandji, and now in our Ram Sanai Samprada we have Sant Maharaj, Shri Ram Sukh-Dassji and Prahlad Ramji Patel.

The Ram Sanai Samparda had done a great duty to the humanity, in preaching the giving up of opium, Tobacco, Bhang etc, Before even the alien British goverenment in India banned the use of Opium, which had done great harm to in India. A Ram Sanai would not drink unfiltered water, and British and now the Indian Goverenment is practising the use of filtered water. For spiritual and physical welfare, the use of pure vegetarian foods and pure water has been the prime need, and Ram Sanai Veshnuism has been practising since times immorial, and the westerners owe to India for this trait.

Hindu Yoga has been the greatest upliftment of the humanity, and now the Western world after great destruction of loss in world wars of human destruction, and use of animal food, have come to realise the sanctity of life of men and god's creatures and are attracted to practice of Yoga, and use of vegetarianism. In no other way soul of a man can achieve salvation, as long as he believes in human and animal killing.

Mool Chand*
Advocate High Court
Court Road, Jodhpur

Dated 9th Sept. 1980.

*1. [illegible], उर्दू एवं फारसी भाषाओं के विद्वान् ८४ वर्षीय एडवोकेट श्री [illegible] जोशी [illegible] मारवाड़ स्टेट के [illegible] एडवोकेट एवं [illegible] [illegible] के [illegible] और [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible], [illegible] ([illegible]) के पौत्र हैं।

पूर्वाग्रह से मुक्त-वैज्ञानिक विवेचन

श्रीयुत् प्रह्लादराम पटेल विरचित ग्रन्थ 'श्रीमदाद्य रामस्नेहि-सम्प्रदाय (इतिहास एवं साधना पद्धति) पढ़ने का अवसर मुझे मिला। पुस्तक मे कुल १६ अध्याय हैं। आठ अध्याय तक सन्तसम्प्रदाय के उद्भव का इतिवृत एवं रामस्नेही सम्प्रदाय का दर्शन व साधना पक्ष स्पष्ट किया गया है। अन्तिम आठ अध्यायों में रामस्नेही सम्प्रदाय के उद्भव का क्रमिक इतिहास व उसके संगठनात्मक स्वरूप का विवेचन हुआ है

ऐसी बात तो नहीं है कि रामस्नेही सम्प्रदाय का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन करने वाली यह पहली कृति है। इससे पूर्व भी सम्प्रदाय के धर्माचरण, दर्शन, साहित्य आदि पर अनेक विद्वतापूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आये है। रामस्नेही संतों की वाणियों के संकलन-संग्रहों की भूमिकाओं में इस सम्प्रदाय के दर्शन व साधना पद्धति पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस सम्प्रदाय के दर्शन पक्ष व साहित्य पर शोधप्रबन्ध भी तैयार हुये है और उनके लेखकों को विश्वविद्यालयों ने शोधउपाधि से सम्मानित किया है। इसके उपरान्त भी, प्रस्तुत ग्रन्थ को आद्यान्त पढ़ने के पश्चात् मुझे यह लिखते हुये आत्मिक आनन्द की अनुभूति हो रही है कि श्रीयुत् पटेलने इस ग्रन्थ में भारतीय धर्म व दर्शन-परम्परा की पृष्ठभूमि दे कर, सन्तमत के उदय का वैज्ञानिक विवेचन करते हुये रामस्नेही सम्प्रदाय का एक सच्चे तत्वान्वेषी विद्वान् के रूप में अध्ययन विश्लेषण प्रस्तुत किया है। पूरे ग्रंथ में महत्व की बात मुझे यह लगी कि लेखक कहीं भी सम्प्रदाय के पूर्वाग्रहों से ग्रस्त नहीं है। अन्यथा प्राय: यह देखा जाता है कि ऐसे सम्प्रदाय-ग्रंथों में लेखक का सम्प्रदाय विमोह चेतन-अवचेतन में अवश्य प्रकट होता है। यह ग्रंथ मुझे इसका अपवाद

लगा। धर्म, दर्शन, सन्तमत आदि के विश्लेषण-विवेचन में भी लेखक की दृष्टि कहीं रूढ़िग्रस्त, पारम्परिक अथवा बासी नहीं रही। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न उनकी यह कृति न केवल रामस्नेही सम्प्रदाय को समझने मे सहायक है, अपितु सम्पूर्ण भारतीय धर्म व दर्शन की परम्परा को सही परिप्रेक्ष्य में समझने में भी इससे मदद मिलेगी—मैं ऐसा समझता हूँ। लेखक का विषय के साथ भाषा पर भी अधिकार है। धर्म व दर्शन जैसे गूढ़ विषय के विवेचन के लिये उपयुक्त पारिभाषिक भाषा की अपेक्षा रहती है। इस ग्रन्थ की प्रांजल व परिष्कृत भाषा विषय-विवेचन को और भी गौरवमण्डित करती है।

आधुनिक युग भौतिक व वैज्ञानिक दृष्टि से चाहे कितना ही उन्नत कहा जाये किन्तु मानवीय नैतिक मूल्यों की दृष्टि से तो इसे विघटन अथवा ह्रास काल ही कहा जायेगा। मनुष्यता आज कितनी विरल है, जीवनमूल्य किस सीमा तक विघटित हो गये हैं? मानवीय प्रेम, परस्पर का विश्वास व सहयोगभाव, करुणा, क्षमा जैसे मानवमूल्य आज देखने को नहीं मिलते। यह युग जीवन की दुखान्त त्रासदी का युग है। मैं समझता हूँ, नैतिक आचरण व आस्थामय जीवन ही मनुष्य को आत्मिक शान्ति के सोपान हो सकते हैं और यह मंगलमय जीवन सोपान अथवा जीवन यात्रा का पाथेय मनुष्य को ऐसी कृतियाँ ही प्रदान कर सकती है। संतवाणी आज के दिग्भ्रमित मनुष्य को जीवन का सही मार्ग बता सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का मैं हृदय से अभिनन्दन करता हूँ और इसके विद्वान् लेखक को इतनी उपयोगी कृति की रचना के लिये धन्यवाद देता हूँ।

डॉ० रामप्रसाद दाधीच
हिन्दी विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

॥ श्री रामः ॥

॥ श्री रामदयालु वन्दे ॥

श्री मदाद्य रामस्नेहि सम्प्रदाय के इतिहास एवं साधना पद्धति का समीक्षात्मक अध्ययन

*

पहला - अध्याय

मङ्गलाचरण

दोहा

नमो राम गुरुदेवजी, जन त्रिकाल के वन्द ।
विघ्न हरण मंगल करण, रामदास आनन्द ॥१॥
मस्तक पर गुरुदेवजी, हृदं विराजे राम ।
रामदास दोनूं पखां, सब विधि पूरण काम ॥२॥

श्लोक

विभुं पद्मनेत्रं दयानं तुरीयं प्रकाशस्वरूपंनतं विश्वदेवैः ।
श्रुतिज्ञानगम्यं शुभं विश्वनाथं स्तुवे वेद वंद्यं गुरुं रामदासम् ॥१॥
तपोमहिम्ना जनितेन्द्रशंकम् देवांगना येन तिरःकृता वै ।
प्रचिन्त्यरूपं करुणावतारं तं वा दयालुं शरणं प्रपद्ये ॥२

कवित्त

श्री–के जो निस्प्रेही सदा, परहित रत रहे ।
रा–ग-द्वेष न्यारे बसे, गुणहू के धाम जू ॥
म–मता को मार-मार, निर्मल है वृत्ति धारी ।
जो–करि वश अन्तर, रहे लवलीन जू ॥
गा–य ज्ञान गरीबी कूं, हृदय भक्ति धारी है ।
ल–गन में मगन हुए, ज्ञान के प्रचार जू ॥
जी–लगी जुटत रहे, भलपण विस्तार में ।
ऐसे गुरु महाराज को, प्रह्लाद का प्रणाम जू ॥१॥

उपक्रम

हिन्दू धर्म की सर्वमान्य शास्त्रोक्त संज्ञा सनातन धर्म है। इसका उद्गम वेद है जो अपौरुषेय एवं अनादि है। वेदोक्त धर्म का लौकिक व्यवहार और समाज में इसका प्रचार-प्रसार करने के लिये हिन्दू धर्मान्तर्गत अनेक मत एवं सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ है। सम्प्रदायों की प्रस्थापना वैयक्तिक महत्ता का प्रतिपादन अथवा व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति या व्यक्तिपूजा व व्यक्तिवाद का प्रचार करने के लिये कदापि नहीं हुई है। इनका प्रादुर्भाव सत्यान्वेषक मनीषियों द्वारा वैदिक सत्य को अपने ढंग से समझने और उनकी भिन्न अभिव्यञ्जनात्मक शक्ति के कारण है। दूसरा कारण समाज की आवश्यकता है, जिसने सम्प्रदायों के उदय को अनिवार्य बना दिया। अतः जब सत्यान्वेषक महापुरुष मनीषियों ने वैदिक ज्ञान को जिस रूप में समझा और हृदयङ्गम किया वैसी ही उन्होंने व्याख्या की तथा उन पर भाष्य प्रकाशित किये। अन्तःकरणशुद्धि व आत्मशुद्धि एवं आत्मिक विकास तथा पारमार्थिक उन्नति के लिये इष्ट, मन्त्र एवं उपासना विधि का

प्रतिपादन किया। फलतः नवीन सम्प्रदाय अस्तित्व में आते गये और उनकी संख्या बढ़ती गई।

हिन्दू धर्मान्तर्गत सम्प्रदायों एवं मत मतान्तरों की बाहुल्यता सनातन धर्म के खोखलेपन को नहीं अपितु इसकी सुदृढभित्ति और विकासशील प्रकृति एवं नित नवीन बने रहने की शक्ति का परिचय देते हैं। सम्प्रदायों का रहना हमारे विकास के लिये नितान्त आवश्यक है। स्वामी विवेकानंद ने लाहौर में सन् १८६७ मे दिये गये अपने भाषण में कहा है —"सम्प्रदाय रहें पर साम्प्रदायिकता दूर हो जाय। साम्प्रदायिकता से संसार की कोई उन्नति नहीं होगी, पर सम्प्रदायों के न रहने से संसार का काम नहीं चल सकता।" एक अन्य स्थान पर स्वामीजी ने कहा था मुझे आश्चर्य है कि इस पुरातन भारत भूमि पर इतने थोड़े से सम्प्रदाय ही क्यों है? अर्थात् इतिहास की प्राचीनता देखते हुए इससे भी अधिक सम्प्रदाय होने चाहिये थे।

सम्प्रदाय क्यों बनते हैं?

सम्प्रदाय धर्म की प्राणशक्ति और उसकी गति का आधार है। जब एक धर्म की व्यवस्था एवं नियम रूढ़िगत हो कर बाह्या-डम्बरों में उलझ जाते हैं। धर्म की सत्यात्मकता का स्थान विधि-विधान की यांत्रिकता में परिणत हो जाते है और उसमे सामाजिक प्रगति, मानसिक विकास एवं आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध होने लगता है। अभीष्ट सिद्धि के बजाय धर्म केवल निहित स्वार्थ सिद्धि का साधन बन जाता है, तब स्पदनशील धर्म अपनी सृजनात्मक प्रकृति का परिचय देते हैं और उनमें परिस्कार एवं संशोधन-परिशोधन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। जिन धर्मों में यह गुण विद्यमान है, वही कालातीत होकर सनातन बना रहता है। इसके विपरीत धर्म काल के ग्रास बन कर विलुप्त हो जाते है।

अतः भिन्नरुचि, वैयक्तिक विभिन्नता एवं मानसिक विकास तथा बौद्धिक क्षमता और मन की विभिन्न भावभूमियों अथवा भावनात्मकस्तर के अनुसार ज्ञान, कर्म एवं भक्ति मार्ग और सगुणवाद की प्रतीकोपासना, मूर्तिपूजादि विधान तथा निर्गुणवाद का ब्रह्मचिन्तन आदि भिन्न-भिन्न मतवादों का प्रतिपादन करने वाले विभिन्न धार्मिक *सम्प्रदायों का होना नितान्त आवश्यक है।* साधक की सफलता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह अपनी साधना में स्थूल से सूक्ष्म की ओर, बाह्य से अन्तर की ओर प्रगति करने में कहाँ तक सफल हो पाया है। परिणामतः धार्मिकता के विकास की गति निरन्तर सगुण से निर्गुण की ओर, प्रतीकोपासना या मूर्तिपूजा से ब्रह्मचिन्तन एवं कर्म से ज्ञान की ओर निरन्तर प्रवाहित होती रहनी चाहिये। सामाजिक यथार्थ और व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से इसमें सुन्दर समन्वय ही धार्मिक समाज की आदर्श स्थिति होती है। कारण कि यही वह अवस्था है, जहाँ सम्प्रदायों की विद्यमानता में भी साम्प्रदायिकता की गन्ध समाप्त हो जाती है। यही कारण है कि सनातन धर्म में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के होने पर भी हमें उनमें कभी रक्तरंजित टकराव अथवा सामाजिक कटुता के दर्शन नहीं होते। सबका सहअस्तित्व ही उनका आदर्श है। यही स्थिति हिन्दू, इस्लाम एवं इसाई, यहूदी आदि धार्मिक सम्प्रदायों पर भी लागू होती है। यदि उनमें कभी टकराव हुआ है तो वह धार्मिकता अथवा आध्यात्मिकता का संघर्ष नहीं कहा जा सकता। उसकी प्रेरणा धर्म नहीं अपितु धार्मिक आडम्बर एवं मिथ्याविश्वास रहे हैं। वस्तुतः इनमें परस्पर कहीं कटुता के दर्शन होते है, तो उसकी जड़ धर्म नहीं अपितु निहित सामाजिक वर्ग हित होते है जो एकसी ऐतिहासिक परम्परा की एकता में आबद्ध एवं संगठित हो कर धर्म के बाह्यावरण की दुहाई देते हुए संघर्ष पर उतारू हो जाते हैं। इसे धार्मिक साम्प्रदायिकता नहीं अपितु सामाजिक साम्प्रदायिकता कहना अधिक उपयुक्त है। कार्ल मार्क्स की आधुनिक शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो हम इसे ऐतिहासिक एकता के
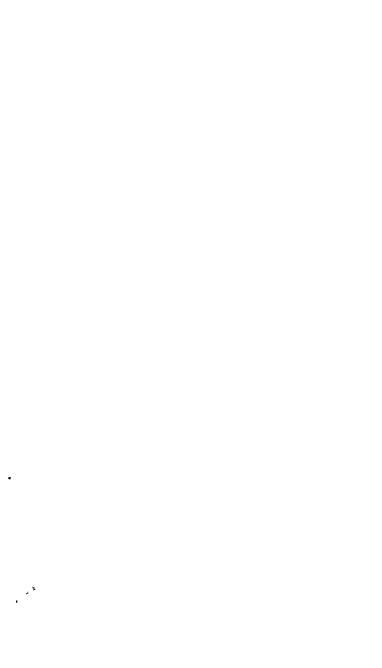
लिये मनोयोगपूर्वक ईश-स्तुति को अपनाया। ईश-स्तुति ही धर्माचरण का आदि और अन्त था। फिर यज्ञ प्रथा का प्रारम्भ हुआ तब यज्ञ तथा प्रार्थना साथ-साथ चलते रहे। कालान्तर में पशुबलि एवं नरबलि भी यज्ञानुष्ठान का आवश्यक अंग बन गया और धर्म केवल पण्डितों एव समाज के उच्च व धनिक वर्ग की सीमा में सीमित हो कर कर्मकाण्ड में आबद्ध हो गया तब उपनिषदों का निर्माण हुआ। उनमें ब्रह्म विद्या, एकेश्वरवाद एव ज्ञानयुक्त चिन्तन को प्रमुखता दी गई। परन्तु कालान्तर में जब यह देखा गया कि यज्ञ प्रथा विकृत रूप धारण कर चुकी है और उपनिषदों का ब्रह्मचिन्तन जनसाधारण के वश की बात नहीं है। फलतः धर्म की हानि हो रही थी, तब मध्यमार्गी बौद्ध मत का उदय हुआ और व्यावहारिक धर्म का उपदेश दिया गया।

ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध के मौन और उपनिषदों के अचिन्त्य ब्रह्म के विचार को जनसाधारण हृदयंगम नहीं कर सका। परिणामस्वरूप ब्राह्मणवाद की पुनर्जागृति के रूप में प्रतीकोपासना का दर्शन प्रतिष्ठापित हुआ और मूर्तिपूजा एवं सगुणवाद का प्रबल प्रचार हुआ। इससे जनमन का ऐसा रंजन हुआ कि बौद्ध धर्म को अपने जन्मस्थान भारत भूमि से निर्वासित होना पड़ा। फिर भी उस समय जैन सम्प्रदाय खूब फल-फूल रहा था। वह कर्म पर जोर देने के कारण लोगों को लौकिक अधिक जान पड़ा परन्तु उनकी अहरय आध्यात्मिक भूख को परितृप्त करने में विशेष सफल न हो सका। अतः किसी महान् आचार्य का अवतरण होना आवश्यक था। ऐसे समय में ईसा की आठवीं शती में श्रीमदाद्य शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। उनके द्वारा भक्तियोग के स्थान पर ज्ञानयोग, मायामिथ्यात्ववाद एवं वेदान्त का ऐसा प्रबल प्रचार हुआ कि सनातन धर्म को नूतन प्रेरणा, स्वस्थ प्राणवायु और नवीन जीवनीशक्ति प्राप्त हो गई। चतुर्दिक भूमण्डल में एक बार पुनः धर्म एवं अध्यात्म की पताका निष्कण्टकरूपेण फहराने लगी।

आदि शंकराचार्य का आविर्भाव हुए अभी केवल दो सौ वर्ष हो पूरे हुए थे कि भारत पर बाह्य आक्रमणों का क्रम आरम्भ हो गया। धीरे-धीरे मुगल साम्राज्य की पताका फहराने लगी। उधर इस्लाम धर्म का बोलबाला होने लगा। शंकर का वेदान्त धर्म जनसाधारण को बुद्धिगम्य नहीं हो सका। फलतः नवीन सम्प्रदायों के उदय की आधारभूमि तैयार हो गई।

विक्रमी सम्वत् १००० (एक हजार) से आगामी पाँच सौ वर्षों में हिन्दु धर्मान्तिर्गत वैष्णव धर्म का प्रतिपादन करने वाले चार सम्प्रदाय अस्तित्व में आए। इनके आचार्यों में श्री रामानुजाचार्य का समय विक्रम सम्वत् १०६३, श्री निम्बार्काचार्य १२१९ और श्री माधवाचार्य का वैकुण्ठ समय १२५५ है। वल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव विक्रम सम्वत् १५६६ में हुआ। रामानुजाचार्य ने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र) पर भाष्य लिख कर यह सिद्ध किया कि श्री शंकराचार्य का मायामिथ्यात्ववाद और अद्वैतवाद दोनों ही ठीक नहीं है। इनका दर्शन विशिष्टाद्वैत है। निम्बार्काचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा और द्वैताद्वैत मत का प्रतिपादन किया। माधवाचार्यजी का भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य है और ये द्वैत मत प्रतिपादक है। वल्लभ आचार्य जीव की मुक्ति एकमात्र भगवान् के अनुग्रह पर ही मानते हैं, जिसे वे पुष्टि कहते हैं। अतः इनका सम्प्रदाय पुष्टीमार्गी भी कहलाता है।

ये चारों ही सम्प्रदाय वैष्णव है और रामकृष्णादि अवतारों की सगुणभाव से उपासना करते हैं। इस काल में सौर, शाक्त, गाणपत्य एवं शंकराचार्य के वेदान्त दर्शन की विद्यमानता के उपरान्त इन्हीं चार सम्प्रदायों का सम्पूर्ण भारत में प्राधान्य था। विक्रम सम्वत् १५०० से १८०० के मध्य इन सगुणोपासक चार सम्प्रदायों की शिष्य-प्रशिष्य परम्परा में निर्गुणोपासक संत प्रकट हुए। इनमें कबीर, दादू, दरियाव, जयमलदास, रामचरण, हरिरामदास, रामदास,

एवं दयालदास प्रभृति मुख्य है। इनमें से कुछ के अनुयायियों एव शिष्य-प्रशिष्यों की संख्या इतनी अधिक हो गई है कि इन्होने सम्प्रदायो का रूप धारण कर लिया है, जो आज भी अपने मूल रूप से अस्तित्व में है। इनमें कबीर पंथ, दादू पंथ एवं रामस्नेही सम्प्रदाय प्रमुख है।

संतमत के प्रादुर्भाव का कारण—

सम्प्रदायों का आविर्भाव होना धर्म की स्वाभाविक गति एवं समाज की अपनी आवश्यकता हुआ करती है। सगुणोपासक वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत निर्गुण मत के प्रतिपादक सत मत एव उनके सम्प्रदायों के उदय की पृष्ठभूमि में भी धार्मिक तथा सामाजि कारण विद्यमान थे। इन सतों ने प्रतिमा की पूजा तथा बाह्याचर की कटु आलोचना की। कारण, मन्दिर दर्शन को जाना औ षोडशोपचार विधि से यंत्रवत पूजाक्रम की आवृत्ति करते जा धार्मिक शिष्टाचरण भले ही हो वह धर्माचरण एव आध्यात्मिक की पूर्ति कदापि नहीं कर सकता। दूसरे, राजस्थान की इस मरुभू में न तो इतने देव मन्दिर ही है, न ही निर्मित होना सम्भव लगता प्रकृति प्रताड़ित विपदग्रस्त इस मरु-भूमि में लोगों के पास न इतना अवकाश ही है और न सम्पदा कि वे प्रातः ब्राह्म मुहू सायं सध्योपरान्त तक सम्पन्न की जाने वाली विभिन्न सेवाओं सम्मिलित हो उनका लाभ उठा सकें। जो व्यक्ति अपनी आयु आधा भाग एवं परिवार के आधे लोगों को केवल पीने के लिये जुटाने में ही लगा देते हैं, उनके लिये परम्परागत वैष्णव सेवा की उपादेयता सदिग्ध ही रहती है। फिर पूजा विधान प और पुजारियों के आधिपत्य ने समाज में एक निहित स्वार्थी उत्पन्न कर दिया था। इस सबके उपरान्त देव-दर्शन व मन्दि प्रतिमा की पूजा का ऐसा प्राधान्य हो गया था कि आचरण शु

आचरण है ... बढ़ गया था।

संतमत के प्रादुर्भाव का एक अन्य सामाजिक कारण यह भी था कि अन्त्यज कहा जाने वाला एक बहुत बड़ा वर्ग देव-दर्शन एवं वैष्णव पूजा या धर्म लाभ प्राप्त करने से वंचित था। फलतः इस धर्म प्रधान देश में एक विशाल जनसमूह धर्म विहीन जीवन व्यतीत करने को बाध्य था। इस तरह समाज का यह वर्ग स्वधर्म च्युत हो कर विधर्मी हो रहा था। अतः संत मत के रूप में निर्गुण 'राम' भक्ति आन्दोलन का उद्भव हुआ, जिसका उद्देश्य सार-सार को ग्रहण कर आडम्बरों का परित्याग करना और जन समाज को एकता एवं आध्यात्मिकता की ओर ले जाना था। जिसमें वे प्रशंसनीय रूप से सफल सिद्ध हुए।

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त यदि हम तत्कालीन परिस्थितियों पर दृष्टिपात करें तो यह ज्ञात होगा कि उस समय सामाजिक असुरक्षा एवं असमानता, राजनैतिक अस्थिरता तथा अव्यवस्था और धार्मिक अन्ध विश्वासों का साम्राज्य था। आध्यात्मिकता का स्थान धर्म ने ले लिया था और धर्म को पीछे धकेल कर ब्राह्मणवाद आगे बढ़ रहा था। इतना ही नहीं ब्राह्मणवाद की धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता पर कर्मकाण्ड की कृत्रिमता हावी हो रही थी।

राजनैतिक अव्यवस्था भी अपनी चरमसीमा पर थी। मराठे राजस्थान तथा अन्य उत्तरी भारत की विभिन्न देशी रियासतों पर निरन्तर आक्रमण कर लुटेरों का सा व्यवहार करते हुए देश में, असुरक्षा, दुरव्यवस्था एवं लूटपाट मचा रहे थे। समाज में राजनैतिक स्थिरता, सुव्यवस्था और न्याय न होने के कारण लाठी जिसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी।

धार्मिक क्षेत्र में धर्म के ठेकेदारों की ठेकेदारी का अमल था। सच्चे धर्मोपदेष्टाओं के अभाव में आपा पंथी, मतान्तरीय

एवं वाम-मार्गी लोगों ने धर्म पुरुषों का जामा पहन कर भोली जनता को कल्पित धर्म मार्ग व मनगढन्त सिद्धान्तों को मानने के लिये मजबूर कर दिया था।

पशु बलि देना, भूत-प्रेत और पिशाच पूजा के नाम पर अनेक विभत्स कृत्य करवाना एवं भैरवी साधना के नाम पर अभक्ष्य भक्षण — मांस, मदिरा आदि का सेवन करना ही धर्म का रूप समझा जाने लगा था। इन तथ्यों का उल्लेख प्रसंगवशात् महात्माओं के वाणी-साहित्य में पाया जाता है।

मानसिक तथा शारीरिक आधि-व्याधियों के होने पर किसी क्रूर देवता का प्रकोप समझा जाता था। फलतः रुष्ट देव को प्रसन्न कर आधि-व्याधियों का शमन करने हेतु क्षेत्र-पालादि देवी-देवताओं की मांस मदिरा और मिष्ठान्नों द्वारा पूजा की जाती थी। ईश्वरोपासना का रूप बाह्य दिखावटी आचरण, मूर्ति पूजा, वाचक-ज्ञान एवं शौचाचार में परिवर्तित होता हुआ दम्भाचरण की पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था।

इस प्रकार समाज व राष्ट्र के विश्रृंखल हो जाने के फलस्वरूप प्राचीन संस्कृति, तत्व चिन्तन और अध्यातम विद्या का सर्वथा लोप हो रहा था। परन्तु सत्य तो सत्य ही है, वह कुछ समय के लिये हतप्रभ भले ही हो जाय, फिर भी वह सर्वथा लुप्त नहीं हो सकता।

"अथवा किसी के मेटने से, सत्य मिट सकता नहीं।
घन घेर ले पर सूर्य का, अस्तित्व मिट सकता नहीं॥

परिणामतः देश के विभिन्न भागों में सत्यान्वेषी, सदाचारी, एक ही ब्रह्म को सृष्टि का नियन्ता मानने वाले एवं निरन्तर अध्यात्म चिन्तन व ईश्वर भक्ति में मग्न रहने वाले

समाज सुधारक और संत महात्माओं का आविर्भाव हुआ। इन महापुरुषो व दिव्य विभूतियों के अवतरण की शृंखला बंगाल से प्रारम्भ होकर विश्वनाथ की नगरी काशी में पहुँची। वहां से महाराष्ट्र व गुजरात में होते हुए राजस्थान में भी इसका विस्तार हुआ। इन में चेतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण परमहंस, एकनाथ, समर्थ रामदास, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, कबीर, दादू, दरियाव एवं स्वामी जयमलदास, चरणदास, हरिरामदास, रामदास एवं दयालुदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। समाज सुधारकों में राजा राम मोहनराय, गुरुदेव कवीन्द्र रवीन्द्र, स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी हुए।

इन महापुरुषों द्वारा भारत में सामाजिक एवं धार्मिक पुनर्जागरण का सूत्रपात हुआ। इनके द्वारा किये गये सुधारात्मक प्रयत्नों के फलस्वरूप, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज एवं आर्य समाज आदि की स्थापना हुई। विभिन्न संत मत के पंथ एवं सम्प्रदायों का प्रचलन हो चला। ठीक इसी प्रकार सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आन्दोलन के क्रम में राजस्थान में रामस्नेही सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। इनके प्रवर्तक मुख्य रूप से आध्यात्मिक पुरुष थे, अतएव यह सम्प्रदाय एक भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। इनके आचार्य सामाजिक तथा धार्मिक पुनः जागरण का कार्य सम्पन्न करने के अतिरिक्त समाज में सच्ची धर्म भावना व आध्यात्मिकता को प्रतिष्ठापित करने में विशेष सफल हुए, जिनका आगामी प्रकरणों में दिग्दर्शन करने का प्रयास किया जायगा।

दूसरा - अध्याय (२)

आध्यात्मिक साधना

वैदिक साधना

आर्यों की आध्यात्मिक साधना एवं धार्मिक आचार का आदि स्रोत वेद है। चारों वेद समस्त विश्वज्ञान का मूल भी है। इनमें से वेदत्रयी अर्थात् ऋग्यजुर्सामवेद आध्यात्मिक साधना के रूप में ज्ञान, कर्म एवं योग—इन तीन मार्गों का प्रतिपादन करते हैं। शताब्दियों से वैदिक धर्मानुयायी हिन्दुओं की साधना इन्हीं मार्गों का अनुसरण करती आई है। हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में से कभी किसी ने एक मार्ग को अधिक महत्व दिया तो किसी अन्य ने दूसरे को, परन्तु न्यूनाधिक रूप से तीनों ही साधन प्रणालियों का अनुष्ठान ऋषि, मुनि, योगी, आचार्यगण एवं संतों द्वारा होता आया है।

ज्ञान-योग समय-समय पर विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ है। परमतत्व एवं ब्रह्मसत्ता का पूर्ण ज्ञान जब ऋषि मुनियों को हुआ तो वे चुप नहीं रह सके। उनका यह ज्ञान उस परब्रह्म की स्तुति प्रार्थना के रूप मे प्रकट हुआ और हम पाते हैं कि वैदिक ऋषि उषा, वरुण आदि प्राकृतिक शक्तियों एवं उस निराकार पर ब्रह्म सत्ता की स्तुति करते करते झूम उठे। स्तुति-प्रार्थनामय उनकी यह आत्म-विभोरता आत्मलीनता की अवस्था में पहुँच कर उन्हें दिव्य अन्तर्दृष्टि प्रदान करती हुई प्रतीत होती है।

मोह, माया, ममता में आबद्ध मानव का जीवन अनासक्त
ने, इसके लिये भी सच्चे ज्ञान की आवश्यकता है। इस ज्ञान-ज्योति
ा अनुष्ठान करने पर ही कर्मयोगी का कर्म सचमुच में निष्कामभाव
ो प्राप्त होता है। अतएव कर्मयोगी का निष्काम कर्म भी ज्ञानाश्रित
। कोई भी ज्ञान विहीन साधक सच्चा कर्मयोगी कदापि नहीं बन
कता और जो ज्ञानयोगी है वह बिना कर्म किये हाथ पर हाथ धरे
ैठा नही रह सकता क्योंकि कर्म करने का सच्चा आनन्द कर्म का
म्यक् प्रकारेण सम्पादन करने में हैं। फल प्राप्ति का आनन्द उसके
मक्ष गौण है। अतएव कर्म योग तात्विक दृष्टि से ज्ञान योग का
ी प्रकट रूप है। यह कहना और भी अधिक समुचित होगा कि ज्ञान
ोग की पूर्णता निष्काम कर्म योग के रूप में होती है। श्रीमद् भगवद्
ीता में वर्णित निष्काम कर्म योगी होने का पात्र वस्तुतः वही व्यक्ति
ो सकता है, जिसने वेदान्त-ज्ञान को आत्मसात कर लिया है। यही
कारण है कि वेदान्त ज्ञान के प्रचारक आदि जगद्गुरु श्रीमद्शंकराचार्य
उस वेदान्त ज्ञान को प्राप्त कर—उस परमसत्ता का ज्ञानानुभव कर
कर्म पथ से विरत नहीं हुए। वे आत्मलीन कन्दरावासी संन्यासी
नहीं बने। उन्होंने कर्म को व्यर्थ अथवा त्याज्य नहीं बताया अपितु
वे एक धर्म प्रचारक, समाज सुधारक, मातृभक्त एवं सनातन धर्म के
उन्नायक और जनसेवक कर्मयोगी—सच्चे निष्काम कर्म योगी के रूप में
प्रकट हुए। यही नहीं कदर्यभाव को प्राप्त हुआ और कर्म पथ रूपी
स्वधर्म से च्युत होने को उद्यत अर्जुन कर्मवीर दूसरे शब्दों में निष्काम
कर्मयोगी कब बना ? कौन तत्व था जिसने अर्जुन को संन्यस्तवृत्ति का
परित्याग कर कर्म में प्रवृत्त किया ? उत्तर एकदम स्पष्ट है और सब
जानते हैं। यदि भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा ज्ञान का तत्वोपदेश न
होता तो अर्जुन अर्जुन न हो पाता।

यही कारण है कि श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण
ने सर्वप्रथम ज्ञान की महिमा प्रतिपादित की है, फिर कर्म की श्रेष्ठता

बता कर अन्त में संन्यास को त्याज्य कहा है। ज्ञान एवं कर्म में से श्रेष्ठ कौन है ? इस विषय में जिज्ञासु बनना और सुन कर जब कुछ निश्चय नहीं हो पाता तब अर्जुन की तरह हमारा भ्रमित हो जाना भी स्वाभाविक है। परन्तु तत्वज्ञानी हुए बिना निष्काम कर्म योगी नहीं बना जा सकता। यह हस्तामलकवत एकदम स्पष्ट है और विदेह जनक, स्वयं भगवान् श्री कृष्ण के जीवन चरित्र एवं महाभारत के युद्ध के पूर्व हुए अर्जुन के चित्त विभ्रम तथा तत्पश्चात् कर्म पथ में उसकी प्रवृत्ति के उदाहरणों से सिद्ध है। फिर भी यदि यह विभ्रम दूर नहीं होता कि ज्ञान व कर्म में से कौन श्रेष्ठ है ? किसे अपनाया जाय और किसका परित्याग किया जाय ? ऐसी किम्कर्तव्यविमूढता की अवस्था में 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजः' जैसा शरणागति रूपिणी भक्ति का उपदेश दिया जाता है। इस प्रकार ज्ञान एवं कर्म—इन दोनों में से श्रेष्ठ कौन ? इस विभ्रम एवं समाधान हेतु किये गये प्रयासों में भक्ति का बीज निहित है। अर्थात् आध्यात्मिक चिन्तन की उपर्युक्त द्वन्द्वनात्मक संघर्षमय स्थिति का समाधान श्रीभगवद्शरणागति एवं समर्पण के रूप में होता है। यहां से कर्म का त्याग नहीं, परन्तु भक्ति का विकास अवश्य होता है। कर्म की निष्कामता कर्म-समर्पणता का रूप धारण कर लेती है। अर्थात् कर्म योगी ज्ञानी जहाँ इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के विषयों में वर्त रही है जैसा अनासक्त भाव धारण करके कर्म करता है, वहाँ ज्ञान योगी भक्त, हे प्रभु ! जय-पराजय, यश-अपयश सब कुछ तेरा ही है, इसमे मेरा कुछ भी नही है, ऐसा समर्पणभावयुक्त हो कर कर्म करता है। यही भक्तियोग कहलाता है।

जहाँ तक योग अथवा राजयोग का प्रश्न है, यह ज्ञान द्वारा अनुभव की गई परमसत्ता का साक्षात्कार एवं उसका प्रत्यक्ष दर्शन करने का साधन है। उस परमसत्ता अथवा ब्रह्मशक्ति का दर्शन योगी को सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में होता है।

आस्तिक, धर्मभाव युक्त एवं ज्ञानयुक्त सज्जन भावों की आध्यात्मिक साधना केवल योगसाधन और परमसत्ता या परब्रह्म की स्तुति-प्रार्थना के द्वारा ही हुआ करती थी। पूर्व वैदिक काल में यज्ञानुष्ठान अथवा मूर्ति पूजा आदि विधान नहीं था। धीरे धीरे यज्ञ धर्मानुष्ठान का एक आवश्यक अंग बन गया फिर भी स्तुति-प्रार्थना का महत्व पूर्ववत् बना रहा और सामवेद के उद्घोषकों द्वारा उनका गाया जाना सिद्ध होता है। तत्पश्चात् त्रिकाल (या द्विकाल) संध्या में इन स्तुति-प्रार्थनाओं को सम्मिलित कर दिया गया। गायत्री मंत्र स्वयं में एक उच्चकोटि की प्रार्थना एवं संकल्पशक्ति का प्रतीक है।

परतत्व की अनुभूति एवं ब्रह्मसत्ता का ज्ञान जैसा कि पूर्व उल्लिखित किया जा चुका है स्तुति-प्रार्थना के रूप में प्रकट हुआ क्योंकि ज्ञान ही गुणगान का आधार एवं प्रीति का कारण हुआ करता है। परमसत्ता परमेश्वर के अस्तित्व का ज्ञान एवं उसकी दिव्यता व भव्यता का अनुभव कर वैदिक ऋषियों ने उसकी वन्दना में अनेकों ऋचाओं का प्रणयन किया और सामवेद के उद्घोषकों ने गायन। यह परम्परा चलती रही। स्तुति-प्रार्थना एवं उसके गायन ने कालान्तर में एक नवीन दर्शन को जन्म दिया, जो भागवत भक्ति दर्शन के नाम से विख्यात है।

'भक्ति' का अर्थ भगवच्चरणों में जीव की अनन्य रागानुरक्ति का होना है। भगवच्चरणों में प्रेम की उत्पत्ति तब होती है, जब व्यक्ति को उसकी सत्ता व दिव्यता का ज्ञान होता है। परब्रह्म शक्ति के ज्ञान से उसके प्रति अनुराग होता है और अनुराग की अभिव्यक्ति स्तुति प्रार्थना द्वारा होती है। जैसे-जैसे इस प्रेम की अनन्यता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे भक्ति भी दृढ होती जाती है। एक स्थिति ऐसी आती है, जब इस अनन्यता में भक्त अपने को उसी प्रकार खो देता है, जिस प्रकार ज्ञानी जीव व ब्रह्म की एकता का

प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है अथवा जैसे सांख्य-योगी यम
उस परमतत्व परमेश्वर का ही दर्शन पाने लग जाता है
वैदिक ज्ञान योग, कर्म योग एवं राजयोग और तत्पश्चात्
के क्रमिक विकास का सूत्र इस प्रकार दर्शाया जा सकता:—

वैदिक साधना

ज्ञान योग

राजयोग

प्रार्थना

कर्मयोग

योग
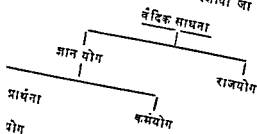
उपनिषद्काल के पश्चात् वैदिक स्तुति-प्रार्थना में एक
वर के विविध गुण, कर्म एवं शक्ति को दर्शाने वाले अनेक नामो
न भिन्न देवी देवताओं के रूप में ग्रहण किया जाने लगा और
एकेश्वरवाद के स्थान पर बहुदेववाद का प्रचलन हो चला। उधर
बौद्ध काल में भगवान् बुद्ध एवं जैन धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप
यज्ञानुष्ठान की परम्परा टूटने लगी। तब यज्ञों के स्थान पर मूर्ति
पूजा का प्रचलन हो गया। निर्गुण ब्रह्म की विचारधारा सगुण
ईश्वर के रूप में परिवर्तित हुई और अनेक देवी देवताओं तथा
अवतारों के मन्दिर बनवाए जाने लगे। वैदिक काल मे ही प्रचलित
निर्गुण-ब्रह्म की स्तुति-प्रार्थना का स्थान सगुण ईश्वर की आरती तथा
षोड्शोपचार ने ले लिया। फलतः स्तुति-प्रार्थनामय ज्ञानाश्रित
पूर्वोक्त 'भक्ति' भावाश्रित नवधा भक्ति में बदल गई।

वैष्णव नवधा भक्ति एवं मूर्ति पूजा भागवत दर्शन की देन
है। यह ज्ञानाश्रित कम और भावाश्रित अधिक होती है। भगवान्
के श्री विग्रह की प्रस्थापना, प्राण प्रतिष्ठा महोत्सव एवं तदनन्तर

उषाकाल से सांयकाल पर्यन्त वैष्णव पूजा पद्धति के माध्यम से एक भावात्मक सृष्टि का सृजन होता है और एक भावपूर्ण आकर्षण धार्मिक परिवेश महक उठता है। भावुक तथा श्रद्धालु भक्त ऐसे सुन्दर व मोहक परिवेश में प्रविष्ट हो भगवान् की आरती, पूजा और भोग में सम्मिलित होता है, तब एक तरफ जहां वह अपूर्व मानसिक शान्ति का अनुभव करता है, वहां दूसरी तरफ भगवद्दर्शन की उसके अन्तस्तल की चिर लालसा भी देव प्रतिमा के रूप में भावात्मकस्तर पर श्री भगवान् के दर्शन पा कर परमशान्त हो जाती है। ऐसे भावाश्रित भक्तों के लिये ही महामना तुलसीदासजी ने कहा है—'जिसकी रही भावना जैसी, प्रभु मूर्ति देखी तिन तैसी।' अतएव भक्ति के भी दो रूप हो जाते हैं—ज्ञानाश्रित निर्गुण भक्ति एवं भावाश्रित सगुण भक्ति। निर्गुण भक्ति का साधन वैदिक काल में जहां स्तुति-प्रार्थना और योग-साधना के रूप में किया जाता था वहां संत मत में इस भक्ति का साधन राम नाम के स्मरण और सुरति-शब्द की साधना के रूप में 'सहज योग' के रूप में किया जाता है। सगुण भक्ति साधना प्रतिमा को षोड्षोप सेवा और नवधा साधन के रूप में की जाती है।

शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:—
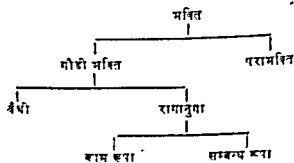
रामस्नेही साधना

रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्यों [
साधकों ने वैदिक काल से चली आ
रही परम्परागत ज्ञान, कर्म एवं यो
अथवा स्तुति-प्रार्थना [भक्ति] और
उपासना [राजयोग] या दूसरे शब्दों में भक्ति और योग को
अपनाया है। स्तुति-प्रार्थनामय ज्ञानाश्रित परामक्ति के साथ 'राम'
नाम का स्मरण और योग का समन्वय करके इन्होंने आध्यात्मिक
साधना की एक विशिष्ट प्रणाली को विकसित किया है। इस उपासना
पद्धति को आचार्यों एवं वाणीकार महापुरुषों द्वारा 'रामभजन'
'भक्ति' या 'रामभक्ति' 'नाम सुमिरण' अथवा 'योगसहित नामस्मरण'
आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। इनके साम्प्रदायिक वाणी
साहित्य में जहाँ कहीं 'रामभजन' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ
है, वहाँ वे साधक या भक्त को 'राम' शब्द का 'मुखजाप' करने
को नहीं कहते, अपितु आध्यात्मिक साधना की एक विशिष्ट
प्रणाली का अनुसरण कर आत्मसाक्षात्कार करने को उद्बोधित
करते हुए प्रतीत होते हैं। इस विशिष्ट साधना प्रणाली का सार
गुरु शिष्य सम्वाद के रूप में वाणी साहित्य में उपलब्ध होता है
उसका अर्थ एवं भावानुवाद यहाँ दिया जा रहा है।

साधना की विधि

"शिष्य ने श्रीगुरु के चरणों में उपस्थित
हो कर प्रश्न किया कि हे गुरुदेव !
आप मुझे 'रामभजन की रीत' समझाइये
जिसे जान कर मेरी बुद्धि में अनुभव
...द ज्ञान का प्रकाश हो और मैं आत्मविज्ञान की खोज करने में
...र्थ हो सकूं'। अनुक्रमसहित स्मरण के सब स्थानों के भेद भली-
... स्पष्ट कीजिये ताकि शिष्य सिद्धान्त पद को प्राप्त हो।"

"प्रत्युत्तर में श्री गुरुदेव फरमाते हैं कि हे शिष्य
...न की विधि मुझ से सुनो और उस पर विश्राम कर

आचरण करो । इससे निश्चय ही तुम 'पिण्ड' में ही परब्रह्म के दर्शन करने में समर्थ हो सकोगे । यह विधि इस प्रकार है कि सर्व प्रथम सिद्धासन अथवा पद्मासन लगा कर एक हाथ के ऊपर दूसरा हाथ रखो और नाक के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर करके रसना से स्मरण करते हुए 'राम' शब्द में चित्तवृत्तिका निरोध करो ।"

"'राम' शब्द के स्मरण की आवाज इतनी मन्द हो कि केवल स्वयं के कानों से श्रवण की जा सके । फिर 'सुरत' का मेल शब्द के साथ रखो । इस विधि से बिना विलम्ब किये अविराम श्वासोच्छ्वास 'राम' शब्द का स्मरण (जप) करने से सर्वप्रथम एक दिव्य प्रेम लहरी प्रकट होगी, जिह्वा पर मिष्ठ रसानुस्वाद की प्रतीति होगी और आनन्दानुभूति से कण्ठ गद्‌गद् हो जायगा जिससे इस अनुभूति को व्यक्त करने के लिये एक शब्द भी मुख से नहीं फूट सकेगा ।"

"तत्पश्चात् कण्ठ में जीवात्मा को चेतन्य कर अन्तस्तल के मार्ग को चल पड़ना जहाँ हृदय स्थान पर पहुँच कर मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार मिल कर एक हो जाने से ध्यानावस्थित हो जाओगे । इस ध्यानमग्न अवस्था में मधुर मुरली जैसी सुहावनी ध्वनि श्रवण करना । अब शरीर में रोमाञ्च होगा, घम-घम जैसी ध्वनिएँ सुनाई देगी । हृदय में एक अनूठे आनन्द का उदय होगा और मुख से बोलना सुहायेगा तक नहीं ।"

"दृष्टि को नासिकाग्र भाग पर केन्द्रित करके और ध्यान को शब्द की गति में लगा कर तत्परता एवं लग्नपूर्वक स्मरण करने से नाभिस्थान पर मन तथा प्राण एक हो जायगा अर्थात् मन का प्राण में लय हो जायगा । इससे पूर्व हृदयस्थल

में चित्त, मन, बुद्धि एवं महकार में एकता स्थापित हो जा
कारण ध्यानावस्था प्राप्त हुई और नाभि मे मन का प्राण
लय हो जाने से 'निरत' की अभिलाषा पूर्ण हो जायगी।"

"इस प्रकार नाभि कमल का 'परचा' प्रकट होने प
भंवरे के पंख सदृश शब्द की 'झणकार' (ध्वनि) होती है और
रग-रग तथा रोम रोम से 'ररर' का स्वतः ही उच्चारण होने
लगता है। यहीं पर 'अजपाजाप' होता है। 'सुरत' शब्द से विरत
नहीं होती और 'पिण्ड' में ही ब्रह्माण्ड प्रकट होता है एवं परब्रह्म
के दर्शन हो जाते हैं।"

"तदनन्तर श्री गुरुदेव कहते हैं कि हे शिष्य सप्तपयालो
से हो कर बहने वाले उस रस का पान करना जहाँ आकाश चढ़
कर धरती पर जलवृष्टि होती है। फिर गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान
से आगे मेरुदण्ड के मार्ग में प्रवेश करना। मेरुदण्ड के इक्कीस
बंधनों को पार कर अधः एवं ऊर्ध्व की संधि में प्रवेश किया
जाता है। यहाँ पर विद्युत का सा प्रकाश होता है और वर्षा की
झड़ी सदा लगी रहती है। वहाँ लाखों आकाशों के बराबर अवकाश
अर्थात् शून्यता है। फिर भी हे शिष्य साधना का अन्त यहाँ पर
नहीं हो जाता। अतएव तुम अपनी 'सुरत' को यहाँ से आगामी
घर में प्रवेश करने के लिये प्रेरित करना।"

"जब तुम दसवें द्वार में प्रवेश करोगे तो वहाँ बिन
'नीव' का 'देवल' (मन्दिर) देखोगे जहाँ बिना झालर के (बाजा)
झणकार (ध्वनि) सुनाई देगी और वहाँ मूर्ति के नहीं होने पर भी
मूर्ति (भगवान्) दिखाई पड़ेगी अर्थात् निराकार ब्रह्म के ज्योतिर्मय
स्वरूप का दर्शन होगा। तत्पश्चात् त्रिकुटी में प्रवेश करें, जहाँ
इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियों का मेल होता है वहाँ स्नान
करने से कौवा हंस बन जाता है अर्थात् जीवात्मा त्रिकुटी पार

करने के पश्चात् परमात्मा रूप बन जाता है। वहां सुरत श्रवण में सम्मलती है, अनेक बाजे बजते हैं और झिलमिल करती हुई एक विशेष ज्योति (ब्रह्म ज्योति) प्रकाशित होती रहती है, जिसे केवल वही जान सकता है, जो वहां पहुँच जाता है।"

"हे शिष्य ! वहाँ पहुँच कर जीव शून्य (ब्रह्म) में समा जाता है और प्रियतम परमात्मा का दर्शन कर 'सुरत' उसके चरणों में लिपट जाती है। महाशून्य ही उसका भवन है, सुमति दासी है, परमात्मा प्रियतम है, जिसके साथ 'सुरत' सुन्दरी रमण करती है। उस अगम घर में कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता। सर्वत्र असीम समता का सुख व्याप्त है। इस अवस्था में ब्रह्म समाधि लगती है, जिससे 'जीव' और 'सीव' अर्थात् जीवात्मा एवं परमात्मा में एकता स्थापित हो जाती है।"

"श्री गुरुदेव फरमाते हैं कि हे शिष्य ! जिस प्रकार गूंगा सैन (संकेत) मात्र से पूरा आशय समझ लेता है, ठीक उसी प्रकार पर ब्रह्म का साक्षात्कार करने का मार्ग एवं उसके 'परचे' का संकेत मैंने दे दिया (अधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह वर्णनातीत है) फिर भी समझदार शिष्य थोड़े से ही समझ लेता है।"

श्री परसरामजी महाराज कहते हैं कि मेरे गुरुदेव श्री रामदासजी महाराज ने भजन करने का यह भेद अर्थात रामस्मरण की विधि और उसका रहस्य मुझे बताया है। अब इसे दृढतापूर्वक धारण कर आचरण करते हुए धैर्य रखो; अवश्य ही श्री राम, गुरु एवं संतों की कृपा से उद्धार होगा।"[1]

---

१. यह योग विधि वर्णित राम स्मरण और अंतर्मन में वर्णित सहज योग की समानता है। आचार्यों की वाणी में इसका इसका विशद वर्णन मिलता है। यहाँ सार रूप में यह 'गूढ़' चित्र प्रस्तुत किया है। अधिक

यह वस्तुतः योग साधना है । परन्तु यह पातञ्जल योगशास्त्र में वर्णित राजयोग से स्वरूप एवं साधना में भिन्न है। इस की विशिष्टता का दिग्दर्शन योग साधना का स्वरूप शीर्षान्तर्गत आगे किया जायगा।"

आचार्यों एवं वाणीकार महात्माओं को हम योग साधना के अतिरिक्त 'भगवद्शरणागति' के भावों से भी ओत प्रोत पाते हैं। भगवान् की कृपा और अनुग्रह को जीवात्मा के उद्धार के लिये आवश्यक मानते हैं।

'शरण तमारी रामजी, शिव को सुणों पुकार।
मैं हूं वायस ज्याज को, और न को आधार॥
[श्री दयालु०]

संसार से पार उतरने का कारण (उपाय) वे भगवत् कृपा को स्वीकार [करते हैं और जब उस समर्थ स्वामी का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है तब भव बंधनों से मुक्त होने में कुछ भी समय नहीं लगता, तत्काल मुक्ति सम्भव हो जाती है। ऐसी उनकी मान्यता है। अतएव आचार्य श्री दयालुदासजी म० परम प्रभु परमात्मा से कृपा दृष्टि निक्षेप करने की प्रार्थना करते हैं:—

'समथ सहज सभाय है, छोड़ावण कहा वेर।
जग तारण कारण कृपा, टुक इक सांमो हेर॥'
रामदास को विनतो, राम निजर भर जोय।
[श्री दयालु०]

जानकारी के लिये 'घमर निशाणी' की टीका [भट्टाचार्यवाणी] द्रष्टव्य है। प्रस्तुत पुस्तक में 'भक्ति' का स्वरूप: [illegible] प्रकार' 'योग साधना का स्वरूप' विषयान्तर्गत इसी साधना पद्धति का विवेचन करने का प्रयास किया गया है।'

उस दिन का उदय होना सफल माना जायगा, जिस दिन भक्त वत्सल भगवान् की अनुकम्पा होगी। अतएव राम के दास श्री दयालुदास की यह प्रार्थना है कि हे परम प्रभो! अनुग्रह प्रदान कर इस जीवात्मा का कल्याण कीजिये।—

> 'उदय दिवस आयो भलो, महरवान महाराज।
> रामदास की वीनती, करिये जीव को काज॥
> [श्री दयालु०]

भगवद् कृपा के समक्ष प्रारब्ध कर्म भी तुच्छ है। होनहार तो कहने सुनने की बात है। करने वाला तो वही (ईश्वर) है। इसलिये जैसा वह करता है, वैसा ही होता है।

> 'भाग बड़ो नहीं राम सूं, राम इच्छा ज्यूं होय।
> हुणहार वाकी कहीं, कारण करता सोय॥
> [श्री दयालु०]

वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि कर्म की सत्ता एवं भगवान् को कृपा में से महान् कौन है? इस पर लोगों को विवाद करते जब देखता हूं तो मुझे बड़ा आश्चर्य होता है क्योंकि परमात्मा तो वर्णनातीत (अलेख) है। उसकी तुलना में बिचारे कर्म (प्रारब्ध) की क्या हस्ती है?

> कर्म बड़ा कि हरि बड़ा, यह अचरज मोहि आय।
> हरि तो लेख अलेख है, साधु वचन यों जाय॥
> [श्री दयालु०]

अतएव वे श्री भगवान् की शरण को प्राप्त होकर बड़ी निश्चिन्तता का अनुभव करते हैं? इसमें वे दृष्टान्त देते हैं कि 'अब मैं ल्यो पशु नहीं हूँ मुझ पर धणी का धणियाप यानि स्वामी का स्वामित्व है' अर्थात् आवारा पशु को उसके दाने-पानी की चिन्ता

स्वयं करनी पड़ती है, परन्तु पालतु को अपने चारे-दाने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती क्योंकि उसके दाने-पानी की चिन्ता तो मालिक करता है। स्वामित्व वाले पशु की तरह जब भक्त वत्सल भगवान् के चरण कमलों का आश्रय प्राप्त हो गया है, तब भक्त के स्वकल्याण की चिन्ता भी वह परम दयालु स्वयं करेगा।

'रामदास की बीनती, तम जानो हर जन्न ।
रूल्यो पशु अब मैं नहीं, राम धणी धणियाप ।
आपण लूटं आव घर, स्यामक आपो आव ॥

[श्री दयालु]

और भी :—

चिन्ता दीन दयालु को, मो मन सदा आनन्द ।
जायो सो प्रति पालसी, रामदास गोविन्द ॥

[श्री रामदासजी म०]

अतएव :—

'नफा अनत ताकाल मिल, कर अर्पण सब नाथ ।
प्रभु परसण हुय परसराम, तत छिन होत सुनाथ ॥

[श्री परसरामजी]

क्योंकि :—

मुक्ति रूपी फल को प्राप्त करने का मार्ग बड़ा ही 'अगम' है। अपना तन मन आदि सर्वस्व प्रभु चरणों में समर्पित करने वाला ही इसे पा सकता है। जो यह सब कुछ समर्पण नहीं कर सकता उसे इस संसार रूपी वाटिका में आ कर मुक्ति रूपी फल को प्राप्त किये बिना ही खाली हाथ लौट जाना पड़ता है :—

'रामदास फल अगम है, तन मन दीया जाय ।
तन मन दीया बाहिरो, जग में खालो जाय ॥

[श्री रामदासजी म०]

वे निर्गुण ब्रह्म की स्तुति-प्रार्थना और विरह निवेदन करते हुए भी नहीं अघाते। यहाँ तक कि सिद्धिपरक योग को भी आध्यात्मिकता के समक्ष तुच्छ व हेय समझते हैं। वे स्वयं को 'अपगामी', 'अपराधी', 'निर्बल', 'हरामी' या कृतघ्न और 'श्वास श्वास का चोर' तथा संसार में अपने को सबसे तुच्छ मान कर उस पतित पावन दयालु परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि वह अपना 'विरद' [पतितों का उद्धार करने का प्रण) स्मरण कर उद्धार करें।

इस प्रकार भगवान् के चरणों में श्रद्धा व अनन्य अनुराग का होना और स्तुति-प्रार्थना द्वारा निराकार-सर्वव्यापी ब्रह्म का गुणगान करना भी 'रामस्नेही साधना' का एक अनिवार्य अंग है। दूसरे शब्दों में भक्ति' का साधना पद्धति में महत्वपूर्ण किंवा सर्वोपरि स्थान है और भक्ति बिना योग साधना अधूरी प्रतीत होती है। अतः मोटे तौर पर इस साधना प्रणाली के तीन अंग प्रतिपादित किये जा सकते हैं:—

१. 'राम' नाम का स्मरण
२. भक्ति स्तुति-प्रार्थना एवं विरह व्याकुलता
३. योग साधना

इन तीनों अंगों को निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत पुनर्वर्गीकृत किया जा सकता है:—

१. भक्ति
२. योग

'भक्ति' एवं 'योग' का आगामी प्रकरणों में विस्तारपूर्वक विवेचन करने के साथ ही साथ 'साधना का प्रकार' विषयान्तर्गत साधना प्रणाली की क्रमिक अवस्थाओं एवं उसमें 'राम' नाम के स्मरण के माध्यम से शब्द की पराशक्ति की साधना पर प्रकाश डाला ..।

तीसरा - अध्याय (३)

साधना का प्रकार

रामस्नेही सम्प्रदाय उपनिषदों की विशुद्ध एकेश्वरवाद की विचारधारा पर आधारित है और ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करता है। परिणामस्वरूप आचार्यों ने आदि वैदिक युग अथवा उपनिषदों में प्रतिपाद्य स्तुति प्रार्थना विधान को ही बिना किसी बाह्य उपादान की अपेक्षा के अपना मुख्य पूजा विधान चुना है। उपासना को सम्प्रदा की भाषा में मानसिक पूजा (घट ही में देवल घट ही में पूजा) क कर अभिव्यक्त किया गया है। अतएव रामस्नेही साधन अन्यान्य वैष्णव सम्प्रदायों से कई कारणों से भिन्न है। प्रथम, इनकी भक्ति निर्गुण भाव की है। द्वितीय, इनका लक्ष्य सिद्धावस्था को पराभक्ति को प्राप्त करना होता है। तृतीय, भक्ति साधना में यो को भी समाविष्ट किया गया है, जिसके द्वारा सिद्धावस्था को पराभति को प्राप्त करना सम्भव हो सके। चतुर्थ, तारक बीज मंत्र भी 'राम नाम का स्मरण भक्ति और योग एवं ध्यान के आलम्बन के रूप किया जाता है। पांचवा व अन्तिम, विरह को भक्ति की परिपूर्ण के लिये साधना की एक आवश्यक अवस्था के रूप में स्वीकार कि गया है। अतएव रामस्नेही साधना प्रणाली के आवश्यक अंगों निम्नरूप इस प्रकार किया जा सकता है—१. 'राम' नाम का स्मर २. स्तुति-प्रार्थना ३. विरह व्याकुलता एवं ४. योग साधना

इस प्रकरण में केवल राम नाम के स्मरण का मात्र सामान्य प्रतिपादन किया जायगा। विशेष के लिये 'योगसाधना का स्वरूप' द्रष्टव्य है।

'राम' नाम का स्मरण

श्री सद्गुरुदेव द्वारा शिष्य को सर्व प्रथम तारक बीज मन्त्र 'राम' नाम का श्रवण कराते हुए इसी मन्त्र की साधना का उपदेश दिया जाता है। परन्तु 'राम' नाम का स्मरण केवल 'मुख जाप' मात्र नहीं है। यह एक साधना है, जिसकी सिद्धि पर ही भक्ति व योग की सफलता अवलम्बित है। अतएव वे 'राम' नाम को मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय बताते हुए अहर्निश स्मरण करने का आदेश देते हैं—

> राम नाम बिन मुक्ति की, जुक्ति न ऐसी और।
> जनहरिया निशिदिन भजो, तजो दूसरी ठौर॥'

इस 'राम' नाम का स्मरण करने से ही ब्रह्म दर्शन की प्राप्ति होती है और साधु वस्तुतः साधु बन जाता है—

> 'सिवरण सूं साँई मिलै, सेवग सदा हजूर।'
>
> ×　　×　　×　　×
>
> 'रामदास सिवरण कियां सिवरण निपजै साध।'
>
> ×　　×　　×　　×
>
> 'हरि सिवरण कर लीजिये, साँस उसांसों ध्याय।
> रामदास सिवरण कियां, साहिब मिलसी आय॥'

यहाँ पर ऐसी आशंका होना स्वाभाविक है कि 'राम' नाम के स्मरण को इतना श्रेष्ठत्व क्यों प्रदान किया गया है? और दूसरी यह कि कहीं कहीं स्वयं आचार्यों व उनके शिष्यों ने या तो 'माला जाप' को निम्न बताया है अथवा उनके द्वारा ज्ञान के समक्ष 'नाम' को व्यर्थ कहा गया है।

'राम कहा तो क्या भया, जाण्या नहीं विचार ।
रामा ज्ञान विचार बिन, सुध बुध नहीं लिगार ।।

इस प्रकार एक तरफ नाम स्मरण की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गई है और वे 'राम' नाम के महात्म्य का वर्णन करते-करते नहीं थकते परन्तु दूसरी तरफ 'विचार' बिना 'राम' कह लेने से कुछ भी नहीं होगा, ऐसा भी वे ही कहते हैं ! इतना ही नहीं 'माला' फेरने और 'राम' नाम का संख्यात्मक जप करने का वे स्पष्टतः खण्डन भी करते हैं ।

माला मांही मन बसे, गिणबो लेवे नांम ।
जन हरीया तन भीतरे, कैसे पावे रांम ।।

× × × ×

मिणिया घड़िया काठ का, धागे पोया सूत ।
इणो भरोसे रामदास छोड़ै नहिं जमदूत ।।

× × × ×

'कर काष्ठ की मालका, संसा रह्या न कोय ।
परसराम उन फेरियां, कारज कछु न होय ।।

यहां पर उपर्युक्त शब्दों में अन्तर्विरोध होने की आशंका करना उचित प्रतीत नहीं होता । क्योंकि इनसे तो यह स्पष्ट होता है कि रामस्नेही साधना प्रणाली में 'राम' नाम के महात्म्य का जो प्रतिपादन किया गया है, वह मुखजाप के रूप में कदापि नहीं हो सकता । वस्तुतः रामस्नेही साधना प्रणाली में बीज मन्त्र 'राम' नाम के संख्यात्मक अथवा मुखजाप को महत्व नहीं दिया गया है अपितु 'मन पवन' की एक विशिष्ट साधना प्रणाली के रूप में 'राम' नाम परब्रह्म का वाचक होने के कारण ही वह महत्वपूर्ण बन जाता है । यथा:

मन माला सतगुरु दई, सुरति सूत सुं पोय
फेरतई हरि पाईयं, अगम उजाला होय ॥

× × × ×

मन माला कूं फेर ले, तिवरो सास-उसास।
रामदास इण फेरियां, करं ब्रह्म में वास ॥

× × × ×

'सहजां माला मन की, पोय पवन के तार।
परसराम अन्तर फिरे, ज्यों फिरत चक्र तिसमार ॥

इसका तात्पर्य परब्रह्म रूपी ध्येय में भक्त रूपी ध्याता की चित्तवृत्ति का निरोध करना है, जो ध्यान के द्वारा सम्भव है। यहाँ 'राम' नाम परब्रह्म का प्रतीक है और उसका स्मरण ध्यान-साधना के रूप में होता है। अर्थात् मुख, कण्ठ हृदय, नाभि आदि से उच्चरित 'राम' नाम में चित्तवृत्ति का निरोध कर परब्रह्म का चिन्तन किया जाता है। अतएव नामस्मरण की विधि नासिकाग्रह भाग पर दृष्टि स्थिर कर पद्मासन या सिद्धासन लगा कर करना बताया गया है। अतएव नाम स्मरण रामस्नेही साधना में 'ध्यान' के पर्याय के रूप में ग्रहीत हैं। यह ध्यानही समाधि के रूप में परिपक्व हो कर ब्रह्म दर्शन कराता है।

द्वितीय, इस साधना प्रणाली में 'राम' नाम का केवल मुखजाप नहीं किया जाता अपितु शब्द शक्ति की साधना की जाती है। इस साधना का क्रमिक विकास होता है और पूर्व मे पर अवस्था को उत्तम बताया गया है। साधक को एक अवस्था की सिद्धि हो जाने के पश्चात् दूसरी की ओर अग्रसर होने का स्पष्ट आदेश है:—

'प्रथम राम रसना सुमरि, द्वितीये कण्ठ लगाय।
तृतीये हिरदै ध्यान धरि, चौथे नाभी मिलाय ॥
(श्री हरि०)

उन्होंने इस साधना में प्राप्त स्वानुभवों का अति प्रानन्दविभोर भाव से उल्लेख किया है आचार्य श्री रामदासजी म० ने तो इस शब्द शक्ति की साधना में व्यतीत समय का भी स्पष्ट निर्देश किया है—

'प्रथ सिवरण रसणा लिया, मास दोय इक सांस।
कण्ठ कमल में रामदास, प्रेम भया परकास॥

× × × ×

'मध सिवरण कण्ठ होत है, गदगद उठ इक धार।
सूरा साधु रामदास, करत हुवा को सार॥

× × × ×

'वरस एक ग्रह पंच दिन, हुवा कंवल में ध्याय।
उत्तम सिवरण रामदास, सहजां सुरत लगाय॥

× × × ×

'प्रत उत्तम सिवरण नाभ में, रूंम रूंम झणकार।
रामदास गुरु सबदतें, सहजां लगी पुकार॥

इस प्रकार नामस्मरण के चार स्थान एवं चार ही भेद हो जाते हैं।—

स्मरण के स्थानः—१. रसना २. कंठ ३. हृदय ४. नाभी।
स्मरण के भेदः— १. प्रथम २. मध्यम ३ उत्तम ४. प्रत्युत्तम।*

अतएव बीज मंत्र 'राम' नाम के स्मरण को केवल मुखजाप या साधारण शब्द मात्र नहीं समझा जा सकता। नाम 'शब्द ब्रह्म' है और उसकी साधना शब्द शक्ति तथैव ब्रह्मसत्ता की

---

* विस्तार के लिये 'योग साधना का स्वरूप' अध्यायान्तर्गत देखिये।

साधना है[१]। यह 'शब्द ब्रह्म' क्या और कैसा है, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि विश्व की उत्पत्ति के पूर्व जो सद्वस्तु शेष थी, वह 'ररंकार' रूप ही था—

> 'ॐकार भी नाहीं हुता, नाहिं सोहं श्वासा।
> धर अम्बर भी नाहिं हुता, नहीं देव विलासा॥
> चन्द सूर भी नाहिं हुता, नहीं पवन न पानी।
> तीन देव भी नाहिं हुता, नहीं खान रु बानी॥
> असंख्य युग परले गया, जठा पहल की बात।
> तद ररंकार रहमान था, ता दिन राम साथ॥"
>
> (श्री दादासजी म०)

इसकी व्याख्या पण्डित प्रवर संत श्री उत्साहरामजी महाराज इस प्रकार करते है—

"सारांश यह है कि शब्द ब्रह्म का आदि अक्षर ॐ कार भी जब उत्पन्न नहीं हुआ था, और प्राणायाम की सिद्धि का कारण भूत 'हंस सोऽहं' शब्द भी नहीं था। पृथ्वी, वायु, आकाश, तेज, जल आदि तत्वों का भी जिस समय अभाव था, अनुविंशत्यात्मक शक्तियों के अधिष्ठाता देव गण का भी जब प्रादुर्भाव हुआ नहीं था सूर्य, चन्द्र, ब्रह्मा-विष्णु शंकरादि विभूतियें भी जब नहीं थी—ऐसे असंख्य युगों के पूर्व की बात है कि उस दिन भी परमतत्व ररंकार ब्रह्म रूप से व्याप्त था और चित्तस्वरूप में हम भी उसके साथ थे।"

"इसी कथन को भगवती श्रुति भी प्रमाणित करती है कि:—

---

१. [illegible] (श्री [illegible])
[illegible] (श्री [illegible])

साधना है[१] । यह 'शब्द ब्रह्म' क्या और कैसा है, इस स
कहा गया है कि विश्व की उत्पत्ति के पूर्व जो सद्व
थी, वह 'ररकार' रूप ही था—

> 'ॐकार भी नाहीं हुता, नाहि सोहँ श्वासा ।
> धर अम्बर भी नाहि हुता, नहीं देव विलासा ॥
> चन्द सूर भी नाहि हुता, नहीं पवन न पानी ।
> तीन देव भी नाहि हुता, नहीं खान र बानी ॥
> असंख्य युग परले गया, अठा पहस की बात ।
> तब ररंकार रहमान था, ता दिन राम साथ ॥''
> (श्री रादासजं

इसकी व्याख्या पण्डित प्रवर संत श्री उत्सा
महाराज इस प्रकार करते है—

इस प्रकार यह शब्द ब्रह्म की उपासना है और वे शब्द तथा ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन इन शब्दों में करते हैं—

सहज सबद सं उपजे, सबद सहज के मांहि।
हरिया सहजां सबद ले सबद सहज मिल जांहि॥

जब अपनी वाणी में 'ज्ञानविचार' या 'विचार' के अंग रूप में आचार्य 'ज्ञान विचार' के बिना 'नामजप' की व्यर्थता की ओर संकेत करते हैं, तब ज्ञान का अभिप्रेत शब्द साधना की उपर्युक्त प्रणाली का ज्ञान प्राप्त करने और 'विचार' का तात्पर्य केवल मनन या सत् असत् का विवेक का होना न ले कर उस पर 'अमल' करने की क्रियात्मकता के अर्थ में लेना वाणी साहित्य के भावानुकूल अधिक होगा जैसे—

'मुख सेती पाणी कहै, पीवे नहीं लिगार।
रामदास पीयां बिना, प्यासा रहे संसार॥
पावक कहियां क्या हुवे, मांहि न चांपे पांव।
रामदास चांप्या बिना, यूं ही भूठा दाव॥
रामदास उलटा मिल्या, मुंन सागर के मांहि।
ज्ञान विचार' र देखिया, दूजा कोऊ नांहि॥

अर्थात् संसार के लोग मुख से पानी पानी कहने के सदृश नामस्मरण अथवा कथा कीर्तन करते अवश्य हैं, परन्तु उनमे प्रेमाभक्ति का अभाव होता है। भक्ति रूपी भगवत्प्रेम का पान किये बिना केवल शब्दोच्चारण से हरिदर्शन की प्यास बुझ नहीं सकती। अतएव सारा संसार प्यासा (आत्मसाक्षात्कार से विहीन) हो भटकता है। इसी तरह पावक कहने मात्र से क्या हो सकता है? अग्नि कहने मात्र से शीत की निवृत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् लोग वाचक ज्ञानी बनते हैं और सिकल-विकल मन (चंचल चित्तवृत्ति से) जप आदि करते हैं, परन्तु उससे भला क्या हो सकता है? जब तक अग्नि को प्रज्वलित नहीं किया जाता और उस पर अंग नहीं सेकते तब तक शीत निवृत

नहीं हो सकता। उसी प्रकार जब तक ज्ञान विचार करके यानि भलीभाँति समझ कर राम नाम की साधना द्वारा शब्द को पराशक्ति को प्रकट नहीं किया जा सकता तब तक केवल 'राम' शब्द का उच्चारण करने या जप करने मात्र से भी मुक्ति सम्भव नहीं है।"

"फिर वे स्वयं के सम्बन्ध में कहते हैं कि जब मुझे गुरुपदिष्ट साधना प्रणाली का ज्ञान हुआ और उसके साधन में क्रियात्मक रूप से प्रवृत हुआ तब प्रेमाभक्ति का उदय हुआ, भीतर विरह की अग्नि धधकने लगी और परा भक्ति तथा राम नाम की परा शब्द शक्ति के प्रकट होने के कारण मेरा जीवन ही उल्टा (परिवर्तित) हो गया क्योंकि डा० सर्व पल्ली राधाकृष्णन के शब्दों में—'धर्म तत्त्वतः एक रूपान्तरकारी अनुभव है, एक प्रवुद्ध जीवन है। धर्म अनिवार्यतः दुबारा पैदा होने की अवस्था है।"[1] यही बात आचार्य श्री रामदासजी. म० स्वयं के लिये कहते हैं। अन्ततः इस रूपान्तरकारी अनुभव के पश्चात् वे बताते हैं कि वह सुन सागर में समा गये अर्थात् परब्रह्म मे लीन हो गये। इस प्रकार जब ज्ञान-विचार कर देखा अर्थात् साधना प्रणाली को क्रियात्मक रूप दे कर जब भक्ति, योग व ध्यान की सिद्धि प्राप्त कर ली, तब उस अवस्था में केवल एक ब्रह्म ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगा। वहाँ उस अवस्था में परब्रह्म के सिवा अन्य कोई नहीं था।"

प्रायः बहुत से लोग कुतर्क प्रस्तुत किया करते हैं कि यदि पानी कहने से प्यास नहीं बुझती, शक्कर कहने से मुंह मीठा नहीं होता और अग्नि कहने से अंगादि नहीं जलते तब 'राम' नाम कहने से भला उस निर्गुण-निराकार 'राम' या ब्रह्म का साक्षात्कार एवं मुक्ति कैसे सम्भव है? इसका प्रत्युत्तर उपर्युक्त विश्लेषण में निहित है। अर्थात् रामस्नेही आचार्य तारक बीज मंत्र

१. भारत और विश्व पृ० २०

ाम के लोक प्रचलित मुखजाप की महिमा नहीं गाते हैं
इस मंत्र की साधना पर जोर देते हैं, जो रोम रोम मे
उच्चरित होना प्रारम्भ होने पर 'सहजसुमरण' अथवा
ाप' के रूप में सिद्ध होती है। इस तरह यह स्पष्ट है
मस्नेही आचार्य पानी-पानी कह कर प्यास बुझाने,
पावक कह कर शीत की निवृत्ति करने और शक्कर क
ृ मीठा करने जैसा केवल मुखजाप करने का उपदेश न
पितु उनका कहना है कि उद्यम करके जल पीओ, अग्नि
लित करो और शक्कर मुंह में रख कर स्वाद च
'राम' मंत्र की परा शक्ति को प्रकट करने वाली साधन
। का श्री सद्गुरुदेव से ज्ञान प्राप्त करो फिर उसे क्रियात्म
कर ध्यान की पूर्णता, परा शब्द शक्ति का प्राकट्य औ
ी सिद्धि द्वारा मुक्ति-फल को चखो और ब्रह्मानन्द क
करो।

इसी प्रसंग में कुछ विचारकों को 'राम' मंत्र को
का समानान्तर अथवा उससे सूक्ष्म मानने में हिचकिचाह
इस सम्बन्ध में निवेदन है कि 'राम' मंत्र गुह्यतम
। उसे वैदिक वाङ्मय में स्पष्टतः उच्चरित न करके गोपनी
गया है। इसके लिये केवल एक उदाहरण पर्याप्त है कि
भगवद्गीता के प्रथम श्लोक का प्रथम अक्षर 'धर्म' मे गीताका
कार एवं अन्तिम श्लोक के अन्तिम अक्षर 'मम' मे '
लेकर 'राम' इस एक अक्षर के अन्तर्गत समस्त गीता का ज्ञान
विष्ट है, ऐसा प्रतिपादित किया है।

ऐसी शंकाओं के समाधान हेतु एक तर्क यह भी दे
क होगा कि यदि वैदिक विचारक वैदिक मंत्र, जो शब्द की स्
शक्ति से उच्चरित होते हैं, को चामत्कारिक एवं फलप्रदा
ते हैं, तब 'राम' नाम की साधना द्वारा परा शब्द शक्ति को ि

किया जाता है। अतएव पराशक्ति संयुक्त 'राम' मंत्र की चामत्कारिकता और फलसिद्धि पर भी संदेह नही किया जाना चाहिये। अतएव 'राम' मंत्र जब सिद्ध हो जाता है अर्थात् रोम रोम से स्वतः उच्चरित हो परा शब्द शक्ति सयुक्त हो जाता है, तब वह भक्ति, युक्ति (योग) एवं मुक्ति का हेतु बन जाता है, यह सर्वथा तर्कसंगत एवं स्वाभाविक होने के अतिरिक्त महात्माओं के प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञान से सिद्ध भी है।

इस प्रकार तारक बीज मंत्र 'राम' नाम का स्मरण करना साधारण जप नहीं है। यह निर्गुण परब्रह्म का वाचक है। नाम के स्मरण द्वारा परा शब्द शक्ति की साधना की जाती है। यह ध्यान का अवलम्बन, भक्ति का माध्यम एवं सहज योग सिद्धि का प्रदाता है। रामस्नेही मतावलम्बी इस शब्द ब्रह्म के माध्यम से परब्रह्म की उपासना करते हैं। 'योग साधना का स्वरूप' विषयान्तर्गत जैसाकि स्पष्ट किया गया है, यह ध्वन्यात्मक है। ररर रूप से ओऽम शब्द से सूक्ष्म एवं प्रणव की उत्पत्ति का मूल तथा आत्म साक्षात्कार का कारणभूत तत्व और मुक्ति प्रदाता महामंत्र है। तारक मंत्र के रूप में 'मुखजाप' करने से भी यह यथेष्ठ मंत्रशक्ति रूपी फल को देने वाला है, परन्तु रामस्नेही साधना प्रणाली में इस मंत्रराज का केवल 'जप' नहीं किया जाता अपितु 'राम' नाम की साधना की जाती है। जो साधक 'राम' मंत्र की साधना की सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं, वे सिद्ध बनना नहीं चाहते अपितु जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हो अमरपद का वरण करते हैं।

चौथा अध्याय - (४)

भक्ति का स्वरूप

महर्षि शाण्डिल्य ने कहा है कि 'ईश्वर में परम अनुराग परम प्रेम ही भक्ति है।'

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

देवर्षि नारद ने भी भक्तिसूत्र में कहा है—"उस परमेश्वर राम प्रेमरूपता ही भक्ति है।'

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।

'और वह अमृतरूप है।' यह कह कर परमेश्वर के प्रति नुरागरूप भक्ति के महत्व एवं उसके फल का कथन भी 'नारद-सूत्र' में किया गया है।

अमृतस्वरूपा च।

'भक्ति' शब्द व्याकरण के 'भजसेवायाम्' धातु से बना है, ा अर्थ सेवा करना होता है। अतएव अनन्य प्रेमपूर्वक ईश्वर ा करना भक्ति है। इस प्रकार 'प्रेम' और सेवा भक्ति के हत्व निश्चित हुए। भक्ति का एक पार्श्व प्रेममय है, तो दूसरा सेवायुक्त कहा जा सकता है। प्रेम एक भाव स्थिति है जो य होकर सेवा के रूप में व्यक्त होती है। अतः उच्चतम संवेदना की प्रेममय स्थिति का एक पार्श्व भक्ति योग है, एवं

उसका क्रियारूप द्वितीय पार्श्व कर्म योग कहा जाता है। भावके पश्चात् किन्तु क्रिया के पूर्व विचारात्मक स्तर विद्यमान रहता है, मानों वह दोनों पार्श्वों के मध्य की भित्ति है। यह विचारात्मकस्तर ही ज्ञानयोग है।

सिक्के के दो पहलू होते हैं। मध्य में उसकी भित्ति रहती है। सिक्के की उस भित्ति से क्या उसके किसी पहलू को पृथक किया जा सकता है? अथवा उस भित्ति के अभाव में दोनों पहलुओंका या किसी एक का भी अस्तित्व रह सकता है?

उत्तर नकारात्मक है। कारण, उस भित्ति से ही दोनों पार्श्वों का निर्माण हुआ है। भित्ति उभय पार्श्वयुक्त है एवं पार्श्व भित्तिमय है। उभय पार्श्वयुक्त भित्ति ही पूर्ण सिक्का है। अतः ज्ञानरूप भित्ति भक्तियोग एवं कर्मयोग के पार्श्वों से युक्त होकर ही आध्यात्मिक उपलब्धि का पूर्णसाधन रूपी सिक्का बनता है।

अन्तःकरण के गहन गह्वर में सर्वप्रथम भाव का उदय होता है। वही भाव बुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश कर विचार का रूप धारण करता है। अन्ततः विचार ही कर्म में व्यक्त होता है। इस प्रकार कर्म से विचार को एवं विचार से भावको पृथक् करना सम्भव नहीं है। भावस्तर पर भक्तियोग, विचार अथवा तर्कस्तर पर ज्ञानयोग एवं क्रियास्तर पर कर्मयोग है। भक्ति एवं कर्म में ज्ञान ओतप्रोत है। भक्ति का प्रेम सेवाधर्म रूप कर्म में व्यक्त होता है। कर्म में भक्ति का समावेश होने पर वह परार्थ कर्म किये जाने से 'निष्काम कर्मयोग बनता है। तत्वज्ञान होने से संसार से वैराग्य एवं भगवच्चरणारविन्दों में प्रीतिरूप भक्ति दृढ़ होती है।

अज्ञानी को तो स्वार्थ चिन्तन से ही अवकाश नहीं मिलता। न्यूनाधिकस्तर पर तत्त्वबोध होने पर ही स्वअर्थ-चिन्तन एवं स्वार्थ कर्मों का त्याग एवं परअर्थ चिन्तन एवं परार्थ कर्म में प्रवृत्ति होती है अर्थात्

कर्म का कर्मयोग के रूप में सम्पादन होना सम्भव हो पाता है। अतएव जब हम भक्ति को स्पष्ट आकार प्रदान करने का प्रयास करेंगे तो उसमें कर्मयोग एवं ज्ञानयोग की झलक भी अवश्य ही पायेंगे। यही गीतोक्त भक्तियोग है, जिसका प्रतिपादन इसी अध्याय में अन्यत्र किया जायगा।

वैष्णव नवधा भक्ति :—

भागवत् दर्शन के आधार पर विकसित इस भक्ति का जो एक सर्वमान्य स्वरूप रूढ हो गया है, वह नवधाभक्ति कहलाती है। उसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है :—

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
> अर्चनं वन्दनं दास्य सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
>
> (श्रीमद्भा० ७/५/२३)

'भगवान् श्रीविष्णु के नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान् की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान् में दासभाव, सखाभाव और अपने को समर्पण कर देने का भाव-यह नौ प्रकार की भक्ति है।'

नवधाभक्ति सगुण भक्ति है, अतएव भक्त का राम-कृष्णादि अवतारों के नाम, रूप गुण, प्रभाव, लीला-चरित, तत्व और रहस्य का एव अमृतमयी कथाओं का श्रवण करके प्रेम में मुग्ध हो जाना श्रवण भक्ति है। इनका श्रद्धा-प्रेम सहित उच्चारण करते-करते शरीर में रोमाञ्च, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदय की प्रफुल्लता, मुग्धता आदि का होना कीर्तन भक्ति का स्वरूप है। इसी प्रकार इन सबका प्रेम में मुग्ध हो कर मनन करना और मनन करते-करते भगवान् के स्वरूप में तल्लीन हो जाना स्मरण भक्ति कहलाती है।

राम कृष्णादि अवतार अथवा शिव-शक्ति आदि अन्य देवी-देवताओं के स्वरूप की धातु, पत्थर आदि की मूर्ति, चित्रपट

उनकी चरण-रज और चरण-पादुकाओं का श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन एवं सेवन करते करते भगवत्प्रेम में मग्न हो जाना पाद सेवन भक्ति है और उस प्रतिमा के समक्ष धूप-अगरबत्ती, अर्घ्यादि का समर्पण अर्चन भक्ति कहलाती है। साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम एवं परिक्रमा आदि वन्दन भक्ति है। इस प्रकार श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन एवं वन्दन आदि सख्यभाव से किया जाता है तो वह सख्य भक्ति कहलाती है एवं स्वामी सेव्यभाव से यदि पूर्वोक्त भक्ति की जाती है, तो वह दास्य भक्ति का स्वरूप है।

सब कुछ भगवान् का ही है, ऐसा समझते हुए अपने तन-मन-धन और जनसहित समस्त कर्मों का एवं अहंभावसहित सम्पूर्ण व्यक्तित्वका भगवच्चरणों में पूर्ण समर्पण कर देना आत्मनिवेदन भक्ति कहलाती है। यही नवधा भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है।

रामचरितमानस में नवधाभक्ति का स्वरूप—

गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्री रामचरितमानस में भक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए, उसके नव अंगों का निरूपण इस प्रकार किया है:—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरी रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा तीसरी भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।
छठ दमसील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा।
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

भक्ति का आरम्भ सन पुरुषों की सत्संग से बताया गया है क्योंकि उन्हो महापुरुषो के द्वारा स्त्यासत्य का विवेक जागृत होता है और कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान होता है। जिन्हें सामाजिक व्यवहार एवं धर्म तथा नीति के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान भी नही है, उन्हें भक्ति करने का भी कोई अधिकार नही है। व्यक्ति को चाहिए कि वह प्रथम सज्जन पुरुषों की एवं संत महात्माओं की सत्संग करके अथवा स्वाध्याय द्वारा सार-असार मे भेद करना सीखे, विवेक ज्ञान प्राप्त करें एव अपने कर्तव्य-कर्म का सम्यक् आचरण कर लोक-व्यवहार मे उत्तम स्थिति प्राप्त करें; तत्पश्चात् भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख हों। यह नवधाभक्ति का प्रथम प्रकार है। भगवान् के चरित-लीलाओं का अनुराग सहित चिन्तन-मनन करना दूसरे प्रकार की भक्ति कही गई है।

सज्जन पुरुषों एवं सत महात्माओं की सत्संग एवं स्वाध्याय के द्वारा विवेक जागृत होने पर स्वविवेक द्वारा किसी योग्य एवं समर्थ गुरु की पहिचान कर तत्वज्ञान की प्राप्ति हे[illegible] निभिमान हो कर उसकी सेवा करके उन्हें प्रसन्न करने [illegible] तुलसीदासजी तीसरी भक्ति कहते हैं। छल-छद्म रहित हो क[illegible] भगवान् का गुण-गान करना चौथी भक्ति बतलाया गया है[illegible] इस प्रकार अपने व्यवहार एव व्यवसाय मे छल-कपट रखते [illegible] घण्टे दो घण्टे उच्चस्वर मे कीर्तन कर भगवत्कृपा का लाभ प्रा[illegible] करने के इच्छुक हृढ नवधाभक्ति के भक्तों से तुलसीदास[illegible] कहते हैं कि पहले छल-कपट मे रहित हो जाओ, तब तुम्ह[illegible] कीर्तन करना सार्थक होगा।

गुरु द्वारा उपदिष्ट मंत्र का नित्य-निरन्तर श्रद्धा [illegible] विश्वासपूर्वक जप अथवा उसकी साधना करना भक्ति का पाँ[illegible] प्रकार है।

भक्त का प्रथम लक्षण है सज्जनता। दम यानि इन्द्रियों की लोलुपता एवं अतिशयता का त्यागपूर्वक संयमित जीवन व्यतीत करना और शील अर्थात् सद्गुण, सदाचार एवं सद्भावों को धारण करना। जीविकोपार्जन के लिये न्याययुक्त अर्थोपार्जन करने और कर्तव्य-कर्म का पालन करने के अतिरिक्त व्यर्थ भाव, विचार एवं चेष्टाओं सहित शास्त्रविरुद्ध कर्मों से विरत होना भक्ति का छठा प्रकार बताया गया है।

भक्ति के सातवें प्रकारान्तर्गत कहा गया है कि भक्त को शनैः शनैः वह उच्चस्थिति हृदयंगम कर लेना है, जिसमें स्थित हुआ वह सम्पूर्ण भूतप्राणियों में मात्र भगवत्स्वरूप का ही दर्शन करें और भगवान् के सच्चे भक्तों को भगवान् से भी अधिक समझें।

प्रतीकोपासनान्तर्गत प्रतिमा–पूजा का प्रयोजन पाषाण मे भगवद्बुद्धि एवं उसमें परमात्मभाव को स्थिर करके उसे शनैः शनैः मन्दिर के बाहर प्राणीवर्ग एवं अन्त में जड चेतन सब पर व्याप्त करना है, परन्तु रूढ नवधा भक्ति के अन्तर्गत मूर्ति-पूजक केवल पाषाण प्रतिमा को ही ईश्वरमय देखता है, उसका भाव उससे आगे बढ़ नहीं पाता। अतः प्रतिमा पूजक भक्त का भगवत्प्रेम प्रतिमा के प्रति केन्द्रित एवं उसी तक सीमित रहता है। अतः प्रतिमा-पूजा की इस कमी का निराकरण करने के लिये तुलसीदासजी समस्त प्राणियों को ईश्वर प्रतिमा समझना और उनमें भगवद्बुद्धि कर उनके साथ सदाशयता का व्यवहार करने एवं यथायोग्य मन, तन एवं वचन और द्रव्यादि से सेवा करना भक्ति का आवश्यक अंग ठहराते है।

तुलसीदासजी कहते हैं कि यह सम्पूर्ण विश्व ही उस [illegible] का विराट रूप है। समस्त प्राणी ईश्वर रूप है। अतः केवल [illegible]व ही नहीं अपितु अन्यान्य प्राणी भी व्यक्ति के प्रेम के पात्र है। उनकी सेवा ही ईश्वर का पूजन, अर्चन एवं 'पादसेवन

वित है। इसी भाव को भक्ति के आठवें प्रकारान्तर्गत और अधिक
ष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं। अतः वे कहते हैं कि पर छिद्रान्वेषण
त्याग पूर्वक व्यक्ति को जो सामाजिक स्थिति, पद-गौरव,
धिकारादि एवं धन-दौलत आदि ऐश्वर्यादि-वैभव प्राप्त हुआ है,
सी में सन्तोष करें अर्थात् अपने सुख के लिये अन्य के अधिकार
ा हनन न करें। 'परदोष त्याग' एवं 'यथा प्राप्त में सन्तोष'
रने को कह कर यह बताया गया है कि ऐसा कोई कर्म
किया जाय जिससे कि अन्य प्राणी किसी प्रकार के उद्वेग को
ाप्त हो। नित्य निरन्तर सज्जन-धर्म में निरत रहने को
ह कर स्वकर्तव्य-कर्म का सम्यक्प्रकारेण पालन करते हुए व्यष्टि
व समष्टि की उन्नति, उसका विकास एवं प्रगति और व्यक्ति,
माज तथा राष्ट्र का अभ्युदय करते हुए आत्म कल्याण एवं श्रेय की
ाप्ति करना भक्ति का स्वरूप माना है।

इन्ही तथ्यों की पुष्टि करते हुए पुनः कहा गया है कि छल-कपट से रहित हो कर सब के प्रति सरलता का व्यवहार करते हुए अपने आपको भगवदेच्छा पर छोड़ देना अर्थात् 'समर्पण' करना भक्ति का नवाँ प्रकार है।

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास द्वारा वर्णित नवधाभक्ति का केन्द्र प्रतिमापूजा नहीं है। सद्गुण, सदाचार एवं सद्भावों से युक्त होकर स्वकर्तव्य-कर्म का पालन करना एवं भगवच्चरणों में समर्पित रहना ही वास्तविक भक्ति है।

यद्यपि तुलसीदास सगुणोपासक थे और यहां सगुण ईश्वर की ही भक्ति का वर्णन करना उनको अभीष्ट रहा हो, परन्तु उनका यह प्रतिपादन हमें बलात् निर्गुण भक्ति की ओर ले जाता है। "सम्भवतः श्री विनोबा के शब्दो में वे यह मानते प्रतीत होते हैं कि 'सगुण और निर्गुण दोनों एक दूसरे में गुंथे हुए हैं। सगुण निर्गुण का आधार सर्वथा तोड़ नहीं सकता और निर्गुण को सगुण के रस की जरूरत

होती है ...... सगुण पहले परन्तु उसके बाद निर्गुण की सीढ़ी आनी ही चाहिए; नही तो परिपूर्णता न होगी...... निर्गुण रूपी मर्यादा के अभाव में सारे धर्मों के सगुण अवनति को प्राप्त हो गये।"[1]

तुलसीदास संत, तत्वचिंतक, साधक एवं एक सच्चे भक्त होने के साथ-साथ साहित्यकार और समाज सुधारक भी थे। अतएव किसी प्रकार की धार्मिक अवनति को भला वे कैसे सहन कर सकते थे? यही कारण है कि वे सगुण भक्ति को निर्गुण की मर्यादा का सहारा देकर उसका पुनरूद्धार करने के लिये कटिबद्ध थे। अतः नवधाभक्ति के केन्द्र में प्रतिमा के स्थान पर विराट विश्वरूप को मान्यता प्रदान करते हैं।

विश्वरूप में व्यक्त उस विराट परमात्म प्रतिमा का वास्तविक पूजन, अर्चन वन्दनादि 'सर्वभूतहितेरत': रहते हुए कर्म करके करने को कहा गया है। 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई' कह कर भी यही भाव व्यक्त किया गया है। नवधाभक्ति के शेष छः अंग श्रवण, कीर्तन, स्मरण, दास्य, सख्य-एवं आत्मनिवेदन रुढ नवधा भक्ति की ही तरह यहाँ पर भी स्वीकार्य हैं।

सस्ते में धर्म खरीद लेने की प्रवृत्ति के कारण समाज में 'प्रसाद' चढ़ा कर अथवा देव-प्रतिमा का मात्र दर्शन करके और भक्ति के नवांगों की प्रतिदिन आवृत्ति मात्र करने में जो भक्त अपनी भक्ति को परिपूर्णता समझ लेते हैं, उन्हें भक्ति का वास्तविक बोध कराने का तुलसीदास ने अत्यन्त मधुरता के साथ सार्थक प्रयास किया है। परमेश्वरानुरागी भक्त को दम, शील, सन्तोष से युक्त और पर-छिद्रान्वेषणवृत्ति से मुक्त, छल-छद्म रहित एवं सबके प्रति सरल तथा सज्जनता का व्यवहार करने वाला होना आवश्यक है। अतः इन गुणों को नवधा भक्ति के अंग बता कर भक्त के लिये इन्हें धारण करने की अपरिहार्यता का प्रतिपादन

---

१ गीता प्रवचन अध्याय १२.

किया है। 'मोहि मय जग देखा' कह कर इन गुणों का भक्त में आधान करने का एक सरल किन्तु सर्वोत्तम उपाय बताया गया है। अतः यह बजाय पाषाण प्रतिमा के विश्वरूप परमेश्वर प्रतिमा का सेवाधर्म द्वारा पूजन अर्चन करने का स्पष्टतः प्रतिपादन है।

गीतोक्त भक्तियोग

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग है। कर्मयोग की तीन अवस्थाएँ है — कर्म, विकर्म एवं अकर्म। भक्ति को एक श्रेष्ठ विकर्म अर्थात् कर्म को निष्काम बनाने के साधन के रूप मे प्रतिपादित करते हुए एक स्वतंत्र योग के रूप में विकसित किया गया है। अतएव गीता के भक्तियोग का स्वरूप निरूपित करने के लिये सम्पूर्ण गीता में स्फुटरूप में व्याप्त भक्ति के विभिन्न लक्षणरूपी अवयवों को एकत्र करने की आवश्यकता है।

गीता का बारहवाँ अध्याय भक्तियोग है, जिसके अन्तर्गत सगुण एवं निर्गुण भक्ति का विवेचन करने के साथ साथ भक्ति के केन्द्रीयस्वरूप की झलक प्रस्तुत की गई है। अध्याय के अन्त में भक्त के उन्चालीस लक्षणों का पांच प्रकरणों मे वर्णन करते हुए भक्त एवं भक्ति की कसौटी दी गई है। अतः बारहवे अध्याय सहित सम्पूर्ण गीता की गवेषणा कर के गीतोक्त भक्ति के स्वरूप रूपी चिन्तामणी का दर्शन सम्भव हो सकता है।

निष्काम कर्म ही अन्ततः कर्तृत्व-भोक्तृत्व विहीन होकर अकर्मावस्था में परिणत होता है। ज्ञान के द्वारा भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव की समाप्ति हो कर कर्म अकर्मावस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्मयोगान्तर्गत ज्ञान को भी एक विकर्म

माना जा सकता है । परन्तु कर्मयोग की ही भांति भक्तियोग एव ज्ञानयोग का भी स्वतंत्र अस्तित्व है, फिर भी तीनों निरपेक्ष नही कहे जा सकते । ये सापेक्ष एव अन्योन्याश्रित है ।

भक्तियोग का सर्वप्रथम उल्लेख गीता के तृतीय अध्याय के तीसवें श्लोक मे कर्म योगान्तर्गत एक विकर्म के रूप में 'परमात्मा में लगे हुए चित्त से सम्पूर्ण कर्मों को परमेश्वर में अर्पण करके आशा, ममता, एवं संताप रहित हो कर युद्ध रूपी कर्म करने की आज्ञा देकर' किया गया है । इसका उपसंहार अठारहवें अध्याय के छासठवें श्लोक में 'मामेकं शरण व्रज' कह कर विशुद्ध भक्ति के रूप में हुआ है ।

गीता के बारहवें अध्यायान्तर्गत श्लोक संख्या आठ से ग्यारह तक कुल चार श्लोक भक्ति के स्वरूप विषयक हैं, जो निम्नलिखित प्रकार से हैं :—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ (१२/८)
अथचित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ (१२/९)
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वान्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ (१२/१०)
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ (१२/११)

मन और बुद्धि को भगवान् में लगाना रूप समर्पण भक्ति (१२/८); अभ्यास योगरूप श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण भक्ति (१२/९); 'मत्कर्म' एवं 'मदर्थकर्मरूप' पादसेवन, अर्चन एवं वन्दन भक्ति के साथ दास्यभाव (१२/१०); एव पुनः 'सर्वकर्मफलत्यागरूप' सख्यभावमयी पादसेवन, अर्चन एवं वन्दन भक्ति (विश्वरूप विराट भगवान् की ... के अर्थ में) है ।

'मन' और 'बुद्धि' को भगवान् में लगाने का अभिप्राय तत्त्वचिंतन एवं मननरूप ध्यानयोग से लिया जाय तो यह ज्ञानयोग; अभ्यास' भक्तियोग, एवं 'मत्कर्म' तथा 'मदर्थकर्म' भक्ति प्रधान कर्मयोग एवं 'सर्वकर्म फलत्याग' कर्म प्रधान कर्म योग का विषय है।

'ध्यान' में एकमात्र भाव ही की सत्ता रहती है, अतः ध्यान को भक्ति माना है। 'अभ्यास योग' स्पष्टतः भक्ति ही है। 'मत्कर्म' एवं 'मदर्थकर्म' में भक्ति की प्रधानता होने से यहाँ उसे भक्ति का एक प्रकार माना गया है। 'सर्वकर्मफल त्याग' 'कर्मप्रधान कर्मयोग' है. परन्तु कर्म तथा कर्मफल दोनों का ईश्वर में समर्पण करने के लिये भक्तिरूपी विकर्म की उसे नितान्त आवश्यकता रहती है; अन्यथा वह अकर्म नहीं बन पायगा। कर्मयोगान्तर्गत परोपकारार्थ कर्म किये जाने से कर्मभार हल्का अवश्य पड़ जाता है; परन्तु उसका समूलोन्मूलन नहीं हो पाता। फिर कर्म परोपकार के लिये क्यों किये जायं? मात्र स्वार्थ के लिये ही कर्म क्यों न किया जाय? इन प्रश्नों का जवाब कर्म योग के पास नहीं है। इसका समाधान भक्तियोग करता है। अतः गीता ने भक्ति को कर्मयोगान्तर्गत एक सर्वोत्तम विकर्म के रूप में जगह जगह प्रस्तुत किया है। कर्मयोग में समर्पण नितान्त आवश्यक है। अतः सर्वकर्मफलत्याग' को फल सहित कर्म को ईश्वरार्पण कर देने के अर्थ में यह भक्ति का एक प्रकार कहा जा सकता है।

गीता का बारहवाँ अध्याय भक्ति योग है। इसके प्रारम्भ में सगुण एवं निर्गुण भक्ति की तुलना करने के पश्चात् उस भक्ति के विभिन्न प्रकारों का वर्णन उपर्युक्त श्लोकों में किया गया है। अतएव इन्हें ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग के रूप में परमात्मा को प्राप्त करने के विभिन्न साधन मानने की अपेक्षा भक्ति के विभिन्न प्रकार मानना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

गीता का आरम्भ कर्मयोग से किया जा कर अन्त भक्ति योग 'मामेकं शरणं व्रज' एव गीता श्रवण एवं कथन के महात्म्य के साथ हुआ है। ज्ञान का तेरहवें से पन्द्रहवें अध्याय में स्वतन्त्र वर्णन करने के अतिरिक्त सर्वत्र कर्मयोग एवं भक्तियोग के साथ साथ उल्लेख किया गया है। कर्मयोग में विकर्म बन कर भक्ति प्रविष्ट हो गई और भक्ति योगान्तर्गत 'भजसेवायाम्' के रूप में कर्म को एक सेवा का साधन मात्र बना कर भक्ति ने उसे आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार 'सर्वकर्मफलत्याग' को भक्ति का प्रकार कहना उपयुक्त ही है क्योंकि भक्ति हमको यह सीखाती है कि कर्म करके फल को फेंकना नहीं है; अपितु उसको भगवदर्पण करना है।

गीता समासशैलीयुक्त है। यह पहले सूत्र के रूप में किसी तत्त्व का पूर्णरूप दे कर पुनः उसकी व्याख्या करती है। यथा सम्पूर्ण गीतातत्त्व को द्वितीय अध्याय में कह दिया गया है; आगामी अध्यायों में मात्र उसका विस्तार है। स्थितप्रज्ञ के पूर्ण लक्षण गीता के द्वितीय अध्यायान्तर्गत पचपनवें श्लोक में कह दिये गये हैं; आगामी सोलह श्लोकों में मात्र उसकी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार यहां बारहवें अध्याय के आठवें श्लोक में 'मन' और 'बुद्धि' को भगवान् में समर्पित करने के रूप में 'आत्मनिवेदनभक्ति;' जो भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है; का वर्णन करके आगामी तीन श्लोकों में उसकी व्याख्या के रूप में भक्ति का 'अभ्यासयोग' के नाम से श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण और 'मत्कर्म' तथा 'सर्वकर्मफल त्याग' के नाम से पादसेवन, अर्चन, वन्दन भक्ति का कथन किया गया है।

इस प्रकार ऊपर से नीचे उतरने के क्रम से भक्ति के स्वरूप को दर्शाया गया है। यह गीता की विशेष शैली है। अब भक्त को क्रम से बताए गये सबसे नीचे के सोपान से भक्ति पथ पर ऊर्ध्वमुख आरम्भ कर मध्य का सोपान पार करते हुए प्रथम वर्णन

गये सर्वोच्च सोपान पर पहुँचना है; जहाँ भक्ति की पूर्णता हो जाती है। प्रारम्भ का सोपान कर्ममय, मध्य का विचारमय एवं अन्तिम भावमय है।

नवधा भक्ति के तीन समूह हैं। श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण का प्रथम समूह विचार का; पादसेवन, अर्चन एवं वन्दन का द्वितीय समूह कर्म का एवं सख्य, दास्य और आत्मनिवेदन भक्ति का तृतीय समूह भाव का है। कर्म से विचार एवं विचार से भाव में प्रवेश करने में आरोहण की क्रमिकता है। परन्तु नवधा भक्ति में कमरूप पादसेवन, अर्चन एवं वन्दन को विचार रूप श्रवण कीर्तन एवं स्मरण और भावरूप दास्य, सख्य तथा आत्म निवेदन के मध्य में रख कर भक्ति के आरोहण की क्रमिकता को भंग करके यह बताया गया है, कि भक्ति के तीनों समूह स्वतन्त्र रूप से मुक्ति प्रदान करने में सक्षम है। अतः नीचे से ऊपर तक क्रमिक आरोहण करने की अनिवार्यता नहीं है। गीता भी इन तीनों सोपानों को स्वतन्त्र रूप से अपने आप में पूर्ण स्वीकार करती है। अत किसी एक के साधन द्वारा भी मुक्ति सम्भव है; क्योंकि भगवान् का कथन है कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' (९/३१) अर्थात् मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। परन्तु 'सर्वकर्मफलत्याग' अथवा 'मत्कर्म' और 'अभ्यासयोग' एवं 'मन' और 'बुद्धि' को भगवान् में लगाने के लिये नीचे से ऊपर की ओर क्रमिकता दे कर क्रमशः आरोहण के द्वारा भक्ति की पूर्णतारूप 'आत्मनिवेदन' भक्ति की स्थिति तक पहुँचने को 'आदर्श' माना है। यहाँ प्रत्येक भक्त को क्रमशः बढ़ने का लक्ष्य रखने और उसे हस्तगत करने की प्रेरणा दी है।

(१) अभ्यास योग :—

श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण को अभ्यास योग कहा जाता है। गीता में भगवान् ने अठारहवें अध्याय में इकोत्तरवें श्लोक तक गीता शास्त्र के श्रवण, कथन एवं स्वाध्याय के महत्व का प्रतिपादन किय

है। चौथे अध्याय के चौतीसवें श्लोक में जिज्ञासु को तत्वज्ञानियों में विनय एवं सेवापरायण होकर तत्वज्ञान का श्रवण करने की आज्ञा प्रदान की गई है। 'मामनुस्मर युध्य च' (८/७) कह कर कर्म के साथ स्मरण करने को भी 'अभ्यासयोग' (८/८) कहा है; परन्तु जिस तत्व का स्मरण करना है; वह अविद्या से अतिपरे शुद्ध सच्चिदानन्द-घन परमेश्वर का निश्चल मन से स्मरण होने से (८/९) यह ध्यान योग भी है; जिसको अन्त में योगबल से युक्त (८/१०) करने को कहा गया है। ऐसे साधक को 'भक्त्या युक्तो' कहा है। अतः यहां निर्गुण तत्व का स्मरण ध्यान करते हुए योग साधना करने की विधि, जिसका स्वरूप श्लोक संख्या तेरह में दिया गया है; को भक्ति ही माना है और ऐसे भक्त के लिये भगवान् की प्राप्ति होना सुलभ बताया गया है। (८/१४)

इस प्रकार नित्य निरन्तर स्मरण करने वाले भक्त का 'योगक्षेम' का वहन स्वयं भगवान् ही करते हैं। (९/२२) यहां तक कि भगवान् का अनन्य भाव से स्मरण करने वाला अतिशय दुराचारी भी साधु ही मानने योग्य (९/३०) है; क्योंकि स्मरण के प्रताप से उसके पापक्षीण होकर नष्ट हो जाने से वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है।

यह सत्य है कि सद्गुण, सदाचार एवं सद्भाव भागवद् सम्पत्ति है। अतएव जितने अंश में भक्त स्मरण-चिन्तन के माध्यम से भगवान् के निकट पहुँचता है, उतने अंश में दुर्गुण, दुराचार एवं दुर्भाव समाप्त होते जाते हैं। जब भक्त भगवान् के पूर्ण समर्पण की अवस्था को पहुँच जाता है; तब दुर्गुण, दुराचार एवं दुर्भाव का भी पूर्ण विलय होकर उसके स्थान पर भक्त में सद्गुण, सदाचार एवं सद्भाव का पूर्ण विकास हो जाता है; जिससे वह धर्मात्मा बन जाता है। फलतः वह सद्गति एवं मोक्ष का अधिकारी है।

अतः किसी पूर्ण भक्त में लेशमात्र भी दुर्गुण, दुराचार दुर्भाव का शेष रहना सम्भव नहीं है। यही बात ज्ञानयोगी

एवं कर्मयोगी के लिये भी सत्य है। पूर्णज्ञानी और पूर्णभक्त का प्रथम लक्षण यह है कि उसकी निषिद्ध कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती। वे स्वतः छूट जाते हैं। शास्त्रोक्त विधायक कर्म यज्ञ, दान, तप एव सेवा के रूप में परोपकारार्थ किये जाने वाले लोक कल्याणप्रद कार्यों का बिना किसी आग्रह के सहजभाव से स्वतः आचरण होता रहता है, परन्तु उनके प्रति तनिक भी अहंता, ममता एवं आसक्ति नहीं होती। दुराचारी पापात्मा जब भगवान् की शरण ग्रहण कर लेते है तो वे सदाचारी एवं धर्मात्मा हो जाते हैं। उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का वाल्मिकी की तरह रूपान्तरण हो जाता है। यदि ऐसा नही होता तो यह समझना चाहिएकि वह भक्त स्मरण भक्ति मे अभी तक प्रवृत ही नहीं हुआ; मात्र ढोंग किया जा रहा है।

स्वाध्याय, चिन्तन-मनन एवं तत्व ज्ञान का अभ्यास एव ध्यान करना गीतोक्त श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण भक्ति है, जिसे नवधा भक्ति का प्रथम समूह कहा गया है।

(२) मत्कर्मपरमः भव :—

यदि उपर्युक्त अभ्यास योग का साधन करने में साधक असमर्थ है तो उसे 'मत्कर्म' एवं 'मदर्थकर्म' करने को कहा गया है। भगवान् के परायण हो कर मात्र भगवान् के लिये ही कर्म करना मत्कर्म है। यज्ञ, दान तथा तप को मदर्थ कर्म कहा गया है। निःस्वार्थ भाव से समस्त कर्तव्य कर्मों का निष्काम कर्म योग के रूप में पालन करना ही यहाँ अभिप्रेत है।

यज्ञ का अर्थ क्षतिपूर्ति एवं शुद्धिकरण के लिये किये जाने वाले समस्त कर्मों से है। हमने अपनी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये समाज एवं राष्ट्र से बहुत कुछ ग्रहण करके उसके खजाने को क्षति पहुँचाई है; अतः अपने कर्म द्वारा उसकी पूर्ति करना हमारा धर्म है। श्वास-प्रश्वास एवं मल-मूत्र

के त्याग से वायु मण्डल में जो अशुद्धि फैलाई गई है; उसका शुद्ध द्रव्य का अग्नि मे हवन करके शुद्धिकरण करना भी हमारा कर्तव्य है। माता-पिता और गुरू की आज्ञा पालन एवं सेवा करना तो हमारा परम धर्म है ही।

दान समाज सेवा का प्रतीक है। अतः यज्ञ एवं तप के अतिरिक्त भी समाज सेवा एवं लोक कल्याण के कार्य करना हमारा कर्तव्य है, क्योंकि हमने समाज मे पोषण तथा राष्ट्र से जो संरक्षण प्राप्त किया है; बिना समाज सेवा के कर्तव्यों का पालन किये उऋण नहीं हुआ जा सकता। इन सब कर्तव्य कर्मों का पालन कर हम किसी का उपकार नहीं करते; अपितु मात्र अपना दायित्व तथा फर्ज अदा करते हैं। अतएव इनके प्रति ममता, अहंता तथा आसक्ति नहीं होना चाहिए। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस प्रकार हम कर्तव्य-कर्मों का पालन करके उऋण होना क्यों चाहते हैं ?

उत्तर स्पष्ट है—इससे सामाजिक व्यवस्था का सुसंचालन, उसकी उन्नति, विकास एवं व्यक्ति तथा समष्टि का अभ्युदय होता है। इस सृष्टि-चक्र का प्रवर्तन परमात्मा ने ही किया है। हम अपने कर्तव्य-कर्म का पालन कर परमात्मा के सृष्टि-चक्र के सुसंचालन में सहायक होते हैं। इससे वह अदृष्ट परमात्म शक्ति हम पर प्रसन्न होती है। स्वधर्म रूप में भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करने का यही रहस्य है।

तप, 'देवता, ब्राह्मण (निरन्तर आध्यात्मिक साधना एवं सत्य चिन्तन में मग्न रहने वाले मुनि, साधु एवं सन्यासी) गुरु और ज्ञानी (साहित्यकार, समाज सुधारक एवं मानव कल्याणार्थ कर्म में जुटे हुए व्यक्ति) का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है।' (१७/१४)

'जो उद्वेग न करने वाला, प्रिय और हितकर एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद शास्त्रों के पठन का एवं परमेश्वर के नाम जप का अभ्यास है, वही वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है।' (१७/१५)

'मन की प्रसन्नता शान्त भाव, भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की भलीभांति पवित्रता—इस प्रकार यह मन सम्बन्धी तप कहा जाता है।' (१७/१६)

इस प्रकार यज्ञ, दान एवं तप द्वारा कर्तव्य कर्मों का पालन करके परमात्मा की प्रसन्नता एवं कृपा को प्राप्त करना ही ईश्वर की सच्ची पादसेवन, अर्चन एवं वन्दन भक्ति कहलाती है। यथा—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (१८/४६)

'जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है; उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।'

ग्यारहवें अध्याय के चालीसवें श्लोक में अर्जुन ने विराटरूपधारी भगवान् को नमस्कार करने की विधि बताते हुए कहा है कि 'हे अनन्त सामर्थ्य वाले भगवान्! आपके लिये आगे से और पीछे से भी नमस्कार! हे सर्वात्मन्! आपके लिये सब ओर से ही नमस्कार हो। क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप समस्त संसार को व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं।''

तत्वदर्शी ज्ञानियों की सेवा करके (४/३४) ज्ञान को प्राप्त करना पादसेवन; स्वाभाविक कर्मों द्वारा समस्त प्राणियों की सेवा करना अर्चन; एवं समस्त संसार में व्याप्त उस परमात्मरूप

प्राणियों के साथ नम्रता और कोमलता का व्यवहार करना एवं उनके प्रति सद्भाव रखना वन्दन भक्ति है यह नवधा भक्ति का द्वितीय समूह हुआ।

(३) सर्वकर्मफलत्याग —

विषयारम्भ में गीता के बारहवें अध्याय के जो श्लोक उद्धृत किये गये है, उनमें से श्लोक संख्या ग्यारह में 'सर्वकर्मफल त्याग' की बात कही गई है। यहाँ कर्म का स्वरूप से त्याग करना अभिप्रेत नहीं है अपितु उसके फल का त्याग करने को कहा गया है। सर्वकर्म से तात्पर्य 'मत्कर्म' एवं 'मदर्थकर्म' के सहित अन्य समस्त विधायक कर्मों से है। फलत्याग का अभिप्राय यह है कि इन कर्मों का आचरण ममता, आसक्ति, कामना एवं अहंता से रहित हो कर किया जाना चाहिए। अन्त में कर्म सहित फलको ईश्वरार्पण कर देने से कर्तृत्वभोक्तृत्व भाव विनष्ट हो कर समस्त कर्म भक्तिमय बन कर मोक्षफलप्रदायक बन जायेंगे। इस प्रकार यह कर्मयोग भक्तियोग में रूपान्तरित हो जायगा।

'सर्वकर्मफलत्याग' कर्मप्रधान कर्मयोग का विषय है, जिसके अन्तर्गत कर्ता मात्र कर्तव्य भावना से प्रेरित हो कर लोक कल्याणार्थ कर्म करने में प्रवृत होता है और वह शनैः शनैः ममता आसक्ति एवं कामना का त्याग करता हुआ कर्तापन के भाव से मुक्त होता है। वह 'परअर्थ' कर्म करता हुआ कर्म के फल को 'परार्थ' छोड़ कर स्वयं भोक्तृत्वभाव से भी मुक्त होता है। परन्तु वह 'परअर्थ' कर्म क्यों करें? समस्तकर्म 'स्वअर्थ' ही क्यों न किये जायं? इन प्रश्नों का समाधान कर्मयोग द्वारा नहीं हो पाता। अतः वह उद्देश्य से च्युत हो कर कर्म बन्धन के दलदल में फंस सकता है। इससे त्राण पाने के लिये ज्ञान अथवा भक्ति में से किसी एकका अथवा दोनों ही का सहारा ले सकता है। ज्ञान के द्वारा वह सबको आत्मवत् देखता हुआ परार्थ कर्म में प्रवृत्त रह सकता है। अथवा

े द्वारा सब प्राणियों में ईश्वरीयभाव करके 'परमर्थ'
रत रहा जा सकता है। कर्मयोगी के लिये द्वितीय विकल्प
एवं श्रेष्ठ है। इस प्रकार कर्मयोगी भक्ति को अंगीकार
कर्मफलत्याग' को कर्मयोग से भक्तियोग में अन्तरण कर
भगवान् ने 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा' (१२/१६)
र 'सर्वकर्मफलत्यागपूर्वक' भक्ति करने वाले भक्त का
किया है। अर्थात् कर्म मात्र का फलसहित भगवान को
करना ही भक्ति योगान्तर्गत 'सर्वकर्मफलत्याग' कहा गया है।
भक्त अहंता, ममता एवं कामना तथा आसक्ति से रहित
: कर्म करने में सफल होता है।

अतएव यहाँ 'सर्वकर्मफलत्यागरूप' साधन को कर्म प्रधान
ा के *बजाय भक्ति का ही एक प्रकार मानना अनुचित न होगा।*

नवधा भक्ति के सातवें प्रकारान्तर्गत गोस्वामी तुलसीदास
हिमय जग देखा' कह कर सम्पूर्ण प्राणियों को प्रभुमूर्ति समझना
ानकी सेवा करना भक्ति का एक प्रकार माना है; उसी भाँति
ा ईश्वर चिन्तन, मनन एवं ध्यानरूप 'मत्कर्म' यज्ञ, दान, तप
ेवा धर्मरूप 'मदर्थकर्म' एवं शरीर निर्वाह, जीविकोपार्जन
लोक-कल्याणार्थ किये जाने वाले अन्य कर्मों का भगवच्चरणों
ार्पण करना भी भक्ति का एक प्रकार है।

जब तक स्वार्थ कर्म किया जाता है; तब तक फलका
नहीं होता और ममता, आसक्ति, कामना एवं अहंता या
ान का अभाव होना सम्भव नहीं है। परार्थ कर्म करने में फल का
होता है। कर्मों का प्रेरक ईश्वर है; यह भावना होने पर
ा अथवा कर्तृत्व का विलय होता है ईश्वरार्पण बुद्धि से उन
का आचरण करने से एवं उनमें समर्पण का भाव जीवन्त
से आसक्ति, ममता, अहंता एवं कामना का त्याग हो जाता है।

भक्त को 'निर्वैरः सभूतेषु' (११/५५) कहा है। अर्थात् सब प्राणियों में भक्त की भगवद्बुद्धि होने से वैरभाव स्वतः ही समाप्त हो जाता है। अतः भक्त उनके प्रति 'करुणा' और 'मैत्री' का (गीता १२/१३) व्यवहार करता है। यह करुणा और मैत्री कर्म में प्रवृत्त होकर सेवा का मार्ग अपनाती है। अतएव 'सर्वकर्मफल-त्याग' के कथन मे सेवा धर्म अपना कर और लोक-कल्याण के कार्यों मे प्रवृत्त होकर विश्वरूप विराट भगवान् को अपने कर्तव्य कर्मों के पालन द्वारा पूजा अर्चन करने की पुष्टि की गई है।

(४) आत्मनिवेदन भक्ति :—

दास्य, सख्य एवं आत्म निवेदन यह नवधा भक्ति का अन्तिम समूह है। 'मत्कर्म', 'मदर्थकर्म' एव 'सर्वकर्मफलत्याग' और आत्म-निवेदन मे दास्य भाव की प्रधानता होती है। अतः गीतोक्त भक्ति दास्य भाव की भक्ति है।

भगवच्चरणों में समर्पण ही आत्मनिवेदन कहलाता है। भगवान् को भक्ति के सब प्रकारो में से आत्मनिवेदन भक्ति अतीव प्रिय है। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में जगह जगह अर्जुन (भक्त) को 'मेरी शरण;' 'मेरे परायण;' 'मन्मना' 'मय्येव मन आधत्स्व' आदि कहा है।

श्रीमद्भगवगीता के अनुसार आत्मनिवेदन भक्ति भगवान् में कर्मों का समर्पण, मन एवं बुद्धि का समर्पण और अन्ततः सम्पूर्ण व्यक्तित्व के समर्पण के रूप में सम्पन्न होता है। कर्मों का समर्पण, जिसे ऊपर 'सर्वकर्मफलत्याग' कहा गया है; इस प्रकार है—

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (९/२७)

'यदश्नासि' पद से शरीर निर्वाह सम्बन्धी समस्त कर्म; 'यज्जुहोषि' के अर्थ में यज्ञकर्म; 'ददासि' अर्थात् दान और सेवा

सम्बन्धी समस्त कर्म और 'यत्तपस्यसि' द्वारा मन, वचन एवं शारीरिक तप से सम्बन्ध रखने वाले समस्त कर्म एवं 'यत्करोषि' पद द्वारा लोक-व्यवहार और जीविकोपार्जन सम्बन्धी अन्य समस्त कर्मों का समर्पण करने को कहा गया है।

कर्म के समर्पण की ही भाँति विचार एव भाव का समर्पण करना भी आवश्यक है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय। (१२/८)

'मुझ में मन को लगा और मुझ मे ही वुद्धि को लगा' कह कर मन और वुद्धि का भगवान् में समर्पण करने को कहा गया है। मन के अन्तर्गत चित्त और बुद्धि के अन्तर्गत अहता का अन्तर्भाव है। अतः चित्त, मन, वुद्धि एवं अहंकार सहित अन्तःकरण चतुष्टय का भगवान् में अर्पण करना ही मन और वुद्धि का भगवान् मे लगाना है। इस प्रकार सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विलय कर देना ही आत्मनिवेदन भक्ति कहलाती है।

उपसंहार मे भक्ति के इस विशद स्वरूप को मात्र दो पदो द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। (१८/६६)

यहाँ 'धर्म' शब्द कर्तव्य कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुया है, जिसके त्याग का अभिप्राय है, 'सर्वकर्मफलत्याग' क्योंकि स्वरूप से कर्म का त्याग करना गीता को अभिप्रेत नहीं है।' अतएव 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पद द्वारा मत्कर्म', 'मदर्थकर्म' एवं 'मदर्पणकर्म' के रूप में किये जाने वाले समस्त कर्मों का फल सहित भगवच्चरणों में पूर्वोक्त प्रकार से समर्पण करने का भाव है। इसी प्रकार 'मामेकं शरण व्रज' का तात्पर्य अन्तःकरण चतुष्टय का भगवान् में समर्पण करना है। इस प्रकार समस्त क्रियाओं का, उनके फल का, विचारों का भावों का, भाव समुच्च अन्तःकरण का एवं सम्पूर्ण व्यक्तित्व का सम्यक्प्रकारेण सर्वाङ्गपूर्ण समर्पण करना ही आत्मनिवेदन भक्ति है।

गीतोक्त भक्ति के साधक भक्त का स्वरूप कथन निम्नोक्त प्रकार से किया गया है :—

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ (११/५५)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को करने वाला है; मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्ति रहित है; और सम्पूर्ण भूतप्राणियों में वैरभाव से रहित है; वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

(५) गीतोक्त भक्ति के साथ योग,—

'भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव' (८/१०) कह कर गीतोक्त भक्तियुक्त पुरुष को भक्ति के साथ योग की भी साधना करने को कहा गया है। ऐसा ही भक्तियुक्त पुरुष ध्यानयोगी कहलाता है। ध्यानपरायण योगी को पराभक्ति की प्राप्ति होना (गीता अ० १८ श्लोक ५४) बताया गया है। 'पराभक्ति की प्राप्ति होने पर वह भक्त उस पराभक्ति के द्वारा परमात्मा को जो वह है, और जितना वह है, ठीक उतना का उतना एवं वैसा ही उसे तत्त्व से जानकर तत्काल ही परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है।' (१८/५५) अर्थात् वह जीवन मुक्त हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि सगुण से आरम्भ कर निर्गुणब्रह्म का ध्यान करते हुए योग साधना करके पराभक्ति की प्राप्ति कर जीवन मुक्त होना गीतोक्त भक्ति का स्वरूप एवं उसका लक्ष्य है। इस भक्ति की साधनान्तर्गत कर्म का स्वरूप से त्याग नहीं किया जाता परन्तु समर्पण द्वारा रूपान्तरण किया जाता है।

गीता के मत से मोक्ष इसी जीवन में साधित होता है। अतः जीवन मुक्त अवस्था को गीताकार द्वारा स्वीकार किया गया है।

रामस्नेही साधना पद्धति के अन्तर्गत 'सगुणमता' को स्वीकार
वश्य किया जाता है, परन्तु उपासना मात्र निर्गुण ब्रह्म की
। होती है। 'राम' नाम के स्मरणपूर्वक ध्यान साधना करते
र योग की सिद्धि की जाती है। अन्त मे पराभक्ति की प्राप्ति
ने पर मुक्ति होना स्वीकार किया गया है । यह मुक्ति
ीवन-मुक्त अवस्था के रूप मे मानी गई है । इस प्रकार
ीतोक्त भक्ति से इसका साम्य है। आगामी पृष्ठो में इन्ही तथ्यो
ा वर्णन किया जायगा।

रामस्नेहि सम्प्रदाय की भक्ति

रामस्नेही सम्प्रदाय की साधना पद्धति के अन्तर्गत 'राम' नाम का स्मरण, शब्द ब्रह्म के रूप में निर्गुण-निराकार परात्पर परमात्मा का ध्यान; योग-साधना एवं भक्ति का समावेश है। इन सबमे से भक्ति को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है। अतः यह सम्प्रदाय भक्ति प्रधान सम्प्रदाय है और उसकी भक्ति का स्वरूप गीतोक्त भक्ति योग से मिलता जुलता है। ऐसा समझा जाता है कि गीता 'सगुणवाद' का प्रतिपादन करती है, परन्तु यह उल्लेखनीय है कि उसका आधार निर्गुण भक्ति ही है। गीता ने अधिकारी भेद से 'सगुणको' आसान बताया है, परन्तु निर्गुण का निषेध अथवा खण्डन नहीं किया गया है। सगुण के समान ही निर्गुण का भी महत्व स्वीकार किया गया है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि गीता मात्र सगुण का ही प्रतिपादन करती है। सगुण से निर्गुण की ओर क्रमशः आरोहण करना गीता को अभिप्रेत है।

यह ध्यातव्य तथ्य है कि गीता में प्रतीकोपासना का कहीं उल्लेख नहीं है। वहां विभूतिवाद' ठसाठस भरा हुआ है। 'सगुण' का प्रतिपादन भी 'विभूतिवाद' के रूप में ही हुआ है। यह सगुण से निर्गुण की ओर क्रमिक अग्रसरण होना कहा जा सकता है।

अर्थात् एक-एक विभूति विशेष को भगवत्स्वरूप समझते हुए सगुण व्यष्टि विशेष मे सर्वव्यापी निर्गुण-निराकार तत्व को समस्त चराचर प्रकृतिरूप समष्टि मे अनुभव करना बताया है। अवतार या विभूति विशेष में भगवद्बुद्धि का होना सगुणवाद है। यही गीता के दसवें अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है। प्रकृति के जड़-चेतन समस्त पदार्थों मे भगवद्बुद्धि का होना एवं सम्पूर्ण सृष्टि को प्रभुमय देखना अथवा प्रभु को सृष्टि मे सर्वव्यापी देखना निर्गुणवाद है। निर्गुण तत्व की झाँकी पाना ही गीता के ग्यारहवें अध्याय का विराट रूप दर्शन है। इस प्रकार विभूति वर्णन करने के पश्चात् विराट रूप दिखाना भक्त को सगुण से निर्गुण की ओर उन्मुख करने की प्रेरणा है।

रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्यों के मत से सगुण एवं निर्गुण में तत्वतः कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही हैं। अतएव सगुणरूप में 'चेतनदेव साधु' की सेवा एवं भक्तों के यशका गुणानुवाद किया गया है। वे नित्य एवं नैमित्तिक अवतारवाद को स्वीकार करते हैं। इनके आचार्यों एवं महात्माओं की वाणी में विभिन्न विभूतियों के रूप में उस निर्गुण-निराकार अव्यक्त तत्व को व्यक्त होना माना गया है। यह परात्पर परब्रह्म परमात्मा की दयालुता है कि निर्बल एवं दुखी आर्त्तभाव से जब और जहाँ पुकार करते हैं, तत्काल वहीं वह व्यक्त हो कर उसको संकट से मुक्त कर देते हैं।

निर्बल दुखित अराधियो, प्रगट्यो तहँ परमेस।
(करुणासागर)

इस पर ये सगुण का आधार लेकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना में प्रवृत्त होते हैं। निर्गुण निराकार परात्पर परब्रह्म का प्रतीक तारक मंत्र, 'राम' नाम इनकी भक्ति एवं उपासना का मेरुदण्ड है, परन्तु इनकी उपासनान्तर्गत प्रतिमा पूजा का कोई विधान नहीं है। वे 'घट ही में परमात्मापूजा' के विधान का अनुसरण

करते हैं। अतएव इनकी भक्ति निर्गुणभाव की कहलाती है। ये निर्गुण परब्रह्म के उपासक हैं।

संतों ने उन लोगों को धन्य माना है, जिनके हृदय में ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य उत्पन्न हो गया है। अतः इन्होंने निरन्तर सद्गुरुदेव और संतो की सेवा करते हुए इन तीन पदार्थों को उपलब्ध करने पर जोर दिया है।

तीन पदार्थ परसराम, ज्ञान भक्ति वैराग।
जन संगत ते पाइये, परगटे पूर्व भाग॥

अनुभव सिद्ध सद्गुरु के उपदेश एवं ज्ञानीजनों की सत्संग से ज्ञान का विकास होता है। ज्ञान होने पर वैराग्य एवं वैराग्य से भक्ति का उदय होता है। जब संसार की असारता का ज्ञान होता है, तब उसके प्रति विराग का होना स्वाभाविक ही है। यह एक (संसार) के प्रति वैराग्य भाव तब तक अपने आप में अपूर्ण है, जब तक कि वह उससे किसी उच्चसत्ता के प्रति आस्था एवं अनुराग में परिणत नहीं हो जाता। सद्गुरु उस परमसत्ता का ज्ञान कराता है, जिसे ब्रह्म कहते हैं। सांसारिक पदार्थों और विषयों के प्रति वैराग्यभाव निर्गुण परब्रह्म की सर्वव्यापकता तथा उसकी दयालुता के प्रति श्रद्धा एवं अनुरागभाव में परिवर्तित होता है, जिसे भक्ति नाम से व्यक्त किया जाता है।

सामान्य भक्त के जीवन में इस भक्ति का उदय ज्ञान के बजाय भावनात्मकस्तर पर होना भी बताया गया है। परन्तु हम पाते हैं कि नामस्मरण में निष्ठा एवं सद्गुरु के प्रति श्रद्धा से उत्पन्न यह भावस्तर की भक्ति शीघ्र ही प्रेम भक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह प्रेमाभक्ति नामस्मरण की कण्ठ और हृदयावस्था जहाँ चित्त, मन, बुद्धि एवं अहंता की एकता होना बताया गया है, से प्रारम्भ होकर नाभि अवस्था, जहाँ मन

का प्राणों में लय होना और उससे जरा एक स्तर ऊपर 'सुरत' एवं 'सबद' के निरन्तर एक बने रहने की अवस्था तक बनी रहती है।

इस प्रकार रामस्नेही सम्प्रदाय की भक्ति स्तुति प्रार्थनामय ज्ञानाश्रित निर्गुण भाव की है। इसे संतों ने ज्ञान भक्ति कहा है। शास्त्रीय भाषा में यह ज्ञान भक्ति ही परा भक्ति कहलाती है। इसका क्रमिक विकास भाव भक्ति, प्रेमभक्ति एवं ज्ञान भक्ति अथवा परा भक्ति के रूप में होता है।

भाव भक्ति

साधक भाव भक्ति से अपनी साधना का प्रारम्भ करता है। संत, श्रीगुरुदेव, एवं 'राम' (निर्गुण ब्रह्म का वाचक 'राम' शब्द का स्मरण रूपी सेवा-साधना) के प्रति भावभक्ति से साधना का प्रारम्भ होता है। आत्मसाक्षात्कार किये हुए अनुभवी संतों व श्री गुरुदेव की अनन्य भाव से सेवा कर साधना की कुन्जी हस्तगत की जाती है और भावयुक्त मन से 'रामनाम' रूपी उस कुन्जी को रसना द्वारा अहर्निश घुमा कर इस मानव शरीररूपी ताले की कण्ठ, हृदय एवं नाभी स्थल की पंखुड़ियां को खोला जाता है।

भावयुक्त मनरूपी स्वामी के द्वारा रसनारूपी कर से शब्द शक्ति का ताला खोल कर प्रेमभक्ति के भवन में प्रवेश किया जाता है। उसी भवन से पराभक्ति की मंजिल पर पहुँचने के लिये योग के पच्चहीं के सोपान लगे हुए हैं; जिनको पार करने पर योगसिद्धिरूपी पराभक्ति की देहरी को पार कर पराभक्ति की मंजिल में प्रवेश प्राप्त होता है। अतः भाव-भक्ति से प्रारम्भ कर साधक को पराभक्ति की ओर अग्रसर होने के लिये आचार्यश्री इस प्रकार प्रेरित करते हैं—

भाव जागिया रामदास, परभावे लिव लाय।

सत्पुरुष साधु-महात्माओ की सत्संग करते हुए यम-नियमो [के पा]लनपूर्वक सद्गुरुदेव की सेवा कर उनके द्वारा बताए गये तारक 'राम' नाम की योगविधि सहित श्रद्धा और भाव से साधना [कर]ते रहने पर यह भावभक्ति प्रेम भक्ति के रूप में परिवर्तित हो [जा]ती है।

[प्]रेम भक्ति

प्रथम 'राम' नाम का स्मरण रसना से किया जाता है। शनैः शनैः 'राम' शब्द का उच्चारण कण्ठ से होना प्रारम्भ हो जाता है। स्मरण की इस कण्ठावस्था में प्रेम का उदय होता है; जो निरन्तर विकसित होता हुआ प्रगाढ़ रूप धारण कर लेता है। यही प्रेमाभक्ति कहलाती है। सम्प्रदाय के आचार्य एवं संत अपने सद्गुरु और परब्रह्म से प्रार्थना करते हुए प्रेम भक्ति की याचना करते हैं—

प्रेम भक्ति मोहि आपो।
मांग मांग दाता हरि आगे जपूं तुमारा जापो।
(श्री हरि०)

इस प्रेमाभक्ति का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

प्रेम हि पाती फूल चढावे, भाव हि भोजन भोग लगावे।
प्रेम पलोतो प्रेम हि जावे, प्रेम हि झालर ताल बजावे।
प्रेम आरती प्रेम हि गावे, प्रेम हि सुन में ध्यान लगावे॥
(श्री राम०)

तथा—

राम प्रथम सरसत रसन, दरसत चिहन सु ऐन।
तरसत हरि के मिलनकों, जल बरसत नित नेन॥[1]

---

१. श्री हरिरामदासजी म० की परची।

और भी—

> जल बरषं नैना प्रटपट बैना गदगद शब्दं होत जहीं।
> नहि नींद सु रैना भूख लगैना, ह्वै लवलीना राम महीं ॥
> कबहू बवतं कबहू भवतं चित्त द्रवतं प्रेम सदा।
> ऐसे उम्मत्त कहै स जवतं शंक जनतं नांहि कदा ॥[1]

जैसे-जैसे प्रेम भक्ति प्रगाढ़ बनती जाती है, वसे वैसे भगवत्कृपा एवं ब्रह्म साक्षात्कार की झलक का भक्त अनुभव करता हुआ प्रतीत होता है—

> ज्यों ज्यों प्रीति लगी निशिबासर,
> त्यों ही भई है ज्योति सवाई।
>
> (श्री जयमल०)

इस प्रेमभक्ति की अवस्था में दो विशेषताएँ द्रष्टव्य है। प्रथम, प्रेम विह्वलता में सुध-बुध का विसर जाना और विरह की व्याकुलता में प्राणों का छटपटाना। द्वितीय नामस्मरण की गति का हृदयस्थल से हो कर नाभि स्थान तक पहुँच कर सहज स्मरण अथवा 'अजपाजाप' में बदलना। यह प्रेमाभक्ति प्राणयुक्त ररंकार ध्वनि द्वारा योग के षट्चक्रों के भेदन और त्रिकुटी तक पहुँचने पर्यन्त निरन्तर प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होती जाती है; जब तक कि 'पीव' मिलन की उत्कण्ठा पूर्ण नहीं हो जाती। अतः प्रेमाभक्ति की अवस्था में एक तरफ रोम रोम से ररर ध्वनि उच्चरित हो कर योगजन्य अपूर्व आनन्दानुभूति का प्रत्यक्षीकरण होता है और दूसरी ओर चित को वह प्रशिक्षण मिल चुका है कि उसकी 'सुरत' (चितवृत्ति) शब्दब्रह्म में रम चुकी है। अब उसे शब्द की वाचक शक्ति परब्रह्म से साक्षात्कार करने की तीव्र उत्कण्ठा जागृत होती है। यह 'पीव'

---

१ वही

मिलन की चाह एक असह्य विरह वेदना - के रूप में फूट पड़ती है, जिसका दर्शन हमें आचार्यों एवं संतों की वाणी में होता है।

पराभक्ति

प्रेमा भक्ति के पश्चात पराभक्ति की अवस्था आती है 'राम' नाम के स्मरण से रर कार ध्वनि युक्त प्राण षट्चक्रों का भेदन कर जब इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना की संधि (त्रिकुटी) पर पहुँच जाता है तब साधक को आत्म-दर्शन होता है, तब पराभक्ति का उदय होता है। तत्पश्चात् अधःऊर्ध्व की संधि और उससे परे की अवस्था में साधक पूर्ण पराभक्ति में अवस्थित हो जाता है।

रामस्नेही साधक का लक्ष्य इसी पराभक्ति को प्राप्त करना होता है। आचार्य श्री रामदासजी महाराज ने 'भाव जागिया रामदास, परभावे लिव लाय' कह कर यही व्यक्त किया है। श्री परसरामजी म० स्पष्टतः इस ज्ञान (परा) भक्ति को प्राप्त कराने की प्रार्थना करते है।

> भाहू अपनो जांण, प्राण कूं पावन कीजे।
> दीजे हमकूं पोल, ज्ञान भक्ति नित दीजे॥

इस पराभक्ति का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है:—

> यह परा जु भक्ती धर्म सु रक्ती कहीं सु उक्ती संजुक्तो।
> अति आतम मुक्ती पति अनुरक्ती निकट निरक्ती यों युक्ती॥
> मिल एकमेकं स्वामि विसेकं सेवग सेकं मुक्त सहै।
> पयसो हवि मेकं सो दरसेकं रस पीवेकं भिन्न रहै॥[1]

पराभक्ति की अवस्था में उपास्य-उपासक का भेद समाप्त हो जाने से भक्त का आत्मभाव लुप्त हो जाता है और

---
[1] वही

वह परब्रह्म के साथ दूध में पानी के सम्मिश्रण के समान समाविष्ट हो ब्रह्मानन्द का भोग करता हुआ भक्त स्वयं ब्रह्मस्वरूप बन जाता है। अतः भावभक्ति प्रेमाभक्ति के पथ से होकर जब पराभक्ति में प्रविष्ट हो जाती है, तो ब्रह्मदर्शन होता है, परन्तु इस गूढ रहस्य को दुनियां समझ नहीं पाती:—

भाव मिल्या पर भाव में, ता पर केवल ब्रह्म।
तिहूँ लोक जावी नहीं, रामा वाका मर्म॥

(श्री राम०)

इसी पराभक्ति को मुक्ति का उपाय बताया गया है, जिसको प्राप्त करना ही एक मात्र भक्त की कामना होती है:—

जुक्ति मुक्ति भक्ति दान शक्ति ब्रह्म दीजे॥

(श्री दयाल०)

❀ रामस्नेही भक्ति के नवांग ❀

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज ने सम्प्रदाय की भक्ति के विभिन्न अंगों का प्रतिपादन इस प्रकार किया है:—

रामा भक्ति अंग यह, धरै ज्ञान विचार।
मन क्रम वच इक धारणा, अमिट भाव इकतार॥१॥
आर्जवता संतोषता, करे न मन अभिमान।
श्रवण कथा रुचि राम रति, पूजा साधु विधान॥२॥
साधु वैण सांचा हृदै, कदे न पलटै मन्न।
करै कीर्तन एक रस, रामभजन हरिजन्न॥३॥
चरण सेव पूजन जना, वन्दन दासा नित्त।
सखा समर्पण भावना, रामा साचे चित्त॥४॥

१. वरतै ज्ञान-विचार

ज्ञान-विचार पूर्वक व्यवहार करने को भक्ति का प्रथम अंग बताया गया है। व्यवहार को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। (क) लोक व्यवहार (ख) धर्माचरणरूप कर्म और (ग) आध्यात्मिक साधना। इन सब के पालन में ज्ञान और सत्यासत्य का विचाररूप विवेक का होना अत्यावश्यक है। लोक र अर्थात् शरीर निर्वाह, जीविकोपार्जन एवं पारिवारिक सामाजिक सम्बन्धों के निर्वाह में ज्ञान विचार का अर्थ ारिक सामाजिक एवं नैतिक मर्यादानुकूल व्यवहार करना है।

धर्माचरण के सन्दर्भ में ज्ञान विचार का अभिप्राय कपूर्वक शास्त्रोक्त विहित कर्मों का पालन और निषिद्ध कर्मों त्याग करते हुए सद्गुण, सदाचार एवं सद्भाव धारण करना । यहाँ सकामभाव का त्याग एवं निष्काम भाव से कर्मानुष्ठान रना भी ज्ञान विचार का अभिप्रेत कहा जा सकता है।

आध्यात्मिक साधनान्तर्गत ज्ञान विचार का आशय ामिक शौचाचार और कर्मकाण्ड को गौण स्थान देकर सत्य त्व का चिन्तन-मनन करते हुए 'राम भजन' की साधना करना है। इस प्रकार ज्ञान विचार अर्थात् विवेक-ज्ञान को भक्ति का अंग बताया गया है। अतः रामस्नेही सम्प्रदाय की भक्ति ज्ञानाश्रित निर्गुण भाव की निश्चित हुई।

२. इक धारणा एवं अनिष्ट भाव

ज्ञान-विचार अथवा विवेक-ज्ञान के माध्यम से तत्त्व निर्णय पर पहुंचने पर जिस आस्था अथवा श्रद्धा का उदय होता है; वही यहाँ भाव कहा गया है 'इक धारणा' का शब्दार्थ एक निष्ठत है। निश्चयात्मिका बुद्धि भी कहा जा सकता है। बुद्धि में यह निश्च

होना कि यह समस्त जगत् उस परात्पर परमेश्वर में स्थित है; और वही निर्गुण-निराकार परमात्मा सर्वव्याप्त है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। एक मात्र परमात्मा ही वरणीय है। ऐसा निरन्तर 'अमिटभाव' (निश्चय) बना रहने से परमात्मा के प्रति श्रद्धा, आस्था अथवा एक निष्ठता प्राप्त होती है। यही अमिटभाव इकतार' एवं 'इक धारणा' का अभिप्राय है। यही गीता का 'स्थितप्रज्ञ दर्शन' है।

९. आर्जवतादि सद्गुण

भक्तियोग नामक गीता के बारहवें अध्यायान्तर्गत सगुण, निर्गुण भक्ति का विवेचन करते हुए भक्ति के विभिन्न रूप बता कर उसका (भक्ति) स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अन्त में भक्त लक्षणों का प्रतिपादन कर साधक को भक्त लक्षण अपनाने पर बल दिया गया है। इन सद्गुणों की कसौटी पर खरा उतरने वाले साधक को भगवान् ने अपना प्रिय भक्त कहा है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी भक्ति के नवांगों के प्रतिपादन में इन सद्गुणों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्यों ने भी आर्जवता, संतोष, निरभिमान अथवा अहंता के त्याग को भक्ति का अंग प्रतिपादित करके गीतोक्त भक्त लक्षण अर्थात् सद्गुण, सदाचार एवं सद्भाव धारण करना ईश्वर-भक्ति का एक प्रकार स्वीकार किया है।

१०. राम-रति ही श्रवण-भक्ति है।

रामरति अर्थात् निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमेश्वर के प्रति अनन्य अनुराग का होना और भक्तों की कथा एवं उनके चरित्रों को सुनने में रुचि का होना भक्ति का चौथा प्रकार है। यह श्रवण भक्ति कहाई गई है। साधु-पुरुषों से तत्त्व ज्ञान का श्रवण करना भी श्रवण भक्ति है।

. राम भजन रूप कीर्तन — निरन्तर श्वासोच्छ्वास तारक बीज मंत्र 'राम' नाम का योगविधि सहित स्मरण करना और 'राम' रूपी शब्द ब्रह्म में चित्तवृत्ति के निरोध को 'रामभजन' कहा गया है। इस प्रकार से साधना करना ही इनकी कीर्तन भक्ति है।

६. चरणसेव पूजन भक्ति — स्थितप्रज्ञ एवं भक्त लक्षणों से युक्त अनन्य अनुरागी भक्त, जिन्हें भगवान् ने गीता में अपना अतिशय प्रिय कहा है, उनकी चरण सेवा करना ही सच्ची पूजा है क्योंकि शरीरधारी साधु-भक्त के रूप में वह अजन्मा परमात्मा ही प्रकट है—

रामा ब्रह्मंड साधु वपु, पूरण ब्रह्म प्रगट।

भगवान् के सच्चे भक्त वास्तव में प्रकट रूप में भगवान् का ही रूप है। अतएव उनकी श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक सेवा करना भी भक्ति का ही प्रकार है। उनकी सेवा की उपादेयता यह है कि उन तत्त्वज्ञ संत-महात्माओं की नम्रतापूर्वक सच्चे भाव से सेवा करने से वे परमज्ञान का उपदेश करते हैं, और उनकी कृपा से वास्तविक भक्ति भाव का उदय होता है। युग युग में आज दिन पर्यन्त मुमुक्षुजनों को वैराग्य का दिग्दर्शन करके आत्मोपलब्धि कराने का श्रेय इन्हीं महात्माओं को है—

रामरूप हरिजन प्रगट, भाव भक्ति आराध।
जुग जुग मांही देख लो, रामा तारण साध॥

(श्री दयाल०)

× × × ×

प्रथम सब सर करो ध्यान मोक्ष मूलं, मिटै अज्ञान सब भरम भागा।
दूसरे चरण गुरुदेव शरणं गया, सतगुरु चरण निज आय लागा॥

(श्री राम०)

क्योंकि—

> बुद्ध मिले गुरु देव सूं, बुद्ध विघाएं राम।
> जब तन-मन अरपण करै, सरं सकल हो काम॥
>
> (श्री राम०)

ज्ञान की सार्थकता तब है, जबकि—

> ज्ञान पाय अज्ञान मिटावे, दुरमति दुबध्या दूर गमावें।
> काम क्रोध मारे अहंकारा राम नाम रसना रट प्यारा॥
>
> (श्री राम०)

७. स्तुति-प्रार्थना

सम्प्रदाय की भक्ति साधनान्तर्गत स्तुति प्रार्थना को भी महत्वपूर्ण स्थान है। निष्काम भाव से निर्गुण ब्रह्म की वन्दना करना स्तुति कहलाती है और सकाम भाव से सगुण ईश्वर को प्रार्थना होती है। यद्यपि रामस्नेही आचार्य सैद्धान्तिक तौर पर निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को स्वीकारते हैं, और निराकार सर्वव्यापी ब्रह्म में दया, करुणा, भक्तवत्सलता आदि गुणों का आरोपण कर उसकी उपासना करते हैं; परन्तु व्यावहारिक धरातल पर वे सगुण ईश्वर को भी मानते हैं। यहाँ तक कि अवतारवाद का भी वे निषेध अथवा खण्डन नहीं करते। अतएव वाणी साहित्य में निर्गुण ब्रह्म की स्तुति और सगुण ईश्वर की प्रार्थनाएँ यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होती है। निष्काम भाव से निर्गुण ब्रह्म की वन्दना वाणी साहित्य में 'ब्रह्म स्तुति' नाम से वर्णित है। प्रार्थनाएँ विभिन्न अंगों में जैसे— 'वीनती को अंग,' 'गुरू वन्दन को अंग,' और ग्रन्थ यथा—'करुणा सागर;' 'रक्षाबत्तीसी,' 'अरदास बत्तीसी' आदि में वर्णित की गई है।

स्तुति केवल परब्रह्म को ही की गई है, परन्तु प्रार्थनाएँ परब्रह्म, संत और गुरु इन तीनों को समान रूप से मिलती है। ये

गुरु एवं संतों मे अभेद दृष्टि रखते हैं। कभी-कभी तो आचार्य परब्रह्म की प्रार्थना से आरम्भ करते है। और अन्त संत व की वन्दना के रूप में होता है। कभी सद्गुरुदेव की प्रार्थना करते- बीच ही में परब्रह्म का भाव ले आते है तो कभी परब्रह्म में सद्गुरुदेव के दर्शन करते प्रतीत होते हैं। इसी तरह इनकी प्रार्थना भाव हुआ करते है। रामस्नेही सम्प्रदाय के अनुयायी आचार्यों रचित स्तुति व प्रार्थनाओं का नित्य नियम के रूप में पाठ तथा न करते हैं।

साधना की प्रक्रिया में स्तुति-प्रार्थना प्रेम भक्ति की अवस्था स्मरण की कण्ठ व हृदय स्थल की परिधि मे स्फुट होती है, जो क्त हृदय की सहजाभिव्यक्ति कही जा सकती है। अतएव रामस्नेही सम्प्रदाय के वाणीकार आचार्यों एवं महात्माओं ने पूर्व निश्चित स्तुति-प्रार्थना के बजाय स्वनिर्मित स्तुति-प्रार्थनाएँ की है। इनके अनुयायी भक्ति के भावस्तर पर रसना से 'राम' नाम का जप एवं आचार्यों तथा महात्माओं द्वारा निर्मित स्तुति-प्रार्थनाएँ किया करते है, जिनमे शनैः शनैः वे भी भाव से प्रेमा भक्ति की ओर अग्रसर होते हैं और अन्तत. साध्यावस्था परा भक्ति को भी प्राप्त कर सकते हैं।

स्वनिर्मित एवं भक्त हृदय के सहज उद्‌गारों के रूप मे अभिव्यक्त स्तुतियों में सर्वव्यापी निर्गुण-निराकार ब्रह्म की सत्ता का अत्यन्त ही सुरम्य भाषा, मनोहरभाव एवं अनुपम शैली में वर्णन करते हुए उदात्त विचार और उत्कृष्ट आध्यात्मिकता का परिचय दिया गया है। इसी तरह प्रार्थनाओं मे इनकी विनय, दास्यभाव, शरणागति तथा निरहंकारिता मुखर हो उठी है। प्रार्थनाओं में जहाँ दीनता का भाव व समर्पण किया गया है, वहाँ वे स्तुति करते समय ब्रह्म सत्ता की दिव्य-अनुभूति से अभिभूत हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार स्तुति एवं प्रार्थनाएँ इनकी भक्ति साधना का अभिन्न अंग है।

८. विरह-व्याकुलता नामस्मरण की सिद्धि शब्द को पराशक्ति के प्राकट्य के रूप में उस समय होती है, है जब नाभी स्थान में अत्युत्तम स्मरण की अवस्था आती है और रोम रोम में सहज-सुमिरण' अथवा 'अजपाजाप' होने लगता है। यही आ कर प्रेम भक्ति पूर्णता को प्राप्त होती है। प्रेम की इस चरम स्थिति पर पहुँच कर भी साधक को जब भगवद्दर्शन नहीं होता है, तब विरह वेदना असह्य हो उठती है और भक्त श्री भगवद्दर्शन के लिये छटपटाने लगता है। साधना में यह विरह व्याकुलता एक आवश्यक अवस्था के रूप में आती है, जबकि भक्त अपनी सुध बुध खो बैठता है और वह प्रेम दीवाना आत्म साक्षात्कार के लिये आतुर हो उठता है।

> विरहनी मारी विरह की, सुध बुध बिसरी सार।
> हरिया सिर सूं डारिया, हीर चीर सिणगार ॥

हृदय में इस विरह व्याकुलता का जागृत होना धन्य है, जिससे प्रेम भक्ति की पूर्णता होती है। और भक्त केवल भगवान् का ही होकर रह जाता है।

> विरहा सूं आयो भलो हरिया अन्तर माहिं।
> राम दीवानो करि गयो, और किसो की नाहिं ॥ (श्री हरि०)
>
> × × × ×
>
> विरह आय अन्तर बसै, सतगुरु के परताप।
> रामदास सुख उपजै, आय मिलोगे आप ॥" (श्री राम०)

जैसे-जैसे विरह की वेदना तीव्र होती जाती है, वैसे-वैसे भक्त को भगवद्दर्शन की अनुभूति प्रतीत होने लगती है और यह आस्था दृढ़ होती है कि अब अवश्य ही करुणासागर परब्रह्म के दर्शन होंगे.—

'ज्यों घायल उर साले पीरा,
रयों त्यों ध्यावें राम शरीरा।'
(श्री हरि०)

और—

विरहा मोहि मिलावसी, परम सुन्य के मांय।
(श्री राम०)

इस प्रकार भावात्मकस्तर भक्ति का प्रारम्भ बिन्दु है। प्रेमस्तर भक्ति का चरमोत्कर्ष है। वस्तुतः भाव एवं प्रेम एक दूसरे से पृथक पृथक नहीं है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। भाव से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है और प्रेम सच्चा भाव जागृत करता है।

भाव बिना भक्ति नहीं, भक्ति बिना नहीं भाव।
रामा किरणां सूर मिल, दृग मध्ये दरसाव॥

भाव से प्रेम एवं प्रेम से सच्ची लगन का उदय होता है। लगन ही मिलन की आतुरता है। जब भक्त में सच्ची विरह-ता एवं मिलन की उत्कण्ठा जागृत होती है; तब भक्ति भक्त को त के द्वार पर लेजाकर खड़ा कर देती है:—

लगन लगी लायक-जुगत, भक्ति मुक्ति के द्वार।
मदुक दवया जन परसराम, तन मन तज्या विकार॥

विरह की ज्वाला में तन-मन के विकार जल कर भस्म हो जाते हैं। ममता, आसक्ति और अहंता का विकार प्रेम की पावनता धुप कर अन्तःकरण स्फटिक मणि सदृश स्वच्छ एवं निर्विकार हो जाता है। तब भक्त को मुक्ति के द्वार तक पहुंचने का स्वाभाविक अधिकार प्राप्त होता है।

६. आत्मनिवेदन

'राम' नाम का योगविधि सहित स्मरण, स्तुति, प्रार्थना एवं भावभक्ति, प्रेमाभक्ति और विरह वेदना के विभिन्न सोपानों को पार करता हुआ भक्त अन्त में 'समर्पण की' अवस्था को प्राप्त होता है। वह उस उच्चतम भावस्थिति को अनुभूत कर लेता है, जिसमें अवस्थित हुआ वह ऊठते, बैठते, सोते, जागते सर्वत्र सब काल में एवं समस्त क्रियाओं का प्रेरक मात्र वह परमात्मा ही है; ऐसा समझता है। अतएव वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव से मुक्त हो जाता है और उसे कर्म बन्धन का किंचित् भी भय नहीं रहता:—

> ऊठत बैठत जागतां, सोवत स्वप्ने माँहि।
> राम धणी प्रेरक सदा, रामदास डर नाँहि॥

इस प्रकार की भक्ति को केवल वही भक्त प्राप्त करने में सफल हो सकता है, जो इन्द्रियों सहित शरीर को, मन को, अहंता को (आपो) एव चित्त को एवं सम्पूर्ण व्यक्तित्व (शीश) को भगवच्चरणों में समर्पित कर देता है:—

> तन मन आपो अरप दै, दै सांचे चित्त शीश।
> सो पीयेगा रामरस, रामा बीसवा बीस॥ (श्री दयाल०)
>
> ×   ×   ×   ×
>
> रामदास फल अगम है तन मन दीया खाय।
> तन मन दीया बाहिरो, जग में खालो जाय॥ (श्री राम०)

यह आत्मनिवेदन रूप समर्पण है। इस समर्पण के पश्चात् 'सर्वस्व परमात्मा ही है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं,' ऐसी वृत्ति को धारण कर लेता है।

> आयो पोयो रामजी, उद्यम राम रमाय।
> राम दिशावर देश मम, रामाज्ञा सोई पाय॥ (श्री राम०)

समुद्र मध्य जहाज पर बठे पक्षी को जिस प्रकार उस जहाज के अतिरिक्त अन्य कोई अवलम्बन नहीं होता, ठीक उसी प्रकार संसार से निरालम्ब होकर भक्त भगवान् की शरण जाता है और पुनः आत्म कल्याण के लिये दीन भाव से उस प्रभु को पुकारता है :—

> शरण तुमारी रामजी, जिव की सुणो पुकार।
> मैं हूं वायस ज्याज को, और न को आधार॥ (श्री दयाल०)

रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्य साधन को उतना महत्व नहीं देते जितना कि भगवत्कृपा को वे देते हैं। परन्तु 'राम' नाम का स्मरण; भक्ति के साथ योग की साधना करना आदि को दृष्टिगत रखते हुए यह कहना अधिक सत्य होगा कि वे साधन की श्रेष्ठता के साथ-साथ मुक्ति के लिये भगवत्कृपा को भी आवश्यक मानते हैं। यही कारण है कि इनके वाणी साहित्य में भक्त हृदय की पावनता, निश्छलता एवं आर्जवता के साथ-साथ दीनता, आर्त्तपुकार, मिलन की उत्कण्ठा, विरहकी तीव्र वेदना एवं शरणागति तथा समर्पण के भाव भक्ति के साथ लबालब भरे हुए मिलते हैं। अतः यह सम्प्रदाय योग-परायण नहीं अपितु भक्ति परायण है।

भक्त 'राम' नाम के स्मरण के माध्यम से ध्यान एवं योग की साधना करता हुआ भक्ति के पथ पर अग्रसर होता है। विभिन्न सोपानों को पार करने के अनन्तर स्मरण शब्द की परा शक्ति में, ध्यान योग की सिद्धिस्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि में एवं भाव भक्ति परा भक्ति में परिवर्तित होती है, तब साधन की पूर्णता होती है और भक्त सम्पूर्ण विश्व को प्रभुमय देखने लग जाता है—

> सब घट मेरो सांइयां, दूजा और न कोय।
> विरह सान परकासिया, जित देखूं तित सोय॥ (श्री राम०)

और

> चौरासी सब जूंण, असमा भगवद् केरी।
> जिणमें अस उतम, मिनख तन परगट हेरी॥ (श्री दयाल०)

यह चोरासी लाख जीवयोनि परमात्मा की प्रतिमा है। उसी मनुष्य का मानव तन धारण करना सर्वोत्तम कहा जायगा; जिसने विश्वरूप में व्यक्त सर्वव्याप्त उस निर्गुण निराकार परब्रह्म का इसमें प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लिया है।

योग की सिद्धि एव पराभक्ति की प्राप्ति होने पर साधक को एक विशेष तत्वबोध की उपलब्धि होती है। अतः एक बार यह स्थिति प्राप्त हो जाने के पश्चात् साधक-भक्त को पुनः पुनः समाधि चढाना और उतारना नहीं होता। विशेष तत्व बोधोपलब्धि अपने आपमें एक दिव्यानुभूति है। यह उस निर्गुण निराकार परात्पर परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार है। अतः भक्त नित्य निरन्तर उस दिव्य अनुभूति मे अभिभूत, उससे ओतप्रोत एवं उसमें समाविष्ट रहता है। यही सहज-समाधि कहलाती है। इस सहज समाधि की पहिचान यह है कि साधक भक्त सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में एकी भाव मे पूर्णरूपेण स्थित हो जाता है।

सिद्धावस्था की पराभक्ति से युक्त एकीभाव मे ब्रह्म में स्थित हुआ भक्त सम्पूर्ण संसार को एक दिव्य शक्ति को सत्तात्मक हलचल मात्र अनुभव करता है। श्री हरिरामदासजो म० ने इस अवस्था का वर्णन 'नाम परचा' नामक रचनान्तर्गत नकारात्मक वचन द्वारा 'भुजंगी छन्द' में किया है। श्री रामदासजी म० ने भी 'ग्रन्थ निरामरख' में इसी प्रकार की अनुभूत स्थिति को नकारात्मक वचन कह कर भुजंगी छन्द में छन्दोबद्ध किया है।

इस अवस्था को अन्यत्र ब्रह्मविलास (ब्रह्मानन्द) की अवस्था बताया गया है। इसका वर्णन इस प्रकार है—

> "ओऊं सोऊं" जहां नहीं, जहं नहि सांस उसांस।
> ब्रह्मा विष्णु सिव सेस नहीं, जहं है ब्रह्म विलास॥
> रामा ब्रह्म विलास में, दिस्ट मुस्ट कछु नांहि।
> निराकार निर्लेप है, ओत पोत के मांहि॥

जीव सीव मेला भया, मिले ग्रोत ग्ररु पोत।
रामा सांई एक है, जहां ब्रह्म निज जोत ॥
जोत मिलाणी जोत में, एक मेक दरसाय।
रामा सांई एक है, कबहु न्यारा नांहि ॥
(श्री राम०)

इस प्रकार की ग्रवस्था को ग्राचार्यों ने जीवन मुक्त ग्रवस्था कहा है। रामस्नेही सम्प्रदाय के ग्राचार्य गीता के ग्रनुसार ध्यान से पराभक्ति एवं पराभक्ति से इसी जीवन में मुक्ति होना मानते हैं। ऐसा जीवन-मुक्त महापुरुष करुणा एवं मैत्री के भावों से प्रेरित हो सेवाधर्म के रूप में कर्तव्य पालन करता हुग्रा ज्ञान एवं भक्ति का प्रचार-प्रसार कर ग्रनन्त जीवों का कल्याण कर स्वयं परमपद का वरण करता है।

सगुण नवधा भक्ति से तात्त्विक भेद :—

सगुण भक्त ईश्वर के प्रतीक रूप में प्रतिमा की सेवा पूजा करता है। उसके लिये नवधाभक्ति का विधान प्रतिपादित किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा वर्णित नवधाभक्ति में परमेश्वर की प्रतिमा के बजाय विश्वरूप में व्यक्त प्राणियों के साथ सद्व्यवहार एवं सेवा रूप ग्रर्चन की प्रेरणा दी है। गीता में स्पष्टतः कर्मों द्वारा ईश्वर की पूजा करने को श्रेष्ठ बताया गया है। रामस्नेही सम्प्रदाय के ग्राचार्य भी 'चौरासी लाख जीव योनि में भगवत्प्रतिमा' का उल्लेख करके भक्त को ग्रपने कर्तव्य कर्मों के पालन ग्रौर सबके साथ सद्-व्यवहार एवं सद्भाव रखने को ही सच्ची ईश्वर पूजा मानते प्रतीत होते हैं।

संत महापुरुषों की सत्संग एवं स्वाध्याय के द्वारा समाज, नीति एवं धर्म तत्व का ज्ञान प्राप्त करके शुद्ध एवं सात्विक जीवन व्यतीत करते हुए वर्ण-ग्राश्रम के ग्रनुसार प्राप्त कर्तव्य कर्म का पालन

करने पर विशेष बल दिया गया है। लोक-जीवन को आदर्श एवं उन्नत बनाने के साथ-साथ योग्य एवं समर्थ गुरु से साधना की विधि समझकर राम नाम का योगविधि सहित स्मरण करते हुए निर्गुण-भक्ति करने का विधान है।

रामस्नेही सम्प्रदाय की साधना विधि के अनुसार निर्गुण-भक्त 'राम' शब्द को ब्रह्म के प्रतीक रूप में स्वीकार करता है और उसकी उपासना करने के लिये 'राम' नाम का निरन्तर स्मरण एवं चित्तवृति का उसमें निरोध करने का मार्ग अपनाता है। चूंकि शब्द का ज्ञान कर्णगत ध्वनि एवं स्वरूप कल्पना अथवा भावगत विचार से ग्रहण किया जाता है। अतः यहां 'राम' शब्द में भाव द्वारा ग्राह्य ब्रह्म का वह निर्गुण-निराकार सर्वव्यापी स्वरूप है, जिसके वाचक के रूप में 'राम' शब्द ग्रहण किया गया है। अतएव भाव भक्ति नामस्मरण के प्रति निष्ठा एव विश्वास में प्रकट होती है। नामोच्चार के साथ चित्तवृत्ति को लगाकर भाव द्वारा सर्वव्यापी ब्रह्म का ग्रहण किया जाता है। नाम जप द्वारा मनोजगत में एक उच्चस्तर के भावलोक का सृजन किया जाता है। शनैः शनैः नामोच्चारण का स्वरूप भी बदलता जाता है। प्रारम्भिक नाम जप रसना व कण्ठ से किया जाता है, किन्तु वह निरन्तर की साधना के फलस्वरूप हृदय और तत्पश्चात् नाभी से होने लगता है। अन्त में 'सहज स्मरण' या 'अजपाजाप' में परिणत हो जाता है।

सगुण भक्त जहां ईश्वर के स्थूल प्रतीक प्रतीमा की पूजा-अर्चना करता है, वहां निर्गुण भक्त उस ब्रह्म के वाचक शब्द को प्रतीक बनाता है। और प्रतिमा रूपी ईश्वर के स्थान पर शब्द रूपी ब्रह्म की उपासना करता है। यह निश्चित है कि 'स्थूल' प्रतिमा की तुलना में शब्द अनन्त गुणा सूक्ष्म एवं स्वयं में शक्ति का स्रोत है। उस देव प्रतिमा में 'प्राण प्रतिष्ठा' के माध्यम शब्दोच्चारण अथवा शब्द की स्थूल वैखरी शक्ति द्वारा

देव-आह्वान किया जाता है, जबकि इसके ठीक विपरीत निर्गुण भक्त 'राम' शब्द की निरन्तर साधना द्वारा शब्द की सूक्ष्म से सूक्ष्म शक्तियों को विकसित करने में अपनी मानसिक शक्ति का नियोजन करता है। फलतः नामस्मरण द्वारा कण्ठ स्थान की 'वैखरी' शब्द शक्ति से प्रारम्भ कर हृदय स्थान की मध्यमा और नाभिस्थान की पश्यन्ति को सिद्ध करने के पश्चात् सहज स्मरण अथवा 'अजपाजाप' रूपी परा शब्द शक्ति को जागृत किया जाता है, जो निश्चित रूप से वैखरी शब्द शक्ति, जिसके मन्त्रादि चमत्कार कहे-सुने जाते हैं, उसकी तुलना में अनन्तगुणा शक्तियुक्त होना स्वाभाविक है।

नामस्मरण की अवस्थाओं के साथ ही साथ भक्ति का भी क्रमिक विकास होता है। यह भावस्तर की भक्ति से प्रारम्भ हो कर प्रेम भक्ति एवं अन्त में ज्ञान या पराभक्ति के रूप में विकसित होती हुई पूर्णता को प्राप्त होती है। नामस्मरण सतत भक्ति के आलम्बन [सगुण भक्ति का आलम्बन प्रतिमा है] के रूप में काम करता है। रसना एवं कण्ठ स्थान की परिधि में भाव भक्ति की प्रधानता रहती है। हृदय एवं नाभीस्थल की स्मरणावस्था में प्रेम भक्ति का उदय हो कर विकास होता है। नाभीस्थल में सहजस्मरण अथवा 'अजपाजाप' अवस्था में पहुँच कर प्रेमभक्ति परिपक्व हो जाती है और विरह वेदना फूट पड़ती है। इस अवस्था में एक तरफ प्रेम भक्ति परा भक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है और दूसरी तरफ 'राम' नाम की साधना भक्ति से योग में परिवर्तित हो जाती है। रोम रोम में स्वतः उच्चरित 'राम' शब्द की 'ररर' ध्वनि से शब्द की अखण्ड परा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और वह योगशास्त्र में वर्णित प्रथम मूलाधार चक्र का भेदन कर लेती है। 'सुरत' व 'शब्द' में एकता स्थापित हो जाती है। सम्भवतः यही 'सुरत'-निरत' की अवस्था है

जहाँ एक तरफ 'सुरत' व 'सबद' की एकता 'सुरत' नाम से पुकारी गई है और दूसरी तरफ संकल्प-विकल्प से विहीन मन पवन के साथ एकीभूत हो जाता है, जिसे निरत नाम दिया गया है। मूलाधार चक्र का भेदन करने के पश्चात् जब नामस्मरण की साधना योग के रूप मे बदल जाती है, तब सुरत-निरत की साधना [योग] आरम्भ होती है और प्रेमा भक्ति सिद्धावस्था की पराभक्ति के रूप में विद्यमान रहती है। जब 'सुरत' 'निरत' की साधना सिद्ध हो जाती है अर्थात् इन दोनों में एकता स्थापित होने के साथ ही पराभक्ति की पूर्णता और योग की सिद्धि स्वरूप सम्प्रज्ञात समाधि लगती है। यहाँ पर मैं समाप्त हो जाता है और केवल तू ही तू सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगता है। जीवात्मा की परमात्मा के साथ समुद्र में बूँद के मिल जाने जैसी स्थिति हो जाती है। जीवात्मा हेरू (खोजी) बन कर हरि की खोज (हेरण) करने को जाता है, परन्तु जीवात्मा रूपी बूँद परमात्मा रूपी समुद्र में मिल जाती है फिर वह परमात्मा भला कैसे खोजा (हेराय) जा सकता है।

'रामदास हेरू भया, हरि हेरण को जाय।
बूँद समाणी समुद्र में, सो कैसे हेराय ॥
[श्री राम०]

'मिट्या हूँ पणा परसराम; ज्यूं हम सूं मुझ पीव।
सुरत निरत मिल एक घर, मिल्या जीव र सीव ॥
[श्री परसराम०]

योग एवं भक्ति

भक्ति भागवत दर्शन की देन है, दो? वैदिक साहित्य में उसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। वहाँ केवल ज्ञान, कर्म एवं योग की ही चर्चा की गई है। परन्तु वैदिक स्तुति प्रार्थना को भक्ति का ही रूप मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अतएव आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में ज्ञान, कर्म एवं योग के साथ ही साथ भक्ति को भी शास्त्रीय मान्यता बहुत पहले ही मिल चुकी है। स्वामी विवेकानन्द जैसे महान् व्याख्याकारों ने "ज्ञान योग, राज योग, भक्ति योग एवं कर्म योग के ऊपर ग्रन्थ लिखे और कहा कि आध्यात्मिक सिद्धि की प्राप्ति इन विभिन्न साधनों में से किसी भी एक की सहायता से प्राप्त की जा सकती है।"[१] परन्तु फिर भी ठेठ वैदिक विचारक आज भी भक्ति को मुक्ति का स्वतंत्र साधन नहीं मानते। जीवात्मा को सर्व बंधनों से मुक्त करने का श्रेय केवल योग को ही दिया जाता आया है। जहाँ तक रामस्नेही सम्प्रदाय का प्रश्न है, इनके आचार्यों ने योग की तुलना में भक्ति को अधिक महत्व दिया है और प्रेम भक्ति को मुक्ति का द्वार स्वीकार करते हुए मुक्ति के भवन में प्रवेश पाने हेतु और आत्मसाक्षात्कार या परब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिये प्रेम भक्ति से एक स्तर ऊपर पहुंचने की बात कहते हैं। इस उच्चस्तर को उन्होंने ज्ञान भक्ति के नाम से सम्बोधित किया है, जिसे शास्त्रीय भाषा में 'परा भक्ति' कहते हैं।

परा भक्ति सिद्ध अवस्था की भक्ति होती है। इस सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने का साधन रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्यों की दृष्टी में न केवल योग है और न केवल भक्ति ही हो सकती है। केवल योग सिद्धिपरक होने से वह आध्यात्मिक मार्ग का अवरोधक है, ऐसी इन महात्माओं की मान्यता रही है, क्योंकि योग अचेतन मन की शक्तियों को विकसित करने का एक पूर्ण साधन अवश्य है, परन्तु आध्यात्मिकता इससे भी उच्चस्तर की स्तु है और उसे केवल योग द्वारा दुष्प्राप्य कहना ही उपयुक्त। इसी तरह केवल भक्ति सम्भव है कि आत्मसाक्षात्कार कराने और मुक्ति प्रदान करने में सफल न हो। फलतः रामस्नेही साधना

१ डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन — 'भारत और विश्व' पृ० ७६

पद्धति में हम इन दोनों ही का समन्वय पाते हैं। इन्होंने योग के साथ भक्ति को आध्यात्मिक सिद्धि का सर्वोत्तम साधन माना है और भक्ति को ज्ञान तथा वैराग्य से प्रसूत मान कर उस भाव भक्ति प्रेम भक्ति एवं परा भक्ति के रूप में विकसित किया है। जब इस परा भक्ति के राजपथ में योग का मार्ग आ कर मिल जाता है तो वह भक्ति मुक्ति प्रदायिनी बन जाती है निर्गुण ब्रह्म के वाचक 'राम' नाम का श्वासोच्छ्वास स्मरण कर योग एवं भक्ति को एक सूत्र में पिरोया गया है। अतएव योग और भक्ति दोनों से भी अधिक महत्व नामस्मरण को दिया गया है।

'नामस्मरण का तत्व (रहस्य) और सार यह है कि इससे परा भक्ति प्राप्त होती है, जो जीवात्मा को जन्म-मृत्यु एवं आशा-तृष्णा रूपी बन्धनों से मुक्ति प्रदान कर अमर पद दिलाती है।

'परा भक्ति मिल मुक्ति, एक सुमिरण तत सारा।'[1]

× × × ×

प्रेम लक्षणा पुनि परा, दोय अक्षर के मांय।'[2]

× × × ×

'राम नाम तत ध्यावे कोई, भगति प्रेम परा ले दोई।'[3]

इस प्रकार ये महापुरुष योग एवं भक्ति की तुलना में 'राम' नाम स्मरण अथवा शब्द शक्ति की साधना को विशेष महत्व देते हैं। कारण स्पष्ट है। ब्रह्म निराकार व सर्वव्यापी है और वाचक की साधना वस्तुतः वाच्य की साधना हुआ करती है। निर्गुण ब्रह्म की उपासना केवल शब्द ब्रह्म के रूप में ही सम्भव है। रामस्नेही

१. श्री दयालदासजी म० की वाणी
२. श्री परसरामजी म० की वाणी पृ० १०
३. श्री सेवगरामजी म० की वाणी पृ० २४६

साधना पद्धति का अनुशीलन करने पर स्पष्ट होता है कि 'राम' नाम का स्मरण सर्वत्र ब्रह्म के वाचक के साथ ही साथ भक्ति के आलम्बन के रूप हुआ है। अतएव जहाँ आत्मसाक्षात्कार या मुक्ति प्राप्त करने का भक्ति साधन है, वहाँ 'राम' नाम का विधि सहित स्मरण करते हुए शब्द की परा शक्ति को जागृत करना एक सीमा तक तात्कालिक साध्य बन जाता है। साधन को तुलना में साध्य हमेशा अधिक महत्व रखता है।

जहाँ तक योग का प्रश्न है, वह आध्यात्मिक सिद्धि का एक प्रमुख साधन एवं आत्मसाक्षात्कार या परब्रह्म के दर्शन कराने वाला और मुक्ति प्रदाता अवश्य है, परन्तु फिर भी योग की अपनी सीमाएँ है। यदि साधक के हृदय में आध्यात्मिक लक्ष्य को सुदृढ किये बिना योग साधना अष्टांगों के क्रमिक साधन के रूप मे की जाय तो वह शारीरिक और मानसिक व्यायामों से कुछ आगे बढ़ कर अचेतन मन की शक्तियों को जागृत करने वाला और सिद्धिपरक रूप धारण कर लेगा। बहुत अधिक सम्भावना यह है कि इतने में ही योग साधना की पूर्णता मान कर आध्यात्मिक लक्ष्य को भुला दिया जाय। फिर यह भी खतरा है कि ऐसा योगी अहंभावी बन कर आत्म कल्याण तथा आध्यात्मिक सिद्धि करने के लक्ष्य से भटक कर जन उत्पीडक बन जाय। हमारी आध्यात्मिकता का इतिहास ऐसे भ्रष्ट उदाहरणों से सर्वथा मुक्त नहीं कहा जा सकता। रामस्नेही सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य श्री रामदासजी म० का कथन है—

'राम बिना खाली रह्या, सिद्ध उड़ता अरु गड़ता।'

अर्थात् नामस्मरण यानि भक्ति के बिना योगी सिद्ध बन कर जमीन में महीनों गड कर (समाधिस्थ होकर) जीवित रह सकता है और आकाश में उड़ जाने की शक्ति पा सकता है, परन्तु आत्मसाक्षात्कार या मुक्ति रूपी मणी को नहीं पा सकता। वह महान् सिद्धियों को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी आध्यात्मिक दृष्टि से खाली हाथ ही

रहता है। अतएव रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य योग के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। योग साधकों को उनका यह सन्देश है कि वे योग मार्ग में प्रवृत्त होने के पूर्व अपने हृदय में ईश्वर के प्रति प्रेम को स्थिर करें, प्रेमाभक्ति को विकसित करें और आध्यात्मिक लक्ष्य को दृढ़तापूर्वक स्थापित कर दें। इसके लिये वे निर्गुण ब्रह्म की भक्ति एवं उसके वाचक 'राम नाम' की विधिपूर्वक साधना करें ताकि योगजन्य विचित्र अनुभूतियें आध्यात्मिकता की अवरोधक न बन सकें और भक्ति को पराभक्ति की अवस्था में पहुँचा कर योग की परवर्ती दशाएें-ध्यान, धारणा और समाधि की अवस्था मे परिवर्तन करना सम्भव हो सके। इस प्रकार भक्ति जो मुक्ति के द्वार तक ले जाने में समर्थ है उसे ध्यान, धारणा व समाधि की अवस्था में बदल कर आत्म साक्षात्कार परब्रह्म के दर्शन एवं अन्ततः जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कराने वाले योग के साथ संयुक्त कर दिया जाता है।

वस्तुतः "योग का बहिरङ्ग रूप शारीरिक और मानसिक व्यायामों के रूप में सामने आये तो हर्ज नहीं। कर्मकाण्डों और साधना-विधानों को भी उसमें स्थान रहने की गुंजायश है, पर यह भूल नहीं जाना चाहिए कि यह योग कलेवर है—उसका प्राण नहीं। प्राण तो उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व की प्रेरणा देने वाले उपनिषद् प्रतिपादित उस अध्यात्म दर्शन में है, जिसे प्राचीनकाल में ब्रह्म विद्या कहा जाता था—जिसके आधार पर व्यक्ति अपनी सत्ता का समष्टि मे समर्पण करता था। आत्मा को परमात्मा स्तर तक पहुंचाना—[illegible] नारायण, पुरुष को पुरुषोत्तम, अणु को विभु—लघु को महान [illegible] था। चिन्तनस्तर की अन्तरंग उमंगे ही बहिरंग [illegible] आच्छादित होती है। उन्हीं से परिस्थितियाँ बनती हैं; [illegible] घटती है और दिशाएँ मुड़ती है। अध्यात्म शिक्षा का उद्देश्य [illegible] भावनात्मक मानवी मर्मस्थल को परिष्कृत और सन्तुलित करना

होना चाहिए। योग की सार्थकता इसी प्रयास की सफलता के म
जोड़ी झांकी जानी चाहिए।"[१]

भाव, प्रेम एवं परा आदि विभिन्नस्तरों पर भक्ति
नात्मक मानवी मर्मस्थल को परिष्कृत और सन्तुलित करती है।
द्वारा मानसिक चिन्तन स्तर की अंतरंग तरंगों को आध्यात्मिक
तक उत्कृष्ट बनाया जाता है एवं व्यक्ति सत्ता का समष्टि स
समर्पण का कार्य भक्ति की पूर्णता में होता है। अतएव भक्ति
को उसके साथ जुड़े हुए सहजात तथा सर्वथा स्वाभाविक ख
मुक्त करती है तथा योग को उपनिषद प्रतिपादित अध्यात्म
गुह्य विद्या का द्वार खोलने में समर्थ बनाती है। आध्यात्मिक
से भक्ति एवं योग को पृथक्-पृथक् दो मार्ग या प्रणालियाँ
देने के बजाय उन्हें परस्पर पूरक कहना अधिक उपयुक्त होग

क्या भक्ति मुक्ति का साधन है?

रामस्नेही सम्प्रदाय में भक्ति
का साधन स्वीकार किया
तारक बीज मंत्र 'राम' नाम
करने से पराभक्ति प्राप्त ह
उससे मुक्ति होना बताया गया है।

"परा भक्ति मिल मुक्ति, एक सुमिरण ततसार

× × ×

'प्राप्त होय परा उर भगति, तब ही होवे जीवन

आचार्य श्री दयालुदासजी म० ने भक्ति क
कहा है और परब्रह्म से वे उसकी याचना करते हैं—

'जुबिन मुक्ति भक्ति दान नाबिन ब्रह्म

श्रीमद् आदि शंकराचार्य ने भी मुक्ति की कारणरूप सामग्री में भक्ति हो को सर्वोच्च स्थान दिया है:—

'मोक्षकारण सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।'[1]

इससे ठीक अगली पंक्तियों में वे भक्ति की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि—"अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसंधान करना ही 'भक्ति' कहलाती है।" कोई-कोई स्वात्मतत्व का अनुसंधान ही भक्ति है, ऐसा कहते हैं।

'स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।
स्वात्मतत्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः॥

स्वात्म तत्व का अनुसधान करने के लिये जहां शास्त्र ज्ञान और गुरु कृपा की आवश्यकता होती है, वहां 'ईश्वरानुगृहीत' बुद्धि का निर्णायक योग होना श्रीमद् आदि शंकराचार्य स्वीकार करते हैं:—

"तटस्थिता बोधयन्ति गुरवः श्रुतयो यथा।
प्रज्ञयैव तरेद्विद्वानीश्वरानुगृहीतया॥"[2]

श्रीमदाद्य शंकराचार्य मुक्ति के हेतु कारकों में ज्ञान और वैराग्य को सर्वोच्च स्थान देते है। वस्तुतः वैराग्य तो ज्ञान से ही निःसृत है क्योंकि आत्मतत्व का सच्चा ज्ञान हो जाने पर ही सांसारिक पदार्थों में मिथ्यात्व बुद्धि और उनके प्रति वैराग्य का उदय होता है। यह भौतिक पदार्थों के प्रति विरागभाव ही 'आत्मतत्व' के प्रति 'राग' और उसके अनुसन्धान के लिये 'लगन' एवं तत्परता को जन्म देती है। इसी तत्परता व लगन के कारण ज्ञान मार्गी साधक ब्रह्मभावना, ध्यान एवं 'आत्मचिन्तन' करता हुआ 'स्वात्मतत्व' को पाने में सफल होता है। जब वे बोधोपलब्धि में 'ईश्वरीय अनुग्रह' को भी स्थान दे

---

१. विवेक चूडामणि—श्लो० ३२-३३

२. श्लो० ४७७

है, तो वे :भक्ति के निकट पहुँच जाते हैं क्योंकि भगवदचरणों में शेष प्रीति और 'ईश्वरानुकम्पा' को स्वीकारना भक्ति की सबसे बड़ी पहिचान है।

इस प्रकार श्रीमद् आदि शंकराचार्य 'भक्ति' दर्शन के निकट पहुँचकर लौट जाते हुए जान पड़ते हैं। कारण वे 'अद्वैत' मत के प्रतिपादक है, जबकि भक्ति द्वैतादि मूलक होती है। परन्तु हमें यह भी याद रखना होगा कि भक्ति के आरम्भ तथा विकासक्रम में 'द्वैतभाव' चाहे कितना भी दृढ़ क्यों न हो, परन्तु उसकी पूर्णता तो 'अद्वैत भाव' में ही मानी गई है, जो ज्ञान मार्गी का साध्य है। अतएव तात्विक दृष्टि से 'ज्ञान' एवं 'भक्ति' में केवल साधन की शैली का अन्तर है, स्वरूपतः वह अभिन्न जान पड़ती है। यही कारण है कि श्रीमदाद्य शंकराचार्य अद्वैत का प्रतिपादन करने के लिये ही 'भक्ति' 'ईश्वर कृपा' आदि कहते-कहते अपनी वाणी का संयम कर लेते प्रतीत होते हैं।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि श्रीमद् आदि शंकराचार्य के मतानुसार 'भक्ति' मुक्ति के साधनों में अग्रणी है। यदि हम उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति के स्वरूप एवं साधन पर विचार करें तो यह तथ्य उद्घाटित होगा कि वे 'निर्गुण भक्ति' का ही प्रतिपादन करते हैं, जिसके स्वरूप का स्पष्टीकरण हमे संत मत के साधकों एवं रामस्नेही सम्प्रदाय की साधन प्रणाली में मिलता है। वेदान्त की विभिन्न उक्तियों एवं विभिन्न प्रमाणों के द्वारा जिस ज्ञान का वे प्रतिपादन करते हैं, उसके दो अंग है—(क) समस्त भौतिक पदार्थों के परे एक आत्म सत्ता है, जो सत्य एवं शाश्वत है। (ख) वह सत्य एवं शाश्वत आत्म तत्व ही ब्रह्म है। यह ज्ञान मार्ग है। इतना निश्चय हो चुकने के पश्चात् ज्ञान मार्गी साधक ब्रह्मभावना (विशुद्ध भावस्तर पर अद्वैत भाव बार-बार मन में लाना) एवं तत्पश्चात ध्यान और समाधि द्वारा उसका प्रत्यक्षीकरण करता है।

भक्ति का आरम्भ इस दृढ़ निश्चय से होता है कि समस्त भौतिक पदार्थों से परे एक शाश्वत सत्ता है, जो सत्य एवं एक वरणीय या प्राप्तव्य है।

वेदान्त ज्ञान के अनुसार आत्म तत्व ही ब्रह्म है, परन्तु 'तत्वमसि' को केवल शास्त्र ज्ञान एवं विभिन्न उक्तियों के प्रमाणों द्वारा सिद्ध कर लेने के पश्चात् भी ज्ञानी को मुक्ति नहीं होती है। मुक्ति हेतु ज्ञान पर्याप्त नहीं है अपितु उस आत्मतत्व की प्रत्यक्ष अनुभूति होना आवश्यक है। जब तक ऐसा नहीं हो पाता तब तक ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं कहा जा सकता।

'न गच्छति विना पानं व्याधिरौषध शब्दतः।
विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते॥'[1]
(श्रीमद् आदि शंकराचार्य)

आत्म तत्व की इस अपरोक्षानुभूति हेतु जिन साधनों का कथन, श्रीमद् आदि शंकराचार्य करते है, उन में ध्यान एवं 'समाधि' का अपना विशिष्ट स्थान है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि रामस्नेही साधना का आरम्भ तारक मंत्र 'राम' नाम के स्मरण और शब्द में चित्तवृत्ति का निरोध करने रूपी ध्यान से होता है एवं अन्त समाधि की सिद्धि में होता है। जब वे स्वयं प्रकाश एवं सबका साक्षीभूत, इन अनित्य पदार्थों से परे उस आत्म तत्व रूपी परमात्मा को ही अपना लक्ष्य बना कर इसी का अखण्डवृत्ति से ध्यान करने की बात कहते हैं, तब वे अखण्ड रूप से 'राम' नाम का स्मरण करते हुए 'सुरत' व 'सबद' की एकता रूपी रामस्नेही साधना प्रणाली के ध्यान योग के अधिक निकट, प्रतीत होते हैं। अन्तर केवल द्वैत एवं अद्वैत का है जहाँ ज्ञान योगी परोक्ष आत्म तत्व [जो अभी प्रत्यक्षानुभूति से परे है] में ब्रह्मभाव का

---
१ विवेक चूडामणी श्लो. ६४।

आरोपण कर तद्वत् ध्यान व चिन्तन करता है, वहाँ निर्गुण भक्त प्रत्यक्ष एवं वाणी द्वारा ग्राह्य शब्द में 'ब्रह्मभाव' का आरोपण ता हुआ उसमें चितवृत्ति का निरोध और हृदय में परमतत्व ध्यान करता है।

जहाँ तक तो ध्याता और ध्येय का द्वैतभाव ज्ञान योग वं निर्गुण भक्ति योग दोनों में ही समान रूप से विद्यमान रहता । दोनों ही साधक विचारस्तर से एक सीढ़ी नीचे उतर कर भावस्तर पर साधना करते हुए 'ब्रह्मभाव' का आरोपण करते हैं। जब ज्ञान की पूर्णता प्रत्यक्षानुभूति एवं भक्ति की पूर्णता समुद्र में बून्द के समा जाने के सदृश जीवात्मा व परमात्मा की एकता के रूप में हो जाती है, तब निश्चित रूप से जैसे ज्ञान योगी अद्वैतभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही भक्त भी अद्वैतता को प्राप्त हो जाता है। अतएव यदि ज्ञान मुक्ति का हेतु है तो भक्ति भी निर्विवाद रूप से मुक्ति का साधन सिद्ध होती है।[1]

---

१. गीता भक्ति से मुक्ति होना स्वीकारती है। इसके लिये 'गीतोक्त भक्तियोग' शीर्षक द्रष्टव्य है। देखिये पृ० ४६

योग साधना का स्वरूप

आध्यात्मिक सिद्धि के लिये योग को सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। आत्म-दर्शन के लिये इसे अपरिहार्य माना गया है। बिना योग साधना किये ज्ञान योग, कर्म योग एवं भक्ति योग को अपूर्ण मानते हैं क्योंकि आत्म साक्षात्कार अथवा ब्रह्म-दर्शन केवल योग के द्वारा ही सम्भव माना है। उपासना शब्द योग का ही पर्याय है। यह दो शब्दों के मेल से बना है उप यानि नजदीक और आसन यानि बैठना। अर्थात् योग साधना करके साधक परम साध्य ब्रह्म के सन्निकट बैठने में समर्थ होता है। उसकी सन्निकटता ही अन्त में साध्य साधक की एकता में परिणत हो जाती है।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग शास्त्र में यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, आसन, ध्यान, धारणा एवं समाधि नाम से योग के आठ अंगों का प्रतिपादन किया है, अतएव अष्टांग योग साधना करके साधक सिद्धि को प्राप्त करता है। इस योग के मुख्य चार भेद हैं। यथा— १. मंत्र योग २. हठ योग ३. लय योग एवं ४. राज योग। योगी अपनी अपनी पसन्द से इनमें से किसी एक की साधना करके सिद्धि को प्राप्त होता है। प्रत्येक साधना में योग के आठों अंगों की विद्यमानता रह सकती परन्तु योगी स्वेच्छा से इनको न्यूनाधिक महत्व देते हैं।

पाँचवाँ अध्याय • (

योग साधना का स्वरू

आध्यात्मिक सिद्धि के लिये योग को सर्वाधिक
प्राप्त है। आत्म–दर्शन के लिये इसे अपरिहार्य माना गया है
बिना योग साधना किये ज्ञान योग, कर्म योग एवं भक्ति
को अपूर्ण मानते हैं क्योंकि आत्म साक्षात्कार अथवा ब्रह्म-
केवल योग के द्वारा ही सम्भव माना है। उपासना शब्द
ही पर्याय है। यह दो शब्दों के मेल से बना है उ
नजदीक और आसन यानि बैठना। अर्थात् योग साधना
सधाक परम साध्य ब्रह्म के सन्निकट बैठने में समर्थ होता है
उसकी सन्निकटता ही अन्त में साध्य साधक की
परिणत हो जाती है।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग शास्त्र में यम,
प्राणायाम, प्रत्याहार, आसन, ध्यान, धारणा एवं समाधि
योग के आठ अंगों का प्रतिपादन किया है, अतएव
साधना करके साधक सिद्धि को प्राप्त करता है। इस योग के
चार भेद है। यथा— १. मंत्र योग २. हठ योग ३.
एवं ४. राज योग। योगी अपनी अपनी पसन्द
किसी एक की साधना करके सिद्धि को प्राप्त होता है।
योग साधना में योग के आठों अंगों की विद्यमानता
सर्वाधिक महत्व देते हैं।

...ा स्वरूप

	10	11	12	13	14	15
...	अजपा०	अजपा०	अजपा०	प्रणव नाद	प्रणव नाद	प्रणव नाद
...त्	पूर्ववत्	पूर्ववत्	पूर्ववत्	त्रिकुटी	आकाश	महाकाश
...रा	परा	परा	परा	(ब्रह्मरंध्र)	ररंकार रूप 'राम' शब्दब्रह्म	परब्रह्म
...मा	प्रेमा	प्रेमा	प्रेमा	परा भक्ति का उदय	परा भक्ति	पराभक्ति
...ह का ...वास	विरह का उत्कर्ष	विरह का उत्कर्ष	विरह का चरमोत्कर्ष	परब्रह्म दर्शन	परब्रह्म दर्शन	परब्रह्म मिलन एवं एकता
...यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान	सुरत शब्द को मिलाप	शब्द-समाधि	ब्रह्म समाधि
...दण्ड प्रवेश	मेरुदण्ड अग्रसरण	मेरुदण्ड अग्रसरण	मेरुदण्ड शिखर	त्रिकुटी	ब्रह्मरंध्र	•
...स्वाधि-...न चक्र	मणिपुर चक्र	अनाहत चक्र	विशुद्ध चक्र	आज्ञा चक्र	सहस्रार दल चक्र	•
...नों बंध	तीनों बंध	तीनों बंध	°	°	°	°
•	°	°	°	°	•	•

रामस्नेही साधना पद्धति में भक्ति को सर्वोच्चता प्रदान की गई है और योग को उसका सहायक माना है। योग और भक्ति को एक सूत्र में पिरोने का कार्य 'राम' नाम के अहर्निश स्मरण द्वारा सम्पन्न किया जाता है। साधक प्रत्यक्ष रूप से अष्टाङ्ग योग का साधन नहीं करता परन्तु श्वासोच्छ्वास तारक बीज मंत्र 'राम' नाम की साधना के अन्तर्गत योग के विभिन्न अंगों का साधन स्वतः ही सिद्ध होता जाता है। अतएव रामस्नेही योग साधना को 'सहज योग' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

इस साधना पद्धति में 'सहज योग' के अन्तर्गत चारों प्रकार के योगों का समन्वय पाया जाता है। साधना का आरम्भ मंत्र योग से और अन्त राज योग में होता है। इन दोनों के मध्य हठयोग एवं राजयोग की न्यूनाधिक क्रियाएँ सम्पन्न होती जाती हैं।

स्मरण से भक्ति एवं योग की सिद्धिः—

अन्यत्र यह बताया गया है कि श्रीमदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय की साधनान्तर्गत तारक बीज मंत्र 'राम' नाम का स्मरण योग का साधन और भक्ति का आलम्बन है। सिद्ध अवस्था की परा भक्ति इनका साध्य है। जीवन्मुक्त अवस्था को परमसिद्धि माना गया है। इस जीवन में पूर्ण आध्यात्मिकता की उपलब्धि कर उसके माध्यम से इहलोक में व्यष्टि और समष्टि का लौकिक अभ्युदय करते हुए परलोक में मोक्ष प्राप्ति करना इस साधन पद्धति का लक्ष्य है। यहाँ पर इन्हीं तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायगा।

भक्ति का प्रारम्भ भाव एवं प्रेम से होता है। अष्ट योग के प्रथम दो अंग यम एवं नियम हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव); ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह का अभाव) ये पाँच यम कहलाते हैं:—

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (२/३०)

बाह्य एव अन्तः शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय (मंत्रजप या अध्यात्म शास्त्रों का पठन पाठन) और ईश्वरोपासना—ये पांच नियम हैं:—

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमः। (२/३२)

रामनाम के साधक को गुरु आज्ञा का पालन, कुसंगति का त्याग और सत्संग करना, समता का धारण, काय. क्लेश देनेवाली अहंभावयुक्त तपस्या का त्याग, भाव अथवा श्रद्धायुक्त ईश्वर की भक्ति, सत्यासत्य विवेक, तामसी भोजन का त्याग, विषयों में आसक्ति का त्याग, छल, कपट, कुटिलता, संशय, लोभ, लालच एव असत्य का त्याग करके अहंभाव से मुक्त हो सर्वथा आर्जवृत्ति और निर्मल स्वभाव बनाकर निर्गुण निराकार परात्पर परमात्मा का एकनिष्ठ भाव से अन्य उपासना से दूर रहते हुए अर्थात् 'राम' की अव्यभिचारिणी भक्तिपूर्वक अहर्निश 'राम' स्मरण करते रहने का विधान है।

मुख हमाम दस्तो कर रसणा ररो ममो बूटी रस घसणा।
घस-घस कंठ तासक भरपोजे यों अठपहरी साधन कीजे॥१॥
अब सतगुरु पच देत बताई, गुरु अज्ञा शिव चलो सदाई।
प्रथम कुसंग पवन बन्द कीजे, साध संगति घरमांहि बसीजे॥२॥
समता सेझ शयन कर भाई, अहूं अगनिमत तापो जाई।
भोजन भाव भक्ति रुचि कीजे लीन अलीन विचार करीजे॥३॥
तामस चर को दूर उठावो, विष रस चौकट निकट न-लावो।
कपट खटाई मूल न लेना, मीठे लोभ चित्त नहीं देणा॥४॥
कुटिल कुटलता दूर करीजे, दुविधा द्वन्द, दूध नहीं पीजे।
लालच लोंन लगन मत राखो, मुखते कबू झूठ मत भाखो॥५॥

...ाया बोझ शीश नहीं धरणा, हुए निर्मल मुख राम उचरणा।
...गत जाल उद्यम परत्यागो, रामभजन हित निशदिन जागो ॥६॥
निर्गुन इष्ट सियरता गहिये, ग्रान उपास लाग नहीं वहीये ॥
(श्री परमरामजी म०)

इस प्रकार यम एवं नियमों का समावेश, मोटेतौर पर ... आचार संहितान्तर्गत कर दिया गया है। रामनाम के साधक ... निर्मल और सात्विक बन कर स्मरण का अभ्यास करना है। वह ...क भवन है, परन्तु जिस बीज मंत्र 'राम' का श्वासोच्छ्वास स्मरण ...रता है, वह एक ऐसी क्रिया है, जो विधिपूर्वक किये जाने पर कुन ...ण्डलिनी का जागरण, षटचक्रों का भेदन और समाधि की प्राप्ति ...रा देती है।

> रामदास सिवरण कियाँ, सिवरण निपजे साध।
> सिवरण सूं सुन गढ चढे, सिवरण लगे समाध ॥१॥
> हरि सिवरण कर लीजिये, सास उसासों ध्याय।
> रामदास सिवरण कियाँ, साहिब मिलसी ग्राय ॥२॥

पातञ्जल योगशास्त्र में भी स्मरण अथवा जप से समाधि सिद्ध होना बताया गया है।

तज्जपस्तदर्थ भावनम्। (१/२८)

अर्थात् इस (ओंकार) का जप और उसके अर्थ का ध्यान समाधि लाभ का उपाय है। इसी प्रकार भक्ति से भी समाधि प्राप्त होना लिखा है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (१/२३)

अथवा ईश्वर के प्रति भक्ति से भी समाधि सिद्ध होती है। यहाँ पर रामस्नेही सम्प्रदाय की साधनान्तर्गत रामनाम के स्मरण की विधि, उसके द्वारा मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और

राजयोग सिद्धि का वर्णन किया जायगा और अन्त में यह भी बताया जायगा कि इनके साथ भक्तियोग का क्या सम्बन्ध है।

मंत्र योग

अन्यान्य संत मतानुसार रामस्नेही सम्प्रदाय का उपास्यदेव निर्गुण-निराकार परब्रह्म है। उनका जपनीय मंत्र 'राम' शब्द है। यहाँ 'राम' शब्द निर्गुण ब्रह्म का वाचक है। ये शब्द ब्रह्म के उपासक है। रामस्नेही आचार्यों ने 'राम' को बीज मंत्र के रूप में स्वीकार किया है और अपनी साधना द्वारा इसे ॐ शब्द के समानान्तर एवं 'र' कार रूप में उससे परे एवं सूक्ष्म बताते हुए ध्वन्यात्मक सिद्ध किया है। इनके मतानुसार 'र' कार सृष्टि के पूर्व का आदि शब्द है। 'म' कार सृष्टि सृजन के समय का प्रथम शब्द है। इस प्रकार 'र' कार एवं 'म' कार रूपी आदि वर्ण से ॐ इत्यादि शब्दों का विस्तार हुआ। अर्थात् 'र' कार प्रणव रूप है और उसके ऊपर लगने वाला बिन्दु (अनुस्वार) एवं 'म' कार ॐ रूप है। क्योंकि ॐ कार में (अ+उ+म) अनुस्वार (ँ) एवं 'म' कार दोनों ही निहित है और वैदिक साहित्य में उसे अनुच्चरित 'प्रणव' नाद से उत्पन्न माना गया है।

'रर ऊपर ध्योमरण सदा, बिन्दू सोई मकार।
जन रामा ओऊँ शबद, आद वरण विस्तार॥

सृष्टि सृजन मे ॐ कार यदि मूल मूत कारण है तो 'र' कार उस ॐ का भी सार तत्व है।

ॐ कारते ऊरना, दिष्ट कूँट आकार।
बाकै ऊपर रामदास, ररंकार तत सार॥

रामस्नेही साधना में सृष्टि के बीज रूप इसी तारक मंत्र नाम की साधना की जाती है। साधक प्रारम्भिक अवस्था

में एकान्त में बैठ सिद्धासन लगा कर अत्यन्त निष्ठापूर्वक जिह्वा द्वारा सस्वर 'राम' मंत्र का उच्चारण करता है। हृदय में ज्योति स्वरूप श्री 'राम' (परब्रह्म) का ध्यान किया जाता है। श्वासोच्छ्वास स्मरण से शब्द की गति निरन्तर सूक्ष्म से सूक्ष्म होती हुई ध्वन्यात्मक हो जाती है। यह स्मरण सर्व प्रथम जिह्वा से आरम्भ होकर कण्ठ, हृदय एवं नाभी स्थान में पहुँचकर स्वतः उच्चरित होने लगता है।

रामनाम का स्मरण अध, मध, उत्तम एव अति उत्तम के रूप में चार प्रकार का माना गया है।

'श्वास द उच्छ्वासा, हिरदै वासा सुमिरण ध्यान धरंदा है।
नाभी पर आया नाच नचाया सहजां सुख सुमरंदा है॥
रग रग आरम्भा भया अचम्भा छुच्छम वेद भणंदा है।
मम्मा हुए पार्स कमल विकासै अघं नाम भाखंदा है॥
ऊ नामज केवल बड़े महाबल रोम रोम उचरदा है।

अध स्मरण—

अधस्मरण को सबसे निम्नकोटि का माना गया है यह [जि]ह्वा एवं होठों की सहायता से मुख द्वारा किया जाता है। [इस] स्मरण श्वासोच्छ्वास किये जाने का विधान है। साधक [सिद्धा]सन अथवा पद्मासन लगा कर सिर एव ग्रिवा को एक [सीध] मे रखता हुआ 'राम, राम, राम' इस प्रकार निरन्तर जप [करता] है। वह सद् गुरु के स्थूल देह स्वरूप मे कल्पना करता है [कि 'रा]म' उसके समक्ष दायें बायें उपस्थित है। धीरे धीरे वह [अपने] ध्यान को स्थूल देह से हटा कर 'राम' शब्द पर हृदय में [केन्द्रित] करता है। इस प्रकार अधिकाधिक, यहाँ तक कि निरन्तर [...] श्वासोच्छ्वास स्मरण करता हुआ साधक उसी में [लीन र]हने का अभ्यास करता है। मन को बाह्य विषयों से

हटा कर बारम्बार 'राम' शब्द पर केन्द्रित किया जाता है यह स्थूल वैखरी शब्दशक्ति की साधना है।

मधस्मरण—

'मध' शब्द का तत्सम मध्यम है। यह स्मरण निम्न से एकस्तर उच्च माना गया है परन्तु उच्च से निम्न होने के कारण मध्यम कहा गया है। मुख मे अविराम 'रामनाम' का स्मरण करते करते एक स्थिति ऐसी आती है कि ओठों का हिलना बन्द हो जाता है और जिह्वा की गति शिथिल पड़ कर रुक जाती है। कण्ठस्थ एक नाड़ी जागृत होती है। स्मरण में आनन्दानुभूति होने लगती है। मुख स्वादिष्ट हो जाता है। इस प्रकार यह मध्यम स्मरण मात्र कण्ठ से होता है। यह स्थिति भिन्न भिन्न साधकों में भिन्न-भिन्न काल तक बनी रहती है। कण्ठ से स्मरण होने से शनैः शनैः कण्ठकमल खुल जाता है। वह फूल जाता है। कण्ठ कमल के फूलने से 'राम' नाम के स्मरण से भँवर की गुंजार सदृश ध्वनि सुनाई देने लग जाती है। निरन्तर 'राम' शब्द का कण्ठ से उच्चारण होते रहने से जो आन्तरिक घात प्रतिघात होता है, उससे कण्ठकमल का द्वार खुल जाता है और मुरली की टेर सदृश ध्वनियों का श्रवण होता है। कण्ठ गद्गद् होता है। एक प्रेम लहरी साधक को अपने में समेट लेती है साधक स्मरण में मग्न हो जाता है। यह मध्यमा शब्द शक्ति की साधना है।

मुख स्मरण के साथ साथ प्राणायाम की रेचक एवं पूरक क्रियाएँ शीघ्रतापूर्वक सम्पन्न होती है। कण्ठस्मरण की अवस्था में रेचक-पूरक के साथ साथ कुम्भक भी सम्पन्न होने लग जाता है। प्रथमावस्था में साधक 'सद्गुरुस्वरूप' एवं फिर 'राम' शब्द पर ... हुए मन को बारम्बार विषयों से लौटा लौटा कर केन्द्रित करने का प्रयास करता रहता है। अतएव यहाँ राजयोग की प्रत्याहार क्रिया सम्पन्न होती है। इस दूसरी अवस्था में साधक हृदय में ज्योतिस्वरूप

श्री 'राम' का ध्यान करने का अभ्यास करता है, जिसमें योग की 'धारणा' क्रिया सम्पन्न होती है। इस अवस्था में भावभक्ति प्रेमाभक्ति में परिणत होना प्रारम्भ हो जाती है। वास्तव में यह प्रेम भक्ति के उदय की अवस्था होती है।

उत्तमस्मरण—

स्मरण की तृतीयावस्था को उत्तम स्मरण कहा गया है। इस अवस्था में 'राम' नाम का स्मरण हृदय स्थान से हृदय के द्वारा होता है। यहाँ साधक को प्रकाश का आभास मिलता है। भक्ति प्रगाढ़ हो जाती है। हृदय में ज्योतिस्वरूप परब्रह्म 'राम' की धारणा ध्यान में परिवर्तित होने लगती है। हृदय स्थान से हृदय के द्वारा तारक मंत्र 'राम' का उच्चारण होते रहने से यहाँ 'पश्यन्ति' शब्द शक्ति अथवा मन्त्र शक्ति की साधना सम्पन्न हो जाती है। यहाँ पर चित्त, मन, बुद्धि एवं अहंता की एकता हो जाती है और सुरत का शब्द से मेल हो जाता है। हृदयस्थित उस निर्मल परमोज्ज्वल ईश्वर ज्योति की क्षणिक झलक मिलना प्रारम्भ हो जाता है। कभी कभी क्षणभर के लिये साधक ध्यानावस्थित भी हो जाता है।

जब हृदयस्थल से 'राम' नाम का उच्चारण होने लगता है, तब श्वास एवं उच्छ्वास का हृदय में ठहराव हो जाता है। इस प्रकार स्मरण के माध्यम से पूर्ण दीर्घ कुम्भक की क्रिया सम्पन्न हो जाती है। यहाँ पर चित्त, मन, बुद्धि एवं अहंकार की एकता हो जाती है। साधक ध्यानावस्थित हो जाता है और उसे विविध मधुर ध्वनिएँ सुनाई देने लगती हैं। शरीर में पल पल में रोमाञ्च होता है। साधक को एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है।

अति उत्तम स्मरण—

सुदीर्घकाल तक रामस्मरण करते रहने से और 'राम' मंत्र से चित्तवृत्ति का निरोध करने से साधक को उत्तरोत्तर सफलता मिलती

जाती है। उत्तमस्मरण की पूर्णता पर श्वास प्रश्वास पूर्ण कुम्भक की दशा में प्राण 'र' कार ध्वनि से सयुक्त हो कर हृदय स्थल से आगे सरकता हुआ नाभी स्थान में प्रवेश करता है। नाभी स्थल में मणिपुर चक्र स्थित है। अतः श्वास-प्रश्वास रूप यह प्राण वायु उस मणिपुर चक्र में स्थित अपान वायु के साथ मिल जाती है। यहां मन का प्राण में पूर्ण लय हो जाता है, जिससे 'निरत' की अभिलाषा पूर्ण होती है।

अब नाभी स्थान से 'राम' मंत्र का स्वतः उच्चारण होने लगता है। रोम रोम से 'ररर' ध्वनि गुंजरित होती रहती है। नाना प्रकार की यौगिक अनुभूतियां होने लगती है। इस अवस्था में 'सुरत' शब्द से एक हो जाती है। निरन्तर 'अजपाजाप' होता है और साधक को परब्रह्म परमात्मा के दर्शन होते हैं। यहाँ आ कर 'परा' शब्द शक्ति या मंत्र योग की साधना पूर्ण होती है। हठयोग की प्राणायाम प्रक्रिया पूरी हो जाती है। साधक राजयोग की सफलता से प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के सोपान पार कर लेता है। साधक परब्रह्म परमात्मा के प्रगाढ प्रेम में डूब जाता है। यह प्रेमा भक्ति की पूर्णता की अवस्था होती है।

मुख से अध स्मरण, कण्ठ स्थान में मध्यम स्मरण, हृदय में उत्तम और नाभी से राम नाम का स्मरण करना अति उत्तम स्मरण कहलाता है। साधक 'राम' मंत्र में चित्तवृत्ति का निरोध करने का प्रयास करता रहता है, जिससे प्रत्याहार, धारणा और अन्त में ध्यान की स्थिति प्राप्त हो जाती है। साधक साधारण योगी नहीं अपितु एक भक्त है अतएव उसकी भक्ति भी साधना के साथ साथ भाव भक्ति से आगे बढ़ कर प्रेम भक्ति की प्रगाढता में परिवर्तित हो जाती है।

पूर्णयोग की ओर प्रयाण—

इस प्रकार रामस्नेही साधना पद्धति में 'राम' नाम का स्मरण उसकी साधना का मेरुदण्ड है। उसी के सहारे भक्ति एवं अष्टांग योग की अमरलताएँ ऊर्ध्वगामी होती है। मंत्र योगरूप स्मरण के चार प्रकारों के वर्णनान्तर्गत यह स्पष्ट हो चुका है कि मनुष्य के हृदय में सुप्त पड़ा हुआ योग एवं भक्ति का बीज साधक की उत्कण्ठा की उर्वरता, गुरु के पथ प्रदर्शन की ऊष्मा, सत्संग की अनुकूल वायु एवं तारक बीज मंत्र 'राम' नाम के स्मरण रूप पवित्र जल के सींचन द्वारा ही अंकुरित, विकसित एवं पुष्पित तथा फलित होता है।

हठयोग—

नाभी स्थान में आ कर राम मंत्र का अजपाजाप होने लगता है। बिना हाथ की सहायता के स्वयं बायें से दाहिने और दाहिने से बायें उलट-पलट रेचक-पूरक और कुम्भक अथवा रेचक पूरक हुए बिना केवल कुम्भक होने लगती है।

रेचक अरु पूरक कर बिन कुम्भक आप उलटि पलटंदा है।
(श्री हरि०)

लययोग—

इस प्रकार 'राम' नाम के स्मरण से हठयोग सिद्ध हो जाता है। तत्पश्चात् श्वास-प्रश्वास रूप प्राण वायु ऊर्ध्वगति करने लगता है क्योंकि रामनाम का स्मरण सिद्धासन पूर्वक किया जाता है। इस आसन में मूलबन्ध एवं जालंधरबन्ध दोनों हो आ जाते हैं। जालंधरबंध से प्राण की ऊर्ध्वगति और अपान वायु की अधःगति रुक जाने से कुल कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। इससे सुषमना का द्वार खुल जाता है।

साधक को ध्यानावस्था प्राप्त होती है। यहाँ पर चित्त, मन, बुद्धि एवं अहंकार का विलय हो जाता है, जो राजयोग के मतानुसार बंधन का मूल कारण है। इसी समय साधक ध्यानावस्थित हो जाता है, जिसको राजयोगी साधना करते हैं। यहाँ रोम रोम से 'ररर' ध्वनि स्वतः उच्चरित होती है, जिसे 'सहज-स्मरण अथवा अजपाजाप कहते हैं। यह 'राम' शब्द की 'परा' शक्ति का प्राकट्य है। हो वह अवस्था है, जहां पहुँच कर मंत्र योग सिद्ध हो जाता है। इस अवस्था में साधक को शब्दब्रह्म के वाच्य ज्योतिस्वरूप परब्रह्म के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त मंत्र सिद्धि के फलस्वरूप साधक को विविध अनुभूतियों का होना आरम्भ हो जाता है। तत्पश्चात् मूलाधार चक्र का भेदन, कुल कुण्डलिनी का उत्थापन और मेरुदण्ड के मध्य सुषुम्ना के सहारे षट्चक्रों का भेदन होता है और साधक हद बेहद की सीमा पर पहुँच जाता है। संक्षेप में यही राजयोग की सिद्धि है।

नामस्मरण एवं भक्ति—

पूर्वोक्त प्रकार से तारक बीजमंत्र 'राम' नाम के स्मरण से योग की सिद्धि होना सिद्ध हुआ। नवधा भक्ति में 'स्मरण' को भक्ति का एक प्रकार माना गया है। रामस्नेही साधना पद्धति में 'राम' नाम का स्मरण अत्यन्त श्रद्धा एवं भक्ति पूरित भाव से किया जाता है। स्मरण की द्वितीयावस्था में कण्ठ का गद्गद् होना, प्रेम लहरी का चलना एवं रोमाञ्च होना आदि भक्ति के लक्षण हैं। स्मरण की तृतीय एवं चतुर्थावस्था में साधक प्रेमा भक्ति से ओतप्रोत रहता है।

> उर विच बादल बरसिया, चल्या प्रेम का खाल।
> रामा मोती नीपना हीरां को टकसाल।।

जब चतुर्विधस्मरणोत्पन्न रररकार ध्वनियुक्त प्राण मेरुदण्डस्थित सुषुम्नाविवर से त्रिकुटी की संधि एवं शून्यसरोवर पर पहुँच

जाता है, तब यह भक्ति अतीव प्रगाढ़ हो जाती है। अतः हृदय में प्रेम के बादलों से वर्षा होना बताया गया है, जिनके बनने; एकत्र होने और वर्षा करने में समय तो अवश्य लगता है; परन्तु वे खाल बहा देते हैं अर्थात् भारी वर्षा करके नदियाँ बहा देते हैं। परन्तु शून्य सरोवर में लूर से वर्षा होना और प्रेम को हिलूर (हिलोरें-लहरें) उठना बताया गया है। लूर पानी से भरे हुए, वे बादल होते हैं जो तेजी से भागते हुए जहाँ कहीं फूट पड़ते हैं। भक्त के हृदय में जब भक्ति गहन हो जाती है तो वह भक्त अहर्निश प्रेममग्न तो रहता ही है, परन्तु उसके हृदय में रह रह कर प्रेम की अपूर्व लहरें दौड़ती है और वे अग्नि पर घी की आहुति देने के सदृश प्रियतम का विरह प्रज्वलित कर देती है। उसका धीरज छूट जाता है।

> मेरु उलंघ ऊँच्चा चढ्या, त्रगुटी सिंध मझार।
> रामदास धीरज नहीं, अन्तर अंत पुकार॥

साधक मिलन की उत्कण्ठा से विरह व्याकुल हो उठता है। इसका वर्णन 'भक्ति का स्वरूप' शीर्षकान्तर्गत 'विरह व्याकुलता' नाम से किया जा चुका है। अतः यहां मात्र संकेत ही पर्याप्त है।

पराभक्ति एवं समाधि की सिद्धि :—

अब तक इस अध्याय में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि 'राम' नाम स्मरण से किस प्रकार योग की सिद्धि एवं भक्ति योग की पूर्णता प्राप्त होती है। यहां पर पुनः योग के विषय को जहां से छोड़ा था, वहीं से आगे लेते हैं।

ररकारनादयुक्त प्राण हद बेहद की संधि पर पहुँचने के पश्चात् अल्प विराम करता है। जब वह शून्य सरोवर और त्रिकुटी को पार कर लेता है तो हद की सीमा का उल्लंघन कर बेहद की सीमा में प्रवेश कर जाता है।

उलंघ्या मेर चढ्या आकासां, मिल्या त्रुगटी मांहि ।
बाबू परे परमद पूगा, जहाँ निरंजन साईं ॥

दशम् द्वार अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच कर जीवात्मा का परमात्मा से मिलन होता है, मानो जीव रूप दुल्हनने ब्रह्म रूपी दूल्हा से हथवेला जोड़ कर विवाह कर लिया हो :—

दसमें मिल द्वारी लाई तारी अम्मर बींद वरंदा है ।

उस त्रिकुटी ऊपर एक मात्र परमात्मा का राज्य है । उसी की भिलमिल ज्योति सर्वत्र विकीरण होती प्रतीत होती है । वहाँ जीव ब्रह्म में तिल में तेल के समान ओतप्रोत होकर मिल जाते हैं ।

तिरवेणी छाजे ब्रह्म विराजै निरभै राज करंदा है ।
भिलमिला ज्योति ओत रू पोतो जीव रू सीव मिलदा है ॥
(श्री हरि०)

आचार्य श्री रामदासजी महाराज ने 'उमै को अंग' नामक चना में हद-बेहद की सीमा पार करने पर 'सकल ज्ञान दीवाण' प तत्व ज्ञान का प्रकाश (प्रकट) होना बताया है। इससे तीनों ण प्रकृति में और प्रकृति की विषमावस्था साम्यावस्था में विलीन हो गई। प्रकृति की साम्यावस्था प्राप्त होने पर जीवात्मा के स्वरूप ा ज्ञान हुआ। इस प्रकार आत्मा का परिचय प्राप्त होने पर सब कार की वासना का क्षय हो गया। शेष मात्र भाव (सकल्प) रह या परन्तु यह भाव भी परभाव (परमात्म सकल्प) में विलीन हो गया, तब जीव सत्ता समाप्त हो गई और मात्र आत्मसत्ता (केवल ब्रह्म) शेष रह गई। (साखी ७, ८, १८ से २०) इसी प्रकार 'सूर परचा को अंग' की साखी १४-१५ मे भी यही संकेत किया गया है।

'राम' नाम का स्मरण करते करते योग की सिद्धि हो गई और भक्ति पूर्ण हो गई तब घट में जिस ज्ञान का उदय हुआ। उसके

प्रकाश में कर्तृत्वभाव समाप्त हो गया। यहाँ तक कि 'मैं' एवं 'तुम' का भेद भी समाप्त हो गया।

> बुरा भला तुम सब किया, घट में बैठे राम।
> 'मैं' 'तैं' मिटगी रामदास, सहज मिल्या निज धाम॥
> (सिवरण को अंग)

जब प्राणरूपी हंस त्रिकुटी में पहुच जाता है, तब उसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त आत्मा के साथ स्वयं के आत्मैक्य की प्रतीति होने लगती है। तदनन्तर उस परात्पर परमात्मा का साक्षात्कार होता है और अन्त में ध्याता; ध्यान एवं ध्येय की पूर्ण एकता स्थापित हो जाती है। जीव शिव हो जाता है। यही परम सिद्धि आत्मोपलब्धि एवं जीवन्मुक्तावस्था है। यही परम पद कहा गया है। रामस्नेही सम्प्रदाय में इस जीवन्मुक्त अवस्था को मोक्ष स्वीकार किया गया है।

> जीवत जहाँ मुक्ति शिव मिल शक्ति जन्म न फेर मरंदा है।
> अम्मीरस पीया जुग जुग जीया खालिक मिल खेलंदा है॥
> (श्री हरि०)

ऐसा जीवन्मुक्त महात्मा जब सदेह इस वसुंधरा पर विचरण करता है तो उसके द्वारा अनन्त जीवों का लौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक कल्याण सम्पन्न होता है। ऐसा संत गीता के आदेशानुसार मात्र लोक संग्रह (लोक कल्याण) चाहता हुआ सब प्रकार के लौकिक व्यवहार का पालन करता है; उपदेश करता है। अपने कर्तव्य कर्म से विरत नहीं होता परन्तु उसमें कर्तृत्वभाव नहीं होने से; भोक्तृत्व भाव समाप्त हो जाने से एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अति उच्चस्थिति को प्राप्त होने के कारण आन्तरिक दृष्टि से वह वैसा कुछ भी नहीं है, जैसाकि व्यवहार में दिखाई पड़ता है—

संतों की गति रामदास, जगतें लखी न जाय।
बाहिर तो संसार सा, भीतर उल्टा थाय॥

ऐसे महापुरुष की भक्ति सिद्धावस्था की परा भक्ति मे एवं उसका ज्ञान सांख्यनिष्ठा में और योग सहजयोग मे परिवर्तित हो जाता है। स्मरण के माध्यम से योग की त्रिकुटी अवस्था तक जो भाव (प्रेम) भक्ति थी, वह शून्य सरोवर के पश्चात् परभाव (परा भक्ति) में परिवर्तित होती है।

सुरत उड़ाणी गिगन कूं, मिली सुन्य में जाय।
भाव जागिया रामदास, परभावे चित्त लाय॥

योग की सिद्धि एवं पराभक्ति की प्राप्ति के पश्चात् यह भक्त सांख्यनिष्ठा सम्पन्न हो जाता है। वह सदा-सर्वदा आत्मस्थित रहता है।

ऊठत बैठत चालतां, सोवत लेह संभार।
सिव की महिमा का कहूं, रामा खंडे न तार॥

भक्त भले ही संसार में विचरण कर रहा हो; कर्तव्य कर्मों का सम्पादन करता हुआ भी दिख रहा हो; परन्तु उठते, बैठते, सोते अर्थात् हर हालत में प्रतिक्षण उस परतत्त्व परमात्मा से, उसका तार, उसकी लगन एवं उसकी स्मृति सतत संयुक्त रहती है।

मन लागा निज मन सें, निज मन है निज रूप।
बहा निरालम्ब रामदास, अनभै सकल सरूप॥

पराभक्ति से युक्त एवं योगसिद्धि रामनाम का उपासक रामस्नेही भक्त अब अद्वैत और सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन की प्रत्यक्षानुभूति करता है। श्री हरिरामदासजी महाराज ने इस अनुभूति का वर्णन 'नाम परचा' नामक रचना में किया है। श्री रामदासजी म० ने इसको बहा विलास की स्थिति कहा है—

रामा ब्रह्म विलास में दिष्ट मुष्ट कछु नांहि।
निराकार निर्लेप है, जीव सीव के मांहि॥

इसलिये कहा गया है—

साधु राम तो एक है, बिरला जाणें कोय।
रामा साधु ब्रह्म में, ब्रह्म साधु में होय॥

इस प्रकार रामस्नेही साधक को समाधि चढने एवं उतरने वाली योग समाधि नही होती; हालांकि साधनावस्था में वह भी एक अवस्था आती है; परन्तु यह साधक योगी नहीं अपितु भक्त है; अतएव उसकी समाधि भी मात्र कोई अवस्था नहीं होती, प्रत्युत् एक स्थिति होती है, जिसमें वह साधक भक्त नित्य निवास करता है।

सारांश, रसना से रामनाम का स्मरण आरम्भ करके नाभीस्थल तक की अवस्था में मंत्रयोग की सिद्धि होती है। राम शब्द में चित्तवृत्ति का निरोध एवं हृदय में ज्योतिस्वरूप परब्रह्म का ध्यान करते करते प्रत्याहार, धारणा और ध्यान की क्रिया सम्पन्न होती है, तब हृदयस्थल पर स्मरण की अवस्थान्तर्गत साधक ध्यानावस्थित हो जाता है तो उसे आत्मदर्शन की क्षणिक झांकी मिलती है। नाभीस्थल में आकर अजपाजाप आरम्भ होता है, जो सहस्रार दल चक्र के वेधन पर्यन्त स्वतः उच्चरित होता रहता है। इस मध्य ररयुक्त ध्वनि प्राणरूपी हंस के साथ मूलाधार चक्र का वेधन करके मेरुदण्ड में सुषुम्ना के विवर से सहस्रार में पहुँचती है, तब तक राजयोग की सिद्धि होती है। मूलाधार चक्र के छेदन के साथ कुल कुण्डलिनी का जागरण और उसका प्राण के साथ साथ सहस्रार में मिलने में लययोग भी पूर्ण हो जाता है। 'राम' नाम के स्मरण के साथ साथ श्वास प्रश्वास के चलने से प्राणायाम की प्रथम पूरक एवं रेचक क्रियाएँ सम्पन्न होती है। फिर कुम्भक होना शुरु होता है। हृदयस्थल से स्मरणावस्था में

दीर्घ कुम्भक होता है । नाभी से ले कर सहस्रार में प्राण का प्रवेश होने तक स्वतः ही पूरक, रेचक एवं सुदीर्घ कुम्भक अथवा केवल कुम्भक ही होता है। इस प्रकार हठयोग भी सिद्ध हो जाता है। तदनन्तर, जब रकारनादयुक्त प्राण त्रिकुटी पार हद बेहद को सीमा का उल्लघन कर लेता है, तब योग समाधि में और प्रेमा भक्ति पराभक्ति में परिवर्तित हो जाती है । अन्ततः साधक को आत्म साक्षात्कार होता है । अनन्तर उसके योग, भक्ति एवं ज्ञान की वह उच्च स्थिति प्रकट होती है, जहाँ साधक भक्त जीवनमुक्त हो जाता है । यही इस साधना पद्धति की साध्यावस्था है ।

अन्यान्य योग साधना पद्धतियों की तुलना में इस प्रकार की साधना पद्धति को रामस्नेही वाणी साहित्य मे सहज (सरल) एव श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है कि रामनाम के स्मरणयुक्त इस योग एव भक्ति की साधना करने से सब कुछ सम्भव है। इसमे विषयासक्ति समाप्त हो जाती है और परमात्मा को प्राप्ति होती है।

> हरीया जांणं सहज कुँ, सहजां सब कुछि होय ।
> सहजां सांई पाईये, सहजां विवोया खोय ॥ (श्री हरि०)

इस सहज साधना को कोई नही जानता क्योंकि योगी लोग प्रायः हठयोग जैसी अन्य साधना में लगे रहते हैं। परन्तु यदि इसका साधन किया जाय तो न केवल परतत्व परमात्मा का साक्षात्कार हो होता है, अपितु साधक स्वयं परब्रह्म स्वरूप बन जाता है, फिर भी भगवद् प्राप्ति कराने वाले इस सरल साधना के विचार को, राम राम के स्मरण के रहस्य को लोग समझने मे असमर्थ है।

> रामदास सहजां तणो, बात न जानं कोय ।
> सहजां सहजां हरि मिले, सहजां साहिब होय ॥

रामदास या सहज में, समझै नहीं संसार।
सहजां सूं साईं मिलै, ऐसा सहज विचार ॥(श्री राम०)

'र' कार एवं प्रणवनाद

रामस्नेही साधना पद्धति में 'राम' शब्द परब्रह्म का वाचक है। पातञ्जल योग शास्त्र में 'तस्य वाचक : प्रणवः॥ (२/२७) अर्थात् प्रणव उस परब्रह्म का वाचक कहा गया है और अगले सूत्र में उसका जप एवं ध्यान करने से समाधि लाभ होना बताया गया है अतएव यहां यह प्रश्न होता है कि 'प्रणव' क्या है? उससे 'र' कार का भी कोई सम्बन्ध है या नहीं ? साधना में उन दोनों का ही क्या महत्व है और क्यों ?

बहुत से विद्वान 'प्रणव' को ओंकार का ही समानार्थी व पर्याय मानते हैं। परन्तु डा० सम्पूर्णानन्द के मत से 'प्रणव' ओंकार की सूक्ष्म ध्वनिमात्र है। उनके मत से सहस्रार में पहुँच कर नाद के सूक्ष्मतम रूप का अनुभव होता है, जिसको 'प्रणव' नाम दिया है। यही वह स्थल है, जहाँ तक सम्प्रज्ञात समाधि की 'अस्मिता' की भूमिका रहती है। 'अस्मिता' के होने से ही योगी ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। इसके ऊपर उठने से अर्थात् 'अस्मिता' का भी लय होने पर और 'असम्प्रज्ञात' समाधि के उदय होने पर जीव और ईश्वर का झीना भेद भी दूर हो जाता है। जिस भूमिका में ईश्वर का साक्षाकार होता है, उससे सम्बद्ध होने के कारण 'प्रणव' ईश्वर का वाचक है । इसी बात को पातञ्जलि ने कहा है — तस्य वाचकः 'प्रणवः। .... वह ध्वन्यात्मक है, वर्णात्मक नही तथा अनुच्चार्य है। ओऽम उस परमनाद की एक बहुत ही झीनी और अपूर्ण छाया मात्र है।"[1]

---

१. वैदिक भगवन्नाम और उसका जप— ले० डा० सम्पूर्णानन्द।
(कल्याण—भगवन्नाम महिमा और प्रार्थना अङ्क)

इससे स्पष्ट है कि—

१. प्रणव नाद का सूक्ष्म रूप है।

२. वह ईश्वर का वाचक है।

३. प्रणव की अनुभूति योगी को सहस्रार दल में होती है।

४. ओउम उस नाद की केवल अपूर्ण छाया मात्र है।

५. ओउम वर्णात्मक है जबकि प्रणव ध्वन्यात्मक।

६. प्रणव अनुच्चार्य है।

ओउम शब्द अ+उ+म वर्णों के योग से बना है। ठीक इसी प्रकार 'राम शब्द र+आ+म के मेल से बना है। इन आचार्यों ने 'राम' शब्द को ओउम का समानार्थ स्वीकार किया है।[1] परन्तु 'र' कार को उससे भी परे बताया है।

> 'ओंकार से ऊपजा त्रिगुट कूट आकार।
> ताके ऊपर रामदास, ररकार तत सार॥

अर्थात् यदि 'प्रणव' की छाया ओंकार है और 'ओउम' का समानार्थी 'राम' शब्द है। तब आचार्यों के मत से 'र' कार ओउम से भी परे होने के कारण वह 'प्रणव' का समानार्थी सिद्ध होता है।

सम्भवतः ओउम के जप में अ, उ और म ये तीनों वर्ण सदैव विद्यमान रहते होंगे। परन्तु योग सहित रामनाम का स्मरण करने से जब शब्द की ध्वनि नाभी स्थान को पहुँचती है, तभी 'आ' एवं 'म' वर्ण का लय हो जाता है और शेष केवल 'र' वर्ण की ध्वनि रोम रोम से उच्चरित होती है। त्रिकुटी तक 'र' कार ध्वनि पहुँचते पहुँचते वहाँ का स्थानानुकूल 'ररर' होने लगता है। तत्पश्चात् शून्य सरोवर का त्रिकुटी पार करने के पश्चात् [illegible] 'ररर' ध्वनि ध्वन्यात्मक मात्र रह

१ देखिये—[illegible]

जाती होगी। यही हद एवं बेहद के मध्य सहस्रार दल (ब्रह्मरन्ध्र) का स्थान होता है, जहाँ योगी 'प्रणवनाद' को अनुभव करता है। अतः यह र्र्र् नाद ही प्रणव है अथवा वह प्रणव 'नाद' को जागृत करने का कारण हो सकता है।

> 'जहाँ रकार मकार का अवरण भया अलेक।
> लिख्या न जावें पुस्तकां रामा एका एक॥'[1]

अर्थात् 'राम' नाम की सतत साधना के फलस्वरूप पहले 'म' कार का लोप हुआ और तत्पश्चात् सहस्रार दल में पहुँच कर 'र' कार का भी लय हो गया और वह ध्वनि अवर्णनीय एवं 'प्रणवात्मक' बन गई।

शब्द की गति नाभी स्थान से ऊपर उठने पर योगी को विभिन्न नादों की अनुभूति होती है। संत साहित्य में इन विभिन्न नादों को 'अजपाजाप' एवं 'अनाहद नाद' (प्रणवनाद) की सज्ञा दी गई है। 'अनाहद नाद' त्रिकुटि तक अनुभूत होती है। सम्भवतः इन विभिन्न नादों की यही चरमस्थिति है।

> 'सुख सिखर घर अनहद तूरा।'[2]
>
> × × × ×
>
> 'त्रिवेणी के तखत विराजे, घुरे अनाहद तूरा।'[3]

विभिन्न दिव्य नादों की अनुभूति के साथ योग सहित 'राम' नाम का स्मरण करने वाले साधक को 'रं रं रं' ध्वनि भी श्रवण गोचर होती है। इसकी चरम स्थिति हद एव बेहद के बीच में और बाद परिणति 'प्रणवनाद' में होती है।

> 'रामराम रटत देस में, जहाँ नहीं ममकार।
> हद बेहद के बीच में, होत एक ररकार॥'

---

१. श्री दरियाव वाणी 'परचा को अंग'

२. श्री [illegible] म०

३. श्री [illegible] म०

योग साधना में त्रिकुटी तक हद की सीमा है। उससे ऊपर सहस्रार दल में (ब्रह्मरन्ध्र) सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में 'अस्मिता' भाव होने से योगी को ब्रह्म-दर्शन होता है। इससे ऊपर उठने से 'अस्मिता' का लय होने पर 'जीव' एवं 'शिव' का भेद समाप्त हो कर एकात्म भाव स्थापित हो जाता है। अतः ब्रह्मरन्ध्र का छेदन कर लेने पर 'बेहद' की सीमा में प्रवेश किया जाता है और त्रिकुटी हद की परम सीमा है। इन दोनों के मध्य सहस्रार दल (ब्रह्मरन्ध्र) है, जहाँ 'प्रणवनाद' की अनुभूति होती है।

योग सहित 'राम' नाम का स्मरण करने वाले साधक को इस 'हद-बेहद' के मध्य (सहस्रारदल) अपूर्व 'ररर' नाद गुंजरित होता अनुभव होता है। पातञ्जल योग के अनुसार इस स्थान पर साधक योगी को जिस सूक्ष्मनाद का अनुभव होता है, उसे 'प्रणवनाद' कहा गया है। रामस्नेही आचार्यों ने इसी नाद को 'हद-बेहद के बीच में' एक 'ररनाद' नाम से सम्बोधित किया है। जिस तरह ओऽम प्रणव की छाया मात्र है, ठीक उसी तरह राम शब्द की सूक्ष्म ध्वनि 'र' कार और उसका अतिसूक्ष्म रूप वर्ण एवं अल्प स्वरयुक्त 'ररर' नाद भी उसी 'प्रणव' की छाया बताया गया है। ऊपर उल्लिखित उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि रामस्नेही आचार्यों ने इस 'ररर' नाद को ही सहस्रार में पहुँच कर 'प्रणव' नाद के रूप में परिवर्तित होना बताया है और इसी कारण से वे 'र' कार को सृष्टि का सृजन करने वाले आदि शब्द ॐ से परे और इसके तत्व व सार के रूप में वर्णन करते हैं।[1] यह उनका अनुभूत सत्य है। 'राम' नाम का सतत स्मरण एवं योग की साधना द्वारा उन्होंने सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में जो कुछ प्रत्यक्ष किया, वैसा ही वे वर्णन करते हुए प्रतीत होते हैं।

---

१. महो र कार म कार का, प्रकरण भया अनेक।
लिखया न आवें पुस्तकों, रामा एका एक॥ (श्री दयालु०)
ओंकार ते ऊपना दिष्ट कूंट आकार।
ताके ऊपर रामदास, ररंकार तत्सार॥ (श्री राम०)

सहस्रारदल में योगी 'प्रणवनाद' का अनुभव करता है। यहाँ 'अस्मिता' की विद्यमानता होने से 'सम्प्रज्ञात' समाधि अवस्था योगी को ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त होता है। 'प्रणवनाद' ईश मे साक्षात्कार कराने वाली भूमिका से सम्बद्ध होने के कारण ईश का वाचक कहा गया है। ठीक इसी प्रकार योग सहित 'राम' न का स्मरण करने वाले रामस्नेही साधक को 'सम्प्रज्ञात समाधि' अवस्था में 'ररर' का सूक्ष्मनाद अनुभव होता है। अतः 'ररर' भी प्रणव के समान ही ईश्वर का साक्षात्कार कराने वाली भूमि मे सम्बद्ध होने के कारण से रामस्नेही आचार्यों ने उसे परा का वाचक माना है।

सारांशतः सृष्टि के पूर्व में 'प्रणवनाद' के रूप में शब्द ब्रह्म सर्वत्र व्यापक था। उस शब्द ब्रह्मरूपी 'प्रणवनाद' से सृष्टि के आदि में ॐकार प्रकट हुआ, जिससे दिशाओं का सृजन एवं तत्पश्चात् सृष्टि का आकारादि क्रम चल पड़ा। सृष्टि सृजन के इसी क्रम को पुरुष, प्रकृति एवं महतत्वादि के रूप में प्रकट होना वेदान्तादि शास्त्र बताते हैं। यह विकास का क्रम है। रामस्नेही आचार्य इसका लय क्रम बताते हैं। उनके अनुसार 'रांम' वर्णात्मक और उच्चारणीय शब्द है। इस 'राम' नाम को योगविधि सहित निरन्तर साधना करने से नाभि स्थल तक पहुँचते पहुँचते 'म' कार का लय हो जाता है। और 'र' कार स्वतः उच्चरित होने लगता है। यह 'र' कार ध्वनि कुण्डलिनी को जागृत कर प्राण के संग सुषुम्ना के भीतर ब्रह्मनाडी के सहारे सहस्रार दल में पहुँचती है, तब तक यह अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप को ग्रहण करती हुई अवर्णात्मक एवं अनुच्चारणीय बन जाती है, जिसे वे अवर्णनीय बताते हैं। सम्भवतः शास्त्रों ने इसे ही 'प्रणवनाद' की संज्ञा प्रदान की है। इस प्रकार वे विपरीत क्रम से 'र' कार का सम्बन्ध सृष्टि के पूर्व शब्द ब्रह्म रूप में सर्वव्यापी 'प्रणवनाद' के साथ जोड़ते हैं। और जब वे विकासक्रम का वर्णन करते हैं, तब

'र' कार को उस आदि वर्ण का ही विस्तार बताते हैं। यह उनका अनुभूत सत्य प्रतीत होता है। इस प्रकार 'राम' नाम में साधना के आरम्भ से ही चित्तवृत्ति का वे निरोध करते हैं एव जिस प्रकार 'राम' मंत्र की साधना द्वारा शब्द की सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति प्रकट होती जाती है, ठीक इसी प्रकार 'चित्तवृति' भी आत्म रूप में परिणत होती जाती है। साधना की सिद्धि स्वरूप जब 'र' कार 'म' कार अवर्णात्मक एवं अवर्णनीय तथा अनुच्चारीय 'प्रणवनाद' के रूप मे परिवर्तित होता है, तब चित्तवृत्ति भी आत्मरूपा बन कर सत्‌चित् एवं आनन्द रूप में परिवर्तित हो सच्चिदानन्दघन रूप (ब्रह्म रूप) बन जाती है। इस प्रकार योगविधि सहित तारक बीज मंत्र 'राम' नाम की साधना द्वारा चित्त ही सत्‌चित् एवं आनन्द रूप बन जाता है, जिसे मुक्ति कहा गया है।

छठा - अध्याय (६)

योग समन्वय

वैदिक वाङ्मय मे आध्यात्मिक साधनान्तर्गत सांख्यनिष्ठा (ज्ञान योग) एवं योगनिष्ठा (कर्म योग) का प्रतिपादन किया गया है। ये साध्य है। इनका सम्यक् प्रकारेण साधन करने के लिये शास्त्रों में जो-जो उपाय बताए गये हैं, उनमें राजयोग का अपना विशिष्ठ स्थान है। श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा भक्तियोग को कर्मयोगान्तर्गत एक सर्वोत्तम विकर्म (साधन) के रूप में प्रतिपादित करने के साथ ही साथ आध्यात्मिक साधना एवं ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष के एक स्वतंत्र 'साधन' के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद्भागवत् एवं 'नारद भक्तिसूत्र' आदि ग्रन्थों में भी भक्तियोग को एक स्वतंत्र मार्ग स्वीकार किया गया है। जहां तक 'राजयोग' का प्रश्न है, यह ईश्वर साक्षात्कार करने का एवं मुक्ति का साधन है, ऐसा वेदोपनिषदों का मत है। यहां तक कि ईश्वर साक्षात्कार एवं मोक्ष प्राप्ति के लिये महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित इस योग को अपरिहार्य बताया गया है। वैदिक विद्वानों का तो मत है कि योगसाधना किये बिना अन्य किसी भी उपाय द्वारा मुक्ति लाभ प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं योग को स्वतंत्र रूप मे आध्यात्मिक साधना के भिन्न-भिन्न मार्ग स्वीकार किया गया है। इनमें से किसी एक का साधन भी मुक्तिप्रद माना गया है।

सम्पूर्ण उत्तरवैदिक साहित्य एवं साधना की परम्परा में केवल एक ही मार्ग का साधन करना पर्याप्त समझा जाता रहा है। परन्तु यहाँ पर हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि क्या प्रत्येक का 'स्वतंत्र' अथवा पृथक् पृथक् साधन करना कहीं एकांगी तो नहीं है ? क्या इनका समन्वयात्मक साधन करना अधिक श्रेयस्कर नहीं होगा ? साथ ही इस अध्याय में यह भी विचार किया जायगा कि श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्यों का इस सम्बन्ध में क्या मत है ?

मनुष्य शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, हृदय एवं संकल्पशक्ति का एक संश्लिष्ट एवं सुगठित सत्तात्मक और चेतन घटक है। हठयोग केवल शरीर एवं प्राण को साधता है। राजयोगान्तर्गत मन की शक्तियों को विकसित किया जाता है। ज्ञानयोग सामान्य बुद्धि को विवेक, घी एवं प्रज्ञा में रूपान्तरित करता है। भक्तियोग मनुष्य के हृदय की भावसंवेदनाओं को उच्चतम स्तर पर पहुँचाता है। यह हृदय पक्ष को परिष्कृत और उदात्त बनाता है। कर्म योग, संकल्प-शक्ति को विकसित करता है।

हठयोग शारीरिक जीवन की असाधारण क्षमता को प्राप्त कर मानसिक जगत् में प्रवेश करता है। इसी प्रकार राजयोग असाधारण मानसिक शक्तियों एवं सामर्थ्य को विकसित कर आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश प्राप्त करता है। हठयोग की दौड़ मात्र भौतिक जगत् की असाधारण उपलब्धियों तक सीमित रहती है। उसका कोई उदात्त एवं आध्यात्मिक लक्ष्य नहीं होता। राजयोग समाधि अवस्था की आध्यात्मिकता में कैद रहता है, अतएव उसकी लौकिक जीवन में उपादेयता अतिसीमित होती है। इसी प्रकार ज्ञान, कर्म एवं भक्तियोग का त्रिविध मार्ग भी मानव सत्ता के किसी एक केन्द्रीय बिन्दु को चुन कर उसके माध्यम से सम्पूर्ण जीवनसत्ता का रूपान्तरण करने का प्रयास करता है और शारीरिक एवं मानसिक जीवन की उपेक्षा कर देता है। अतः प्रत्येक योग पृथक् पृथक् अपने आप में

ं एवं एकांगी है। किसी एक योग के साधन द्वारा बुद्धि, हृदय और संकल्प शक्ति के समन्वय को साधित करना सर्वथा असम्भव

ज्ञान, कर्म एवं भक्ति में से किसी एक का भी सम्यक् साधन ात्मिक उपलब्धि और मुक्ति का स्वतंत्र साधन अवश्य स्वीकार ा गया है, परन्तु इनमें एकांगिता का दोष एवं तज्जन्य विकृतियाँ न्न होने का खतरा सदैव विद्यमान रहता है। यही कारण है सांख्यनिष्ठा का साधन करने वाले को निठल्लता, अकर्मण्यता और चारभ्रष्टता को प्राप्त होते हुए देखा गया है। नवधाभक्ति परायण त को करूणा, दया एवं सेवाधर्म जैसे कार्यों से विरत होते देखा ा सकता है क्योंकि घण्टे दो घण्टे मन्दिर में श्रवण, कीर्तन, स्मरण वं अर्चनादि करने से भगवदानुकम्पा की प्राप्ति और मुक्ति हो ायगी, यह निश्चित है। फलतः ऐसे भावस्तर के रूढ हो जाने पर पक्तित्व का दिव्यान्तरण होना तो दूर रहा स्वार्थान्धता एवं इन्द्रिय-ोलुपता से मुक्ति पाना भी असम्भव हो जाता है। अष्टांग योग का ाधन करने वाले आध्यात्मिक लक्ष्य से भटक कर रिद्धि-सिद्धियों के क्र में उलझ जाते हैं। वे सबल शरीर, जीवन्त प्राणशक्ति, एवं विकसित मानसिक सामर्थ्य का उपयोग अपने अहम् की तृप्ति और संसार में प्रभुत्व की प्राप्ति हेतु करने लग जाते हैं। इससे उनके द्वारा न तो लोक सेवा तथा लोक कल्याण ही सम्भव होता है और न ही वे आध्यात्मिक उच्च स्थिति को ही प्राप्त हो पाते हैं। कर्मयोगी का कर्म भी ज्ञान एवं भक्ति का सहारा लिये बिना निष्काम भाव की उपलब्धि से वंचित ही रह जाता है।

रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्यों ने विभिन्न योग मार्गों की एकांगीसाधना की अपूर्णता से आध्यात्मिक साधक को भलीभांति सचेत किया है और उसे योग, ज्ञान, भक्ति एवं कर्म की समन्वित साधना की ओर अग्रसर होने के लिये प्रेरित किया है।

हठयोग एवं राजयोग की साधना द्वारा कोई योगी भले ही महीनों भूमिगत समाधिस्थ रहने और आकाश में उड़ जाने की सामर्थ्य प्राप्त कर ले; परन्तु यदि वह नाम (ज्ञान एवं भक्ति) से विहीन है तो उसके द्वारा सांसारिक जीवन की उन्नति एवं पारलौकिक कल्याण कभी सम्भव नहीं हो सकता।

नाम बिना खाली रह्या, सिध उड़ता मह गड़ता।
(श्री राम०)

योग एवं भक्ति की साधना के अभाव में केवल ज्ञान साधना को भी व्यर्थ ही बताया गया है।

वेद पुराण पढ़े पढ गीता, राम भजन बिन रह गया रीता।

यहाँ रामभजन का तात्पर्य रामनाम के स्मरणपूर्वक योगसाधना एवं भक्ति है। इनके बिना वेद पुराण का पढ़ना अर्थात् ज्ञानयोग की साधना अपूर्ण है। दूसरा अभिप्राय यह है कि वेदत्रय एवं पुराण आदि सकाम कर्मों का प्रतिपादन करते हैं। अत उन सकाम कर्मों की तुलना में समन्वित योगसाधना (रामभजन) को श्रेष्ठ बताया गया है। वेदवर्णित कर्मकाण्ड युक्त सकाम कर्मों की तुलना में आध्यात्मिकता को उपनिषदों ने भी श्रेष्ठत्व प्रदान किया है। यहाँ पर वेद पुराणादि शब्दों को ज्ञान के अर्थ में और कर्मकाण्ड युक्त सकाम कर्मों के अर्थ में ग्रहण करना — दोनों ही अर्थ साधना प्रणाली एवं सम्प्रदाय के मत के प्रसंग में उपयुक्त है।

भक्ति से विहीन होकर यदि कर्मयोग एवं ज्ञानयोग की साधना की जाती है तो वह भी धर्माचरण अथवा आध्यात्मिकता की पूर्णता नहीं है। वह तो मात्र भ्रम है।

हरिया किरीया ग्यान बिन, भगति भरम की हांनि ॥
(श्री हरि०)

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्य केवल अष्टांग योग, केवल ज्ञान, केवल कर्म अथवा केवल भक्ति को साधना की पूर्णता नहीं मानते। उनके मत से प्रत्येक योग अकेला अपने आप में अपूर्ण है। अतएव वे अपनी साधना प्रणाली में इन सबका एक समन्वित रूप ग्रहण करते हैं, जिसको उन्होने 'रामभजन' नाम से अथवा 'योगसहित नाम स्मरण' संज्ञा से सम्बोधित किया है।

योग समन्वय का स्वरूप—

श्रीमदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्यों ने जिस एक केन्द्रीय बिन्दु के साथ समस्त योग को समन्वित किया है, वह है, रामनाम का स्मरण। श्वासोच्छ्वास रामनाम के स्मरण के माध्यम से वे हठयोग एवं राजयोग की सिद्धि करते हैं। रामनाम का स्मरण इस योग साधना प्रणाली में आदि से अन्त तक भक्ति का आलम्बन है। उनकी भक्ति ज्ञानाश्रित है, जिसको कर्म की आवश्यकता भी निरन्तर बनी रहती है। उन्होंने ज्ञान एवं कर्म को अन्योन्याश्रित माना है। उनके मत से केवल ज्ञान पंगु है और ज्ञान के बिना कर्म अन्धा। ज्ञानयोग और कर्मयोग के पारस्परिक सहयोग को अंधे और पंगु के रूपक द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

> ज्ञान क्रीया तें ऊतरे, हरीया हरिजन पारि।
> अैसे अंधे कंध चढि, पंगो आंनि उतारि॥
> पंगा सोई ग्यांन है, किरीया अंधो जांनि।
> जनहरीया मिल एकठा, मुगति भई आसांनि॥
> (श्री हरि०)

ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के समन्वय को एवं उनकी अन्योन्याश्रितता को यहाँ कुछ अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है

योगनिष्ठा (निष्काम कर्मयोग) साधन एवं साध्य दोनों ही है। परन्तु सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) केवल सिद्ध अवस्था या साध्य है। 'भक्ति' वह भावस्तर है, जिसकी प्राप्ति होने पर कर्मयोग पूर्ण होता है और सांख्ययोग परिपक्व बनता है। अर्थात् भक्ति सांख्य मार्ग एवं योग मार्ग दोनों में सम्मिलित रहती है।

सांख्ययोगी ज्ञान के माध्यम से सम्पूर्ण जगत् को मृगतृष्णावत् माया से उत्पन्न तीन गुणों का कार्य-कलाप समझकर इस निष्ठा को प्राप्त होता है कि गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं, और कर्तापन से रहित होता है। परन्तु इतना जान लेने मात्र से सांख्यनिष्ठा परिपक्व नहीं हो जाती। उसके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित होना आवश्यक है। वेदान्त दर्शन में इसी को 'भावसमाधि' कहा जाता है। यह एक उच्चस्तरीय 'भावालोक' होने से भक्ति का ही रूप है।

इसी प्रकार कर्मयोग में निष्कामता को प्राप्त करने का यह अत्यन्त ही उत्तम उपाय है कि कर्म को 'मत्कर्म' एवं 'मदर्थकर्म' और मदर्पणकर्म' के रूप में किया जाय। 'मत्कर्म' माने भगवान् के परायण हुए केवल भगवान् के लिये यज्ञ दान तप एवं सेवा पूजा कर्म करना। यज्ञ शुद्धिकरण एवं क्षतिपूर्ति के लिये किये जाने वाले समस्त कर्मों का प्रतीक है। दान समाज सेवा एवं परहित के निमित्त किये जाने वाले कर्म है। तप एव सेवापूजा द्वारा मनः शुद्धि और भावस्तर को उन्नत बनाना है। 'मदर्थ कर्म' कर्म के रूप में कर्मों का आदि, अन्त, एवं मध्य केवल भगवान् को प्रसन्न करने के लिये भगवान् की आज्ञा मानकर कर्म किये जाते हैं। मदर्पणकर्म का आरम्भ अन्य उद्देश्य से होता है, परन्तु उन्हें आरम्भ, मध्य एवं अन्त में ईश्वरार्पण कर दिये जाते हैं। इस प्रकार कर्मयोग भक्ति योग में परिणत हो जाता है और 'भक्ति के उदर से ज्ञान का जन्म होना चाहिए। भक्ति-रूपीलता में ज्ञान के पुष्प खिलने चाहिए।'[1]

१. विनोबा–गीता-प्रवचन पृ० १८०

अतएव एक कर्मयोगी पुरुष भक्ति योग का सहारा ले कर इस प्रकार सतत भगवदर्थ कर्म करता हुआ स्वधर्म रूप कर्तव्यकर्म का आचरण करने में दृढ़ रहता है तो शनैः शनैः कर्म के मूल में निहित 'स्वअर्थ' भावना लुप्त हो जायगी और वह शीघ्र ही निष्काम कर्म का आचरण करने में समर्थ हो सकेगा।

इस प्रकार 'भक्ति' ज्ञानयोग एवं कर्मयोग दोनों ही में विद्यमान रहती है। ज्ञान साधन है; जिसके माध्यम से एकमात्र साध्य 'भाव समाधि' अर्थात् सर्वत्र एक मात्र उस परात्पर परमात्मा को ही देखने की स्थिति को प्राप्त करना है। ज्ञानयोग में भक्ति का संयोग होने पर ज्ञान साधन बनता है और उसके द्वारा साध्य 'पराभक्ति' को प्राप्त करने का लक्ष्य रहता है। कर्मयोग के अन्तर्गत भक्ति साधन है, जिसके माध्यम से 'निष्काम' की साध्यावस्था को प्राप्त करना सम्भव होता है, अतएव आचार्य विनोबा भावे ने भक्ति को कर्म योगान्तर्गत एक विकर्म का सर्वोत्तम प्रकार माना है। वस्तुतः 'गीता' की दृष्टि भी यही है। निष्कर्ष रूप में ज्ञान योग में ज्ञान साधन है और भक्ति परा रूप में साध्य। परन्तु कर्मयोग में भक्ति को साधन भी बनाया जा सकता है। भक्ति योग में भक्ति प्रमुख साधन है और साथ ही वह साध्य भी है। 'भावभक्ति' एवं 'प्रेमाभक्ति' की अवस्था में कर्म एव ज्ञान की नितान्त आवश्यकता रहती है क्योंकि ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान हुए बिना उसके प्रति प्रेम अथवा भक्ति का उद्रेक कहाँ से होगा ?

श्री मद्भगवद्गीता में भगवान् ने कर्मयोग में भलीभाँति स्थित होने के लिये ज्ञानयोग की आवश्यकता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है।—

> तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
> छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (४/४२)

"इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन तू हृदय में स्थित इस
नजनित अपने संशय का विवेकज्ञानरूप तलवार द्वारा छेदन
के समत्वरूप कर्मयोग में स्थित हो जा और युद्ध के लिये
ा हो जा ।"

ज्ञानयोग के साधक के लिये भी कर्मयोग का आचरण
रना अपरिहार्य बताकर ज्ञानी को कर्म करने को प्रेरित किया
या है ।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवश कर्मसर्वः प्रकृतिजगुंणैः ॥ (३/५)

"निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी
बिना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजनित
गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिये बाध्य किया जाता है ।

अध्याय पांच के पचीसवें श्लोक में 'सर्वभूतहिते रताः'
ज्ञानी को श्रेष्ठ बताया गया है । अतएव कर्म में प्रवृत्त हुए बिना
प्राणियों का हितसम्पन्न होना कैसे सम्भव होगा ? अर्थात्
ज्ञानी को परोपकार परायण होने के लिये कर्म में प्रवृत्त
होना आवश्यक है ।

न च सन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति । (३/१४)

अर्थात् कर्मों का केवल त्याग करने से सांख्यनिष्ठा
द्वारा ज्ञानयोग की सिद्धि सम्भव नहीं है । ऐसा निषेधात्मक
वचन कह करके भी ज्ञानयोग के साधक को कर्तव्य कर्म करते
रहने के लिये ही प्रेरित किया गया है ।

परमात्मा विषयक ज्ञान से उसके प्रति प्रेम (भक्ति) जागृत
होता है और 'मामनुस्मर युध्य च' अर्थात् 'हे अर्जुन मेरा स्मरण भी
कर और युद्ध भी कर ।' यह कहकर भक्ति के साथ कर्म करने को

आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। महर्षि योगी श्री अरविन्द ने कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग के पारस्परिक सम्बन्धों को इस प्रकार व्यक्त किया है:—"कर्मों का मार्ग यज्ञ के इस पथ से (सत्कर्म आदि के मार्ग से) चलकर भक्ति के मार्ग से जा मिलता है। यह स्वय एक परिपूर्ण तन्मयकारी और सर्वांगीण भक्ति हो सकता है, एक ऐसी गहरी से गहरी भक्ति हो सकता है, जिसे हृदय की उमंग पाना चाह सकती है अथवा मन का प्रबल भाव कल्पना में ला सकता है। और फिर इस योग का अभ्यास एकमात्र केन्द्रीय मोक्षदायक ज्ञान के सतत आन्तरिक स्मरण की अपेक्षा रखता है। उस ज्ञान को निरन्तर सक्रिय ढंग से कर्मों के रूप मे बाहर उण्डेलने से इस स्मरण को उद्दीप्त करने में सहायता मिलती है"[1]

कर्म का योग के रूप में आचरण करने से ज्ञान की प्राप्ति होना सम्भव है।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति। (४/३८)

'उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग के द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने आप ही आत्मा में पा लेता है।' इसी प्रकार ज्ञान योग के आचरण से भक्तियोग की प्राप्ति होना बताया गया है।

एतां विभूति योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ (१०/७)

'जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूति को और योगशक्ति को तत्त्व से जानता है, वह निश्चल भक्ति योग से युक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।' दसवें अध्याय के दसवें एवं ग्यारहवें श्लोकों में भगवान् ने कहा है कि निरन्तर प्रेमपूर्वक भगवान् की भक्ति करने वाले भक्तों को भगवान् स्वयं तत्त्वज्ञानरूप योग देकर इस तत्त्वज्ञानरूप दीपक के द्वारा उन भक्तों के अज्ञानजनित अंधकार को नष्ट

१ श्री अरविन्द—योग समन्वय भाग १ पृ० ६२

कर देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कर्म को ज्ञान व भक्ति को, भक्ति को कर्म एवं ज्ञान की और ज्ञानयोग को भक्ति एवं कर्मयोग का सहारा लेने की आवश्यकता रहती है। इस आवश्यकता की पूर्ति दो प्रकार से सम्भव की जा सकती है। एक, समन्वित योग साधना के माध्यम से अथवा दो, किसी एक योग का सम्यक्प्रकारेण पूर्ण साधन कर सिद्धि प्राप्त करके, जैसा कि ऊपर उद्धृत श्लोक (गीता ४/३८; १०/७;१०;११) में कहा गया है और जिनकी श्री अरविन्द इस प्रकार पुष्टि करते हैं—

"सामान्यतया दिव्य प्रेम को पूर्ण घनिष्ठता के द्वारा 'प्रिय' का पूर्णज्ञान प्राप्त होगा, इस प्रकार वह 'ज्ञान' का मार्ग होगा। उसका ध्येय दिव्य सेवा भी होगा और तब वह 'कर्म' का मार्ग बन जायगा। इसी प्रकार पूर्ण 'ज्ञान', पूर्ण 'प्रेम' और 'आनन्द' को जन्म देगा तथा ज्ञात 'सत्ता' के 'कर्मों' को पूर्णरूप से स्वीकार कर लेगा। इसी प्रकार समर्पित 'कर्म' 'यज्ञ' के स्वामी के सम्पूर्ण प्रेम को तथा उसके मार्गों और उसकी सत्ता के गहनतम ज्ञान को जन्म देगा। इस त्रिविध मार्ग के द्वारा ही हम समस्त सत्ताओं मे तथा 'एकमेव' की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में उसके पूर्ण ज्ञान, प्रेम और सेवा तक पहुँचते हैं।"[1]

श्रीमदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय भक्ति प्रधान है। रामनाम के स्मरण के साथ भक्ति का विकास होता है, हठयोग एवं राजयोग की सिद्धि होती है और इसके साधन में ज्ञानयोग तथा कर्मयोग की क्या भूमिका रहती है, उसको अन्धे एवं पगु के रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस रूपक को कुछ अधिक इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि—"कर्तृत्व भोक्तृत्व का नाम ही संसार है। कर्तृत्व को मिटाने के लिये 'ज्ञानयोग' और भोक्तृत्व' को मिटाने के लिये 'कर्मयोग' है। एक अर्थात् कर्तृत्व के मिटाने पर दूसरा भोक्तृत्व स्वतः

१. वही ३२-३३ पृ०

ट जाता है। वस्तुतः भोक्तृत्व पर ही कर्तृत्व टिका हुआ है। अतः दि भोक्तृत्व को पहले नष्ट कर दिया जाय तो कर्तृत्व स्वतः मिट ाता है।"[२]

भोक्तृत्व को नष्ट करने का 'सदर्थ' कर्म के रूप में भक्ति ोग भी एक श्रेष्ठ उपाय है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों एवं हात्माओं ने अपनी अनुभव वाणी में स्थान स्थान पर ज्ञान और क्ति की याचना की है। इस प्रकार उन्होंने भक्ति के साथ ज्ञान को व ज्ञान के साथ कर्म को और ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के साथ योग ाधना को अपनी साधना पद्धति में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इन ब का समन्वित रूप ही इनकी साधना पद्धति है।

समन्वय के विविध रूप

रामस्नेही सम्प्रदाय में अन्यान्य सम्प्रदायों की भांति मूर्ति का पूजन न हो कर ज्ञानस्वरूप गुरु (समाधि पुरुष) का पूजन होता है। इनके आचार्यों ने विशुद्ध एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया है, फिर भी नित्य एवं नैमित्तिक अवतारवाद में आस्था रखने के कारण अवतारों की उपासना का खण्डन नहीं किया गया है। सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य मूल रूप से आध्यात्मिक पुरुष थे, अतएव उन्होंने धर्माचरण को अपेक्षा साधना को और धार्मिकता कि तुलना में आध्यात्मिकता को अधिक महत्व दिया है। धर्म के लौकिक पक्ष की दृष्टि से वे कर्म-काण्ड, व्रत एवं तीर्थाटन की अपेक्षा सदाचरण एवं सात्विक तथा उद्यमी जीवन को अधिक प्रश्रय देते हुए जान पड़ते है। इसी प्रकार वे ज्ञान, कर्म एवं भक्ति आदि का एक समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत करने का प्रयास करते हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने सगुण तथा निर्गुण में अभेद स्थापित

२. श्री रामसुखदासजी म०, गीता कर्मयोग ३/७ की व्याख्या। कल्याण वर्ष ५३ अंक ५४ पृ० ११६

किया है। प्रस्तुत प्रकरण में इन्ही बातों का दिग्दर्शन करने का प्रयास किया जायगा।

भागवत धर्मोक्त भक्ति योग की साधना का मूल प्रतीकोपासना है। यहाँ भक्ति का तात्पर्य भगवान् के प्रति भक्त के हृदय में अनन्य अनुराग का होना है। भक्त में भगवान् के प्रति अनन्य अनुराग की धारा को प्रवाहित करने का साधन मूर्तिपूजा है। प्रतिदिन देव प्रतिमा का दर्शन एवं षोडषोपचार करते-करते भक्त के हृदय में भगवान् के प्रति अनन्यता बढती जाती है। इसकी पूर्णावस्था को रागात्मिका भक्ति कहते हैं। इसकी परिसमाप्ति परा भक्ति में होती हैं, जहाँ उपास्य-उपासक भेद समाप्त हो कर भक्त सच्चिदानन्द घन स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

रामस्नेही सम्प्रदाय में गुरु द्वारा उपदिष्ट 'राम' मंत्र ही भक्त के लिये साधना काल मे परमसाध्य होता है क्योंकि इसकी सिद्धि होने पर ही भक्ति की पूर्णता एवं योग का आरम्भ होता है, जो आत्म साक्षात्कार का साधन माना गया है। सम्प्रदाय के आचार्यों ने प्रतिमा-पूजन का कहीं-कहीं खण्डन किया है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने प्रतीकोपासना के दर्शन का ही खण्डन किया है। इन आचार्यों ने अपनी साधना पद्धति मे 'राम' शब्द को परब्रह्म परमात्मा का वाचक मान कर प्रतीकोपासना के दर्शन को हृदय में स्वीकार किया है। भेद केवल इतना ही है कि धातु-प्रस्तर आदि से विनिर्मित देव-प्रतिमा की षोडषोपचार युक्त पूजा करने के बजाय मंत्र सेवा अर्थात् शब्द योग की साधना को प्रतिस्थापित किया है। इस तरह इन आचार्यों ने अपनी साधना पद्धति में प्रतीकोपासना रूपी भक्ति योग एवं योग मार्ग दोनो का अद्‌भुत रूप से समन्वय किया है।

यह सम्प्रदाय संत मत के अनुसार निर्गुण-निराकार ब्रह्म को मानता है, परन्तु उसे प्राप्त करने के लिये वेदान्त शास्त्र

एवं संत मत के अन्यान्य सम्प्रदायों की भांति शुष्क ज्ञान मार्ग का अनुसरण न कर भक्ति मार्ग की भगवद्शरणागति एवं भगवच्चरणों में अनन्य अनुराग रूपी रागात्मिका भक्ति के सरल पथ का अनुगमन करता है। इसके लिये आचार्य निर्गुण, निराकार परब्रह्म 'राम' में दया, करुणा, वात्सल्य, आदि भावों को आरोपित करके 'राम' मंत्र के योग-विधिसहित स्मरण और हृदय में ज्योतिस्वरूप परब्रह्म का ध्यान करते हुए निर्गुण-निराकार परब्रह्म की उपासना करते है। उनके द्वारा की जाने वाली परब्रह्म की स्तुति का एक उदाहरण इस प्रकार है:—

"नमो राम रमतीत, भज्यां आनन्द स्वरूपं।
करुणामयी कृपाल, प्रकट तत्काल अनूपं।
संत परम विश्राम, राम आधार सदाई।
सदा दयालु निहाल, काल व्यापे न कदाई।
आप रूप जन जश करन, भक्तां विरद बधारना।
रामदास वन्दन करें, नमो परमगत तारना॥"[1]

उस रमतीत राम यानि सर्वव्यापक विभु परब्रह्म का प्रतीक 'राम' शब्द है। अतः रामस्नेही भक्त की नामस्मरण में इतनी अधिक अनुरक्ति हो जाती है कि उसके स्मरण बिना वह रह नही सकता। साधना काल में श्वासोच्छ्वास नामस्मरण की गति बढ़ती जाती है। उसका ध्यान सब बाह्य विषयों से हट कर अपने उपास्यदेव 'राम' मंत्र पर केन्द्रित हो जाता है। साधना की परिपक्वता के साथ-साथ यह सुरति-शब्द योग का रूप ग्रहण कर लेता है, जो संतमत की उपासना विधि की मुख्य विशेषता है. तत्पश्चात् नामस्मरण नाभीस्थल में पहुँच कर सहज-स्मरण एवं योग का रूप धारण कर लेता है, जिसमे रागात्मिका भक्ति परा भक्ति में परिवर्तित हो जाती है, जहाँ ध्याता, ध्यान

---

१. श्री दयालदासजी महाराज।

और ध्येय की त्रिपुटी समाप्त हो कर इनमें एकत्व स्थापित हो जाता है। साधक असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त हो कर जीवन मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार रामस्नेही सम्प्रदाय की साधना में भक्ति, ज्ञान एवं योग मार्ग का एक अद्भुत समन्वय पाया जाता है। शुष्क ज्ञान मार्ग को भी सरस भक्ति मार्ग से सिक्त कर दिया है। इतना ही नहीं यंत्रवत योग साधना को भी अति सहज रूप प्रदान करना इन महात्माओं की अपनी अनूठी खूबी रही है, जिसका विवरण भक्ति का स्वरूप, साधना का प्रकार एवं योग का स्वरूप शीर्षकान्तर्गत प्रसंग-वशात दिया जा चुका है। बीज मंत्र 'राम' नाम के स्मरण पूर्वक साधना में 'अजपाजाप' या सहज स्मरण रूपी 'मंत्र योग' की सिद्धि एवं शब्द की परा शक्ति का प्राकट्य, श्वासोच्छ्वास स्मरण में स्वतः प्राणायाम की प्रक्रिया का सम्पादन हो कर रेचक व पूरक किये बिना ही कुम्भक होने में हठयोग की सिद्धि और कुण्डलिनी को जागृत कर षट-चक्रादि का भेदन करते हुए 'र' कार ध्वनियुक्त प्राण का सहस्रार में पहुँचने के रूप मे लय योग की सफलता होती है। और, अन्त में सहज समाधि की अवस्था को प्राप्त हो जाने में राजयोग एवं भक्ति योग की पूर्णता होती है। इस प्रकार सर्व योग समन्वय किया गया है।

× × × ×

'राम' शब्द परात्पर परब्रह्म परमात्मा का वाचक है और स्नेह भक्ति सूचक। अतएव परब्रह्म परमात्मा की निर्गुणभाव से भक्ति करना इस सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त है। भगवान् के प्रति अनन्यता का होना ही भक्ति है। परमात्मा को निर्गुण एवं निराकार केवल शब्द ब्रह्म के रूप मे ग्रहण कर एक ओर रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्य एकेश्वर वादी उपनिषदों द्वारा वर्णित ब्रह्मसत्ता का प्रतिपादन करते हैं तो दूसरी ओर भक्ति को भी अपनी साधना का अंग मानते हैं, जो अवतारवाद व सगुण ईश्वर की विचारधारा पर आधारित

है। इस तरह ऊपरीतौर पर विरोधाभास प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः यह उनकी समन्वय परक प्रकृति का द्योतक है। उपनिषदों में प्रतिपाद्य अध्यात्म विद्या एव ब्रह्म वाद के समर्थक अद्वैत मत प्रतिपादक और ज्ञान-योग के अनुयायी होते हैं, जबकि पुराणोक्त धर्म विद्या एवं सगुण ईश्वर की विचारधारा के समर्थक द्वैत मत प्रतिपादक एवं भक्तियोग का अनुसरण करने वाले होते हैं। रामस्नेही सम्प्रदाय इन दोनों मतवादों में पाए जाने वाले एकाकीभाव व विरोध को दूर कर इनमें समन्वय स्थापित करने के पोषक हैं। क्योंकि भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में जो उपास्य-उपासक का भेद होता है, वही भक्ति की पूर्णावस्था मे अभेद के रूप में परिणत हो जाता है:—

'भक्त्या मामभिजानाति यावान यश्चास्मितत्वतः।
ततो माम तत्वतोज्ञात्वा विशते तदनन्तरम॥
(गीता १८/५५)

अतः द्वैत मतपरक भक्ति योग एवं निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रतिपादक अद्वैत में तत्वतः अभेद स्थापित हो जाता है। महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर, समर्थ रामदास, एकनाथ एवं तुकाराम आदि ने अद्वैत युक्त भक्ति मार्ग का अवलम्बन और समर्थन किया है। रामस्नेही सम्प्रदायाचार्यों ने भी उस निरूपास्य निर्गुण-निराकार ब्रह्म को करुणा-वरुणालय और 'विरद वारु' कह कर भक्त की आर्त पुकार पर तत्काल प्रकट होने वाला बताया है।

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के शब्दों में—"वेदत्रयी (ऋक, यजु, साम) मे ज्ञान, कर्म और उपासना—इन तीन मार्गों का निर्देश है। इन्हीं को भक्तिवाद के शब्दों में हम स्तुति प्रार्थना और उपासना भी कह सकते हैं। ज्ञान हमें सत्य का बोध कराता है, कर्म सत्य तक हमें पहुँचाता है और उपासना के द्वारा हम उस सत्य के पास बैठने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के द्वारा

योग मार्ग को अपना लेता है। जहाँ तक इस योग मार्ग का भ
योग के साथ समन्वय का प्रश्न है, यह पातञ्जल के अष्टांग योग
स्वरूपतः अभिन्न होते हुए भी साधन - उपादान के दृष्टिकोण
भिन्न है। उदाहरणार्थ यहाँ साधन-काल में योग की प्राणाया
प्रक्रिया का नाम स्मरण से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं है। श्वासोच्
वास 'राम' मंत्र के सतत स्मरण के साथ रेचक, पूरक एवं कुम्भ
क्रियाएँ स्वतः सिद्ध हो जाती है। साथ ही मूल बंध, उड्डियन बंध ए
जालंधर बंध आदि की साधना हठ-योग के अनुसार नहीं की जाती है

"रेचक अरु पूरक कर बिन कुम्भक
आप उलटि पलटंदा है।"

अर्थात् "बिना हाथ की सहायता के जब आप से आप स्व
बायें से दाहिने और दाहिने से बाईं तरफ उलट-पलट रेचक-पलट हो
कर कुम्भक होने लगता है, अथवा कुम्भक ही होने लगता है।"[1]

स्मरण के चार प्रकार 'अध मध उत्तमत्रय धर ठानू, चौथे
अति उत्तम अस्थानु' के साथ योग के विभिन्न चक्रों का भेदन होता है
और शब्द की गति क्रमशः आगे बढ़ती हुई त्रिवेणी को पार कर बेहद
हो जाती है। यही 'राम' स्मरण की पूर्णता योग की समाधि अवस्था
कहलाती है।

× × × ×

"यह सत्य है कि उपनिषद् भी यज्ञों से प्राप्त धार्मिकता को
अपने अध्यात्मवाद की तुलना में निम्न स्थान देते हैं।"[2] ठीक इसी
औपनिषदिक विचार धारा का अनुसरण करते हुए रामस्नेही आचार्य
जप, तप एवं तीर्थादि की तुलना में उस हरि भक्ति को श्रेष्ठत्व प्रदान
करते हैं, जिसे परा भक्ति कहा गया है।

---

१ श्री हरिरामदासजी म० —बघर निशाणी की टीका।

२ [illegible] – भारत और [illegible] पृ० १६.

जप तप तीर्थ रामदास सबही फूल समानि।
फलरूपी हरि भगत है, सो तो बिरला जानि॥
फल पाया तब जानिये, फूल गया कुमलाय।
रामदास ग्रांधो जगत, फूलों रहो लुभाय॥

× × × ×

संत मत एवं वैष्णव सम्प्रदायों में निर्गुणवाद तथा सगुणवाद को ले कर मुख्य मत विभिन्नता पाई जाती है। रामस्नेही आचार्यों की दृष्टि से सगुण तथा निर्गुण का विवाद व्यर्थ प्रतीत होता है क्योंकि ये दोनो ही अन्योन्याश्रित है। निर्गुण ब्रह्म से ही सगुण सृष्टि का विकास होता है और प्रलय काल में इस सगुण सृष्टि का निर्गुण ब्रह्म मे विलय होता है।

निर्गुण ते गुण ऊपजे, गुण ते निर्गुण ताहि।
जन हरिया फल बेल ते, फल बिन बेलो नाहि॥
हरिया निर्गुण मूल हैं, सगुण जु साखा पान।
भक्ति बीज फल मुक्ति है, और धर्म सब आन॥

अतएव

सुरगुण निरगुण एक है, एक हि रह्या समाय।
एक हो साहिब रामदास, दूजा कह्या न जाय॥

× × × ×

सारांशतः तारक बीज मंत्र 'राम' नाम को निर्गुण [illegible]ह्म का वाचक व उसका प्रतीक मान कर साधना को जाती है [illegible]र परम साक्षात्कार किये हुए संत व सद्गुरु को भगवद्स्वरूप [illegible] मान कर सेव्य कहा है। निर्गुण ब्रह्म को भी भक्त रक्षार्थ [illegible]विध रूपों मे उसके अवतीर्ण होने की धारणा को भी मान्यता [illegible] की गई है। व्यवहार में किसी मत, दर्शन अथवा मार्ग [illegible] का न तो खण्डन ही किया गया है एवं न ही किसी के [illegible]र्वाह को ही प्रवृति पाई जाती है।

संक्षेप में द्वैत एवं अद्वैत, ज्ञान तथा भक्ति और कर्म योग का अद्भुत तथा मौलिक समन्वय उपस्थित करना रामस्नेही साधना पद्धति व मत की विशेषता है। निर्गुण – निराकार परब्रह्म की उपासना ही इसका मूल है। इनके आचार्य एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं और तारक 'मंत्र' 'राम' नाम का निरन्तर स्मरण करते हुए संत परम्परा की सुरति–निरति की अवस्था अथवा योग साधना द्वारा निर्विकल्प समाधि प्राप्त करना साधक का लक्ष्य स्वीकार किया गया है। यहाँ ज्ञान योग के साथ भक्ति योग को प्रधानता है। निराकार ब्रह्म भी उपास्य है। निष्कर्षतः बंगाल व महाराष्ट्र के संतों की तरह अद्वैतयुक्त गीतोक्त भक्ति योग को अपनाया गया है। पण्डित श्री उत्साहरामजी के शब्दों में—"रामस्नेही सम्प्रदाय का मूल स्रोत सर्वदर्शनसार गीता है और यथार्थ गीतोक्त भक्ति योग ही इस सम्प्रदाय की आधारशिला है।"[1]

भक्ति के साथ योग का विलय करना सम्प्रदाय की अपनी विशेषता है। सम्प्रदायाचार्यों ने अपनी साधना पद्धति में न तो कठोर तपश्चर्या को स्थान दिया है और न ही उनके द्वारा किसी उग्र साधन को अपनाया गया है। संक्षेप में सर्व योग समन्वय करते हुए मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया गया है। यही सम्प्रदाय का मूल दर्शन कहा जा सकता है। यथाः—

"रामदास मथ अंगुली, पकड़ राख विसवास।
आसपास की दूर कर, ज्यूं पावै सुख रास॥
रामदास दुबिधा तजो, दुबिध्या तरयो न कोय।
दुबिध्या मांहे चालतां, भलों कहाँ ते होय॥"[2]

× × × ×

"आस पास को छोड़ दे, रहो मध्यसुं लाग।
रामा आसै पास में, दोनूं कोना आग॥

---

१. श्री रामस्नेही मत दिग्दर्शन पृ० २.
२ श्री रामदासजी महाराज की वाणी पृ० १५.

मध्य अंगुली झाल कर; पहुंचा सुख की सोर।
रामदास गंग जमुन बिच, जहाँ त्रिगटी तीर ॥"[1]

इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण ही सम्प्रदाय के वाणी साहित्य एव साधना पद्धति में शंकर का अद्वैत, रामानुज का विशिष्टा द्वैत, नाथ एवं सिद्धों का योग, वैष्णवों की भक्ति एवं सूफियों के प्रेम मार्ग का दर्शन यत्र तत्र होता है। अस्तु।

१. वही पृ० २५.

सातवाँ अध्याय - (७)

साधना एवं सद्गुरु

सत मत के अन्य सम्प्रदायों की भाँति रामस्नेही सम्प्रदाय में भी गुरु को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। कबीर की तरह इनके आचार्यों ने भी गुरु को परात्पर परब्रह्म परमात्मा से भी अधिक माना है। गुरु सेवा पहले है, उसके पश्चात् ही हरि भक्ति को स्थान दिया गया है।

> 'प्रथम सेव गुरुदेव की, पीछे हरि की सेव।
> जन हरिया गुरुदेव बिन, भक्ति न उपजे मेव॥'[1]

संस्कृत साहित्य में भी 'आचार्यः देवो भव:' कहा है। परवर्ती काल में गुरु को ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश तथा साक्षात् परब्रह्म कह कर स्तुति की गई है।

> गुरुर्ब्रह्मा गुरुः विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरोः।
> गुरुः साक्षात् परब्रह्म। तस्मै गुरुवे नमः॥

इसका कारण स्पष्ट है क्योंकि गुरु ही अज्ञान रूपी अन्धकार से मुक्त कर ज्ञान का प्रकाश करता है और भ्रम का विध्वंस कर जीवन-मरण के चक्र से मुक्त करते हैं—

> 'गुरु तो भांजे भरम कूं राम मुक्ति की ठौर।'

---

१. श्री हरिरामदासजी म०

अतएव समस्त निर्गुण मत प्रवर्तक संतों ने अपनी साधना में गुरु को अभूतपूर्व स्थान दिया है। इन सम्प्रदायो के प्रचलन का मूल भी गुरु पद्धति ही है। गुरु पद्धति के माध्यम से एक ओर तो ये सम्प्रदाय अपने मत एव सम्प्रदाय को स्थायित्व प्रदान करने मे सफल हुए और दूसरी तरफ गुरु पद्धति द्वारा आध्यात्मिक साधको को अनुभवी महापुरुषो का सम्बल प्राप्त हुआ है, जिससे वे अपनी साधना को समृद्ध एव उन्नत बना सके। सम्प्रदायो का आविर्भाव वैयक्तिक सत्ता की प्रतिस्थापना हेतु कभी नही हुआ। गुरु का महत्व भी व्यक्ति पूजा अथवा उनके मत का प्रतिपादन करने के लिये नही रहा। परन्तु अध्यात्म साधन में गुरु सहारे की अपरिहार्यता ने ही गुरु को सर्वोच्च स्थिति प्रदान कर दी है। इन सम्प्रदायो के वीतराग, परमज्ञानी एव ...निष्ठ समस्त पहुँचे हुए महात्माओ की सिद्धि और सफलता का गुरु ही रहा है। समर्थ गुरु ही वह व्यक्ति है, जो जिज्ञासु शिष्य विभिन्न भ्रमो एवं आडम्बरो से मुक्त कर उन्हे केवल आध्यात्मिक ...ना का पथ ही नही दर्शाते अपितु उन्हे साधना की समस्त प्रक्रिया ... हुए तब तक अपनी ज्ञान समृद्ध भुजाओ का सहारा दिये ..., जब तक कि शिष्य आध्यात्मिक साधना के गन्तव्य स्थल तक ...र अपने लक्ष्य का भेदन नही कर लेता।

गुरु की इस महान् अहेतु की दया को भला कौन भूल ...? गुरु उस पंक कीट सदृश अज्ञानी शिष्य को ज्ञानपुञ्ज अध्यात्मशक्ति सम्पन्न मोहक और ऊर्ध्वगामी भ्रमर बना देता है। जब अज्ञान के अन्धकार मे ठोकर खाते हुये एवं भ्रमो मे फसे व्यक्ति को भ्रममुक्त कर ज्ञान के आलोक मे हाथ थाम कर गुरु खड़ा करता है, तब उनके चरण कमलो मे कृतज्ञतावश धड़ाम गिर पड़ने ...और वहाँ उस ज्ञानालोक मे गुरु को पूर्णब्रह्म स्वरूप देख ...धक गद्गद्‌वाणी से गुरु की स्तुति किये बिना भला कैसे रह ...ता है?

सतगुरु बिन सुधि ना लहै, कोटिक करो उपाय।
रामदास सतगुरु बिना, सब जग जमपुर जाय॥

सद्गुरु के बिना वास्तविकता को पहिचान पाना सम्भव नही है। सत्य अथवा आत्म दर्शन का ज्ञान वही करा सकता है, जिसे सत्यानुभूति, आत्म साक्षात्कार अथवा ब्रह्म दर्शन प्राप्त हो चुका हो। साधक को ऐसे गुरु की शरण में जाना ही पड़ता है। केवल मन–माने ढंग से साधन करने वाला प्रथम तो सही मार्ग का अनुगमन नहीं कर सकता। यदि कभी ऐसा हो भी जाता है, तो वह गन्तव्य लक्ष्य तक पहुँचने के पूर्व ही कभी-कभी साधन पथ से विरत हो जाता है। केवल विरले ही आत्मसंस्कारी महापुरुष होते हैं जो विशेष साधन किये बिना ही सहज में परोक्ष आत्मानुभूति कर लेते हैं। वे अपवाद स्वरूप ही होते हैं। अतएव आध्यात्मिक साधना के लिये ऐसे समर्थ सद्गुरु की नितान्त आवश्यकता रहती है, जिसे सत्य या आत्मानुभूति एवं धर्म का प्रत्यक्ष साक्षात्कार प्राप्त हो चुका है। क्योंकि ऐसा गुरु तो स्वयं ब्रह्मस्वरूप अमर पुरुष होता है।

'रामदास सतगुरु अमर, अमर निरंजन देव।

जब ऐसे अमरपुरुष जिज्ञासु साधक को सद्गुरु के रूप में प्राप्त होता है; तब गुरु तो आत्मस्वरूप मुक्ति लाभ प्राप्त करता ही है। साथ ही वह शिष्य भी निर्भय हो कर उस ब्रह्मज्योति की ओर अग्रसर होता हुआ, अन्ततः उस में एकाकार हो जाता है।

सद्गुरु केवल रामदास, मिल्या निकेवल मांय।
हरिरामा संत ब्रह्म है, सिख भी निरभै थाय॥

वस्तुतः धर्म केवल शास्त्रीय विवेचन अथवा परलोक की वस्तु न होकर वह तो प्रत्यक्षानुभूति एवं आत्म साक्षात्कार का विषय है। शिकागो के एक वक्तव्य में स्वामी विवेकानन्द ने स्पष्ट घोषणा

की थी—"भिन्न-भिन्न मत मतान्तरों या सिद्धान्तों पर विश्वास करने का नाम हिन्दू धर्म नहीं है, वरन् हिन्दू धर्म प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कार का धर्म है। केवल विश्वास का नाम हिन्दू धर्म नहीं है। हिन्दू धर्म का मूल मंत्र है, 'मैं आत्मा हूँ' यह विश्वास होना और तद्रूप बन जाना।"

धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करने वाले महापुरुष ही सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य होते हैं अथवा आध्यात्मिक पुरुष। इस स्वानुभूति को जन-जन तक सम्प्रेषित करना ही उनके द्वारा धर्म प्रचार का मुख्य लक्ष्य होता है। केवल बौद्धिक चर्चा भर कर लेना अथवा धर्म व समाज में समयानुकूल उपादेय सुधार प्रस्तुत कर देना मात्र धर्म नहीं है और न ही इस कार्य को सम्पन्न करने वाले को धर्माचार्य कहा जा सकता है। वह तो बौद्धित एवं समाज सुधारक विद्वान् मात्र है। धर्म मात्र बौद्धिक विवेचन और तर्क का विषय नहीं अपितु प्रत्यक्ष अनुभूति एवं आचरण की वस्तु है। इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द के वे शब्द उल्लेखनीय है, जो उन्होंने सन् १८९७ में लाहौर के अन्दर हिन्दुओं को सम्बोधित करते हुए कहे थे। उन्होंने कहा था:—

"धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करनी होगी। केवल सुनने से काम न चलेगा—तोते की तरह कुछ थोड़े से शब्द और धर्म विषयक बातें रट लेने से भी काम न चलेगा, सिर्फ बुद्धि की दुहाई देने से भी काम न चलेगा—आवश्यकता है हमारे अन्दर धर्म के प्रवेश करने की। ईश्वर के ऊपर जो हम विश्वास करते हैं, उसका कारण केवल हमारी जबर्दस्त दलीलें या तर्क युक्तियों ही नहीं है, बल्कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में हमारा एक और सर्वोच्च प्रमाण है और वह यही है कि हमारे यहाँ के सभी पहुँचे हुए लोगों ने (महापुरुषों ने) ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त किया है।"[1]

---

१. भारत में विवेकानन्द पृ० ३८९

आपका यह भी मत है कि अतीत में भारत वर्ष के हजारों महापुरुषों ने आत्मा के प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं। ये आत्मदर्शी एवं धर्म की अपरोक्षानुभूति (प्रत्यक्ष अनुभव) किये हुए महापुरुष ही सद्‌गुरु कहे गये हैं। समझदार साधक को ऐसे ही सद्‌गुरु की शरणागति प्राप्त कर आत्म कल्याण करने का इन आचार्यों ने अपने 'गुरु-पारख' एवं 'गुरुधर्म' आदि ग्रन्थों में आदेश दिया है। गुरु ही आत्मसाक्षात्कार के पथ का प्रदर्शक होता है। अतः गुरु ही साधना का केन्द्र विन्दु होता है।

क्या गुरु उपास्य है ?

श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय के विस्तृत साहित्य का सम्यक् अध्ययन एवं अनुशीलन किया जाय तो यह बात सत्य प्रमाणित होती है कि इस सम्प्रदाय के आचार्यों एवं अन्यान्य संत-महात्माओं की साधना में गुरु केवल विशेषज्ञ और पथप्रदर्शक होने के नाते शिष्य का श्रद्धाभाजन, सम्माननीय तथा वन्दनीय ही नहीं रहा है अपितु गुरु का स्थान ईश्वर-तुल्य और उपास्य रूप में भी रहा है :—

"अमर लोक सूं आए, सिंहथल मांहि विराजे।
तेज पुञ्ज प्रकाश, बजे अनहद के बाजे॥"

'पूर्णप्रकाशपुञ्ज स्वरूप परब्रह्म परमात्मा मेरे गुरुदेव पूर्ण समाधि पुरुष के रूप में श्री सिंहथल ग्राम में विराजते हैं। इस तथ्य तक केवल सच्चा भक्त ही पहुँच सकता है, दूसरा नहीं।

"पूरण ब्रह्म विराजिया, गांव सिंहथल मांहि।
रामदास जन जाणसी, दूजों कूं गम नांहि॥"

इस तरह आचार्यों ने सद्‌गुरु और ब्रह्म में अभेद स्थापित किया है। उनकी दृष्टि में वह निर्गुण ब्रह्म ही गुरु रूप में अवतरित होता है और आत्मजिज्ञासु साधकों को जीवन-मुक्ति का मार्ग बताता

है। अतः पूर्ण समाधियुक्त आत्मसाक्षात्कार प्राप्त ईश्वरीय विभूत्यंश
ही सद्गुरु है और वह उपास्य है।

व्याकरण की दृष्टि से 'गु' अंधकार का द्योतक है और 'रु'
काश वाचक। अतः गुरु वह व्यक्ति होता है, जो शिष्य को अन्ध-
ार से प्रकाश की ओर ले जाता है। संत साहित्य में सद्गुरु शब्द
अर्थ व्याकरण की सीमा का भी अतिक्रमण कर जाता है। वहाँ
' केवल शिष्य को अन्धकार से प्रकाश की ओर ही ले जाने वाला
होता, परन्तु वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है और शिष्य को भी तद्रूप
देता है। लोह एवं पारस के रूपक द्वारा इस तथ्य को कितने
रूप से अभिव्यञ्जित किया गया है:—

पारस रूपी सतगुरु, सिष है लोह निराट।
रामदास मिलिया सभी, पलट और ही घाट॥
लोह पारस की क्या कहूं सतगुरु अगम अपार।
तन मन सूंप्या रामदास, करै आप दीदार॥

यदि हम संत साहित्य का विशद अध्ययन करें तो यह
ट हो जाती है कि संतों ने गुरु रूप में जिन-जिन महापुरु
है, वे पहुँचे हुए जीवन्मुक्त स्वयंब्रह्म स्वरूप महापुरुष ही
र विभूत्यंश और नित्य अवतार के रूप में थे। श्री म
म्प्रदाय की आचार्य परम्परा ही नहीं अपितु शिष्य-प्रशि
...रा में भी ऐसे अनेक भजनानन्दी पूर्ण समाधि पुरुष महात्मा
चुके हैं। जब गुरु स्वयं जीवनमुक्त आत्मस्वरूप हो तब शिष्य द्वार
गुरु को ईश्वर तुल्य समझना और उन्हें ब्रह्मस्वरूप से अभिन्न देखने
में हमें किसी प्रकार की असंगति प्रतीत नहीं होती।

गुरुडम अथवा नामधारी गुरुओं की आलोचना :—

लौकिक व्यवहार में गुरु के असाधारण व्यक्तित्व एवं
उनकी दिव्य आत्म साधना ने ही उन्हें सर्वोच्च स्थिति प्रदान की है।

केवल अध्यात्म साधना के पथ प्रदर्शक गुरु को भी कृतज्ञतावश वन्दनीय ही माना है। परन्तु इन महात्माओं ने गुरु और सद्गुरु में भेद किया है। जिन लोगों ने गुरु बन कर लोगों को ठग लेने की परिपाटी चला रखी थी उन्हें इन आचार्यों ने कभी क्षमा नहीं किया। गुरु को ब्रह्म स्वरुप मानने वाले इन महात्माओं ने ऐसे गुरुओं को कटु आलोचना की है। सद्गुरु तो केवल ब्रह्मज्ञ, जीवनमुक्त महापुरुष ही हो सकते हैं। शेष लोग, जो ज्ञानी होने अथवा गुरु बनने का ढोंग करते हैं, वे तो अयोग्य पात्र है। उनसे किसी का भला होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे 'गुरु' से 'आत्म कल्याण सम्पन्न होना तो दूर रहा लौकिक हित भी होना सम्भव नहीं है। यथा :—

"गुरु लोभी सिख लालची, मिलकर खेले दाव।
दोनों डूबा रामदास बैठ, पत्थर की नांव॥"

×   ×   ×   ×

"गुरु ही अन्धा रामदास, सिख ही अन्धा होय।
आंधे कूं आंधा मिल्या, पार न पहुँचा कोय॥"

कितने निर्भीक है ये आचार्य जो सद्गुरु की महिमा और तथाकथित गुरु की आलोचना एक ही स्वर में करने का साहस रखते है। साथ ही 'गुरु' प्रथा के विकृत रूप धारण करने और भोले-भाले लोगों को ठग कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले लोगों को स्पष्ट एवं खुली चेतावनी भी देते हैं। यही है उनकी 'सार-सार को गहि लेय, थोथा देय उड़ाय' की वृत्ति। अतः इन तथ्यों पर विचार करने पर उन लोगों की आंखें खुल जानी चाहिए जो मन मन में गुरु के गौरवशाली महत्व को केवल शंका ही की दृष्टि से देखते है। यदि वह 'सद्गुरु' है तो पंचभौतिक देहधारी होते हुए भी ईश्वर तुल्य है और उसके विपरीत तथाकथित 'गुरुओं' की [illegible] को इन महात्माओं ने कभी प्रतिष्ठापित नहीं किया।

तैसे 'गुरुग्रो' को कान गुरु की संज्ञा दी है और उसे निरर्थक स्वार्थवश किया जाने वाला ढोंग कह कर खुल कर खण्डन किया गया है।

गुरु भक्ति एवं नामस्मरण

श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय में गुरुभक्ति को विशेष हत्व प्रदान किया गया है। शिष्य की दिनचर्या का आरम्भ गुरु वन्दन—एवं पाद सेवन से होता है। शिष्य प्रातः काल ब्रह्ममुहूर्त में उठ कर अपने नित्य कर्मों से निवृत हो गुरुचरणों मे वन्दन व साष्टांग दण्डवत प्रणाम तथा परिक्रमा करता है। मुख से परात्पर परब्रह्म का वाचक 'राम' मंत्र का स्मरण निरन्तर चलता है और हृदय मे ज्योतिस्वरुप श्री 'राम' का ध्यान किया जाता है। श्री सद्गुरु की सेवा एवं सतसंगत साधक के अनुभव स्तार के लिये आवश्यक माना गया है। श्रीमद्भगवद्गीता आदेश है :—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (४/३४)

गुरुभक्ति साधना के आरम्भ से अन्त तक बनी रहती है। जैसे-जैसे साधक अपनी साधना में परिपक्व होता जाता है, गुरुभक्ति शिथिल पड़ने की अपेक्षा उत्तरोत्तर तीव्र से तीव्रत होती है। साधन की पूर्णता के पश्चात् भी 'बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो बताय' की कृतज्ञतापूर्ण भावों की अजस्रधारा प्रवाहित होती हैं और गुरुभक्ति यथावत् किंवा प्रवर्धिता दृढ बनती जाती हैं। गुरुभक्ति का यह आदर्श इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों के जीवन में भी पूर्ण लक्षित होता है। आचार्यों ने गुरुभक्ति को अन्त तक अपनी आध्यात्मिक साधना का प्रधान अंग स्वीकार किया है।

सगुण वैष्णव सेवा पद्धति में भक्त अपने इष्टदेव के प्रतीक स्वरूप धातु पत्थर आदि की प्रतिमा स्थापित करता है और उसे केन्द्र मान कर नवधा भक्ति की जाती है । रामस्नेही आचार्यों ने अपने उपास्यदेव उस निर्गुण ब्रह्म का वाचक 'राम' शब्द को स्वीकार किया है और गुरु ही उनका प्रतीक है। वे धातु-पत्थर आदि प्रतिमा की पूजा करने के बजाय 'चेतनदेव साधु की सेवा करते हैं ।

'चेतनदेव साधु को पूजे ।
रामनाम बिन सत्य न सूजे ॥

(श्री परसराम)

अतः योगसहित नाम स्मरण के साथ आचार्यों के वाणी ग्रन्थ एवं गुरु चरणों का पूजन-अर्चन किया जाता है । गुरु ही निर्गुण ब्रह्म का सगुण स्वरूप है । अतः पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य आदि भावों का प्रदर्शन गुरु के प्रति किया जाता है। आचार्यों की वाणी एवं गुरु उपदेश तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों का श्रवण किया जाता है । दया, करुणा आदि भावों से आरोपित निर्गुण ब्रह्म रूप 'राम' गुरु एवं संत-महात्माओं के यश एवं उनकी लीलाओं का गुणगान किया जाता है। आचार्य श्री रामदासजी म० एवं श्री दयालजी महाराज ने 'रामनाम प्रताप' 'करुणासागर' 'रामरक्षा' एवं 'गुरुमहिमा' 'रक्षाबत्तीसी' तथा 'भक्तमाल' 'अरदास बत्तीसी' 'विनती को अंग' आदि ग्रंथों की रचना कर राम, गुरु एवं संत या भक्तजन—इन तीनों का समान रूप से गुणगान किया है। इन सारे ग्रन्थों की ध्वनि परोक्ष रूप से निर्गुण ब्रह्म की स्तुति में समाप्त होती है । 'करुणासागर' एवं 'रक्षा बत्तीसी' आदि तो प्रत्यक्षतः सुन्दर स्तुति ग्रन्थ है । यही स्तुति प्रार्थनाएं रामस्नेही अनुयायियों के आत्मनिवेदन और स्तुति के लिये दैनिक पूजन में प्रयुक्त की जाती हैं ।

गुरु के प्रति आत्म निवेदन करके शिष्य जिज्ञासुभाव से
आत्मज्ञान तथा कल्याण का मार्ग पूछता है। जहाँ सगुण वैष्णव
सम्प्रदायों में मूर्ति को अपने उपास्य को प्रतीक मानकर नवधाभक्ति
का प्रदर्शन किया जाता है, वहाँ श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय में
ज्ञानदेव गुरु को ही नवधा भक्ति को क्रिया कलापों का प्रारम्भिक केन्द्र
माना है। इस प्रकार गुरुभक्ति एवं रामनाम स्मरण सम्प्रदाय की
उपासना का मूल आधार है।

'गुरु कूँ दण्डवत् कीजिये, मुख सूँ कहिये राम।
रामदास सो सिख जन, पावे मादू धाम।'

छाया चित्र एवं वाणी पूजन:—

ईश्वर की सत्ता के अस्तित्व के सम्बन्ध में मौन धारण करने
वाले भगवान् बुद्ध के अनुयायियों ने जिस तरह कालान्तर मे स्वयं बुद्ध
को ही भगवान् मान कर उनकी मूर्ति की प्रतिष्ठा कर दी और मेवा
पूजा की पद्धति आरम्भ हो गई। ठीक इसी प्रकार श्री मदाद्य रामस्नेही
सम्प्रदाय के प्रवर्तकाचार्यों की 'वाणी' को धार्मिक ग्रन्थ के रूप में सिक्खों
के ग्रन्थ साहब एवं इस्लाम के कुरानशरीफ की तरह पूजा जाता
है। 'वाणी' ग्रन्थ के साथ आचार्यों की तस्वीरें मन्दिर में पधराई
जाती है और उनका पूजन-अर्चन एव आरति आदि की रस्में पूरी की
जाती हैं। सम्प्रदायाचार्यों के विशाल वाणी साहित्य के अतिरिक्त वेद,
उपनिषद् और पुराणादि ग्रन्थों को धर्म ग्रन्थो के रूप में मान्यता है।
पूजन-अर्चन केवल 'गुरुवाणी ग्रन्थ' का ही होता है। साथ ही
कबीर एवं दादू आदि अन्य सन्त वाणी को भी सम्माननीय
दृष्टि से देखा जाता है।

इस्लाम धर्म मे मुहम्मद साहब को अल्लाह का पैगम्बर
माना गया है। ईसामसीह अपने आपको ईश्वर का बरद पुत्र कहा
करते थे और उनके मतानुयायी क्रास को ईसा के बलिदान के स्मृति-

स्वरूप धारण करते हैं। इसाइयत मतानुसार ईसा की शरणागति प्राप्त किये बिना उस ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते। अर्थात् ईसा का अनुग्रह ही भक्त को भगवद्-दर्शन प्राप्त होने का हेतु माना गया है। जैनों के तीर्थङ्कर ही सिद्ध पुरुष के रूप में पूजनीय है। अतः उन्ही की स्तुति-वन्दनादि की जाती है। गौतमबुद्ध को उनके अनुयायियों ने भगवान् कह कर पुकारा और मठ तथा मन्दिरों में उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई। ठीक इसी प्रकार श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों की भी उपासना की जाती है। ये सम्प्रदाय प्रवर्तक वाणीकार आचार्य और उनकी अनुभव वाणी ही अनुयायियों की निष्ठा तथा भक्ति का केन्द्र है। भक्त इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने हेतु सम्प्रदाय के संत-महात्माओं का शिष्यत्व अवश्य स्वीकार करते हैं और लौकिक व्यवहार के अनुसार वह गुरु का मान-सम्मानादि करता है। परन्तु उसकी अनन्य निष्ठा एवं भक्ति का केन्द्र निर्गुण ब्रह्म और आत्मसिद्ध व मत प्रवर्तक आचार्य ही होते हैं।

व्यक्तिपूजा के सम्भावित दोषों से मुक्त रहने के लिये गुरु स्वयं शिष्य को अपनी पूजा व भक्ति नहीं अपितु उन प्रवर्तक आचार्यों की सेवा-पूजादि द्वारा उपासना करने का उपदेश देते हैं। शिष्य की भक्ति एवं निष्ठा को उन सिद्धपुरुष, ब्रह्मनिष्ठ 'रामस्नेह' धर्म-मत प्रवर्तकाचार्यों के प्रति एकनिष्ठ बनाते हुए गुरु शिष्य को निर्गुण 'राम' का स्मरण करने की आज्ञा देते हैं।

भक्त चाहे साधु हो अथवा गृहस्थ इन आचार्यों की अनुभव 'वाणी का पाठ-पूजन (वाणी ग्रन्थ का पारायण एवं पूजा) करता है। अपनी सुविधा एवं सामर्थ्यानुसार आचार्य पीठ रामधाम खेड़ापा में जा कर महात्माओं की तपो-भूमि के दर्शन-स्पर्शन का लाभ प्राप्त करता है। निजमन्दिर और देवालयों में प्रतिष्ठापित आचार्यों के छायाचित्रों एवं वाणी ग्रन्थ का दर्शन और पूजन करता है। वह एक [illegible] [illegible] श्वासोंश्वास राम नाम स्मरण करता है और 'वाणी-पाठ' तथा

चार्यों द्वारा निर्मित सुन्दर स्तुति-प्रार्थनाओं का पारायण किया ता है।

इस तरह रामस्नेही भक्त की गुरुभक्ति ने सर्वथा निर्दोष वं विशुद्ध व्यावहारिक रूप ग्रहण कर लिया है। प्रवर्तक आचार्यों छाया चित्र का दर्शन एवं उनकी अनुभव वाणी' का पारायण तथा जन करना, आचार्यों की तपोभूमि के दर्शन करना, एकनिष्ठ हो ाम' नाम का स्मरण करते रहना अपनी मनोकामना तथा नैवेद्य का न ब्रह्मनिष्ठ, तपोघन, जीवन मुक्त सम्प्रदाय प्रवर्तक महान् विभूति रूप आचार्यों के प्रति निवेदन करना आदि गृहस्थ रामस्नेही भक्त ी गुरुभक्ति और साधना का स्वरूप है। उन भक्तों की सेवा-पूजा र्वथा सात्विक एवं उपासना विधान सरल होता है। स्तुति-प्रार्थना, ामस्मरण, एवं ध्यान ही समस्त कामनाओं की पूर्ति का मूल सर्व- ंगल प्रदायक माना गया है। फलतः अन्य सब प्रकार के मंत्र-तंत्र, ाडम्बर, टोने-टोटके और ऐसे क्रिया-कलाप जिन्हे अंध विश्वासों की ंज्ञा दी जा सकती है, का निषेध किया गया है।

सामाजिक सुधार, आचरण की पवित्रता एवं जीवन की ौकिक उन्नति के लिये आचार्यों ने जिन बातों पर जोर दिया और ्से उपाय सुझाए गये, उन पर प्रसंगानुसार अन्यत्र प्रकाश डाला ायगा।

आठवाँ अध्याय - (८)

सुधारात्मक प्रयास

धर्म केवल बौद्धिक चिन्तन एवं तर्क की वस्तु मात्र नहीं है। वह आचरण और प्रत्यक्ष साक्षात्कार का विषय है। अतः प्रत्येक वाह्य क्रिया का सम्बन्ध अन्तस्तल के गहन गह्वर के साथ रहता है। मूर्ति पूजा एवं तीर्थाटन जैसी वाह्य धार्मिक क्रियाओं का सम्बन्ध भी चित्तवृत्ति की शुद्धि, अन्तःकरण की निर्मलता और हृदय की उदात्त वृत्तियों को प्रस्फुटित एवं विकसित करने से जुड़ा हुआ है।

डा० सर्वपल्ली, राधाकृष्णन के शब्दों में—"प्रत्येक धर्म सिद्धान्त, उपासना और आचार का एक जीवित ऐक्य होता है।"[1] जब कभी इन तीनों में अन्तर आ जाता है। तभी कथनी एवं करनी में एकता नहीं रह जाती और धर्म आडम्बर का रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसा कर्म जिसके द्वारा अन्तस्तल की वृत्तियों का परिष्कार न हो और ऐसा ज्ञान जो कर्म में परिणत न किया जाय तो वह धर्म नहीं आडम्बर कहा जता है एवं वह ज्ञान वाणी-विलास भर बन कर रह जाता है। कर्मकाण्ड सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिये एवं धर्म कार्य रूढी के रूप में पालन किये जाने लगते है। व्यवहार में धर्म-कार्य और उत्सवादि बड़े धूम-धाम से मनाए जाते हैं, परन्तु धर्म-भावना व सच्ची धार्मिकता का लोप-सा हो जाता है।

---

१. भारत और विश्व पृ० १३४

इस प्रकार किये जाने वाले धर्म कार्यों एवं दिखाऊ धर्माचरण से न तो इस लोक में सामाजिक अभ्युदय ही होना सम्भव है और न ही परलोक में वह निःश्रेयश सिद्धि का कारण बन सकता है। ऐसे समय में आम तार्किक लोग धर्म को समाज के लिये अनावश्यक एवं निरर्थक बता कर नास्तिक बन जाना अधिक पसन्द करता है, परन्तु महापुरुष धर्म परिष्कार व समाज सुधार की ओर प्रवृत्त होते हैं। सुधारात्मक प्रवृत्ति वाले इन महापुरुषों का स्वर बड़ा ओजस्वी एवं तेज होता है। इनका प्रयास सिद्धान्त, उपासना एवं आचार के मध्य उत्पन्न खाई को पाट कर एक सच्ची धर्म भावना और आध्यात्मिकता को पुनः स्थापना करने का होता है। क्योंकि धर्म मात्र रूढिगत कृत्य एवं दिखाऊ आचरण मात्र नही है। इसी तरह धर्म ईश्वर का सैद्धान्तिक ज्ञान मात्र नही हैं। पुनः डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के शब्दों में—"धर्म तो एक आध्यात्मिक साधना है.... मनुष्य के जीवन की परिपूर्णता उस आध्यात्मिक अनुभव में होती है, जिसमें मनुष्य के अस्तित्व का प्रत्येक पहलू चरम उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है, जिसमें समग्र चेतना केन्द्रीभूत हो जाती है और समग्र बुद्धि एक लघु क्षण में अनिर्वचनीय बातों को ग्रहण कर लेती है। तब आत्मा की लालसा और प्रेम, उसकी इच्छा और चिन्ता, उसके प्रयत्न और विचार परमात्मा से व्याप्त हो जाता है, यद्यपि इसका वाणी और मन से प्रकाशन नहीं हो सकता। यही धर्म है। इसके बारे में तर्क करना धर्म नही है।"[१]

रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रवर्तकाचार्यों का उद्देश्य भी धर्म के इस आध्यात्मिक पक्ष को ही प्रकाश में लाना था। वे उस धर्माचरण के पक्षधर थे, जो आध्यात्मिक चेतन तत्व का दर्शन कराने में समर्थ हो। अतएव जब इन महात्माओं ने देखा कि पावन सलिला पुण्य सरिताओं में स्नान कर तन शुद्धि तो तत्परता से की जाती है, परन्तु

१. भारत और विश्व पृ० १०६

मन को निर्मल बनाने का कोई प्रयास नहीं किया जा रहा है। वह तं काम, क्रोध; लोभ, मोह, मद एवं मत्सर आदि दोषों से विकृत हो क दुर्गन्ध छोड़ रहा है। अतः उन्हें विवश हो कहना पड़ा :—

"गंगा न्हाया रामदास, सब ही धोया तन्न।
न्हाया धोया यूं ही रह्या, लागे ऊहोज मन्न॥

भावार्थ यह कि तन शुद्धि के साथ ही साथ मन शुद्धि भी आवश्यक है। चित्तवृत्ति को निर्मल बनाए बिना देह निर्मल बना देना मात्र धर्म नहीं कहा जा सकता। यहाँ इन महात्माओं का आग्रह गंगा स्नान का खण्डन करना नहीं जान पड़ता परन्तु मन को निर्मल और राग-दोष से रहित बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है।

धर्म आचरण में उतर कर ही लोक कल्याणकारक हो सकता है। केवल कहने-सुनने मात्र से इस लोक में अभ्युदय एवं परलोक में निःश्रेयस सिद्धि नहीं हो सकती। भला कौन धर्मज्ञ इस तथ्य से इन्कार कर सकता है? शायद आधुनिक समाज सुधारक भी इस बात से सहमत होंगे कि सामाजिक उन्नति के लिये व्यक्ति की 'कथनी' और 'करनी' में एकता होना आवश्यक है। आदर्श और नैतिकता की बातें करना और आचरण द्वारा उससे सर्वथा विपरीत कार्य करके स्वार्थसिद्धि में लिप्त रहकर कौन व्यक्ति समाज, राष्ट्र अथवा देश का उत्थान करने में समर्थ हुआ है? ऐसे बगुले भक्तों को चुनौति देना कम साहस का काम नहीं है।

'कथनी तो घहौंती कथं, रहणी रंच न काय।
रामदास रहणी बिना, कैसे मिले खुदाय॥

×　　×　　×　　×

'रामदास पण्डित कथा, वाचे करे विचार।
अर्थ बतावे और कूं, आपा सूझ न सार॥

उपर्युक्त शब्दों द्वारा आचार्यों ने आदर्श और आचर
द्धान्त तथा व्यवहार में एकता स्थापित करने की आवश्यकत
पादन किया है। प्रायः हमारे आदर्श तो बहुत ऊँचे रहे हैं,
सामाजिक व्यवहार में हमने उन्हें कितना अपनाया है या आचरण
उन्हें कितना आत्मसात कर पाए हैं? यह किसी से छिपा हुआ
है। इस पोल को केवल वही खोल सकता है, जिनका अपना कोई सा
जिक अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता है। इन महात्माओं
समाज सुधार एवं लोकहित के लिये निर्भीक हो कर इसका
उद्घाटन किया है।

मूर्ति पूजा का खण्डन सुधार का प्रयास:—

जप, तप, तीर्थ एवं मूर्ति पूजा आदि धर्म के बाह्य उपादान
। ये अपने आप में साध्य नहीं अपितु भगवद् भक्ति एव
त्मसाक्षात्कार या ब्रह्म प्राप्ति अथवा निर्वाणरूपी लक्ष्य को प्राप्त
ने के साधन मात्र है। अतः वे आध्यात्मिक साधना की
म्भिक अवस्था में अनिवार्य हो सकते हैं। कारण कि
से सूक्ष्म की ओर बढ़ने की यही गति है। परन्तु कोई
ों को ही साध्य मान बैठे तो कहाँ की बुद्धिमत्ता होगी? इस
बात को एक सुन्दर रूपक दे कर आचार्य श्री ने यों प्रकट
किया है:—

'जप तप तीर्थ रामदास, सब ही फूल समानि।
फल रूपी हरि भगत है, सो तो बिरला जानि॥
फल पाया अब जानिये, फूल गया कुमलाय।
रामदास आंधो जगत, फूलों रह्यो लुभाय॥

धर्म के इन बाह्य उपादानों का साधन करते-करते
ा जीवन व्यतीत हो गया, परन्तु न आत्मबोध ही हो सका
न ही 'हरिभगत' ही बन पाया। यहाँ हरिभगत का अर्थ

सांख्य योगनिष्ठा से सम्पन्न ऐसे भक्त से है, जो सर्वत्र उस 'विभु' परब्रह्म को ही देखता है। अतः जप, तप, तीर्थ तथैव मूर्ति पूजा तो फूलरूपी है, उस फूल की सार्थकता तभी है, जबकि सांख्य योगनिष्ठा युक्त भक्तिरूपी फल की प्राप्ति हो । जब हम फल उपलब्धि के अपने मूल उद्देश्य को विस्मृत कर फूलों के सौन्दर्य पर ही लुभा कर लक्ष्य से भटक गये तब उन महात्माओं ने हमें अपनी भूल सुधार के लिये प्रेरित किया ।

'कै तो पूजे पत्थर को, कै जल पूजण जाय ।
रामा साहिब घट्ट में, ताकूं लखे न काय ॥

भावार्थ यह कि सर्वभूत प्राणियों में एक ही आत्मा है, ऐसा समझ कर दया, करुणा, सेवा एवं बन्धुत्व के भावों को विकसित किये बिना मात्र जल अथवा मूर्ति पूजा को ही धर्माचरण मान लेने की लोक प्रचलित दम्भ प्रवृत्ति का खण्डन किया है। इतना ही नहीं धर्म के नाम पर अनेक देवी-देवताओं को पशु बलि देने की प्रथा भी प्रचलित थी। कोई भी सच्चा धार्मिक व्यक्ति धर्म ही के नाम पर अकारण की जाने वाली इस जीव हिंसा को स्वीकार नहीं कर सकता। धर्म की इस विद्रूप दशा पर आचार्य श्री दयालजी महाराज ने इन शब्दों में क्षोभयुक्त आश्चर्य प्रकट किया है ।

'दाहत है हरि के किये, आप किये को पूज ।'

अतः इन आचार्यों ने समाज को धर्म का सच्चा मार्ग दर्शाया। घट घट में व्यापक प्रभु को ही सच्चा देव बता कर दया, करुणा, सेवा, बन्धुत्व एवं प्रेम तथा समत्वभाव को विकसित करने का उपदेश दिया :—

'साईं साचा देव है, घट घट रह्या बिराज ।
रामदास ताकूं भजो, सो सबका महाराज ॥

इस साखी का अर्थ केवल योग साधना द्वारा आ
करने की ओर प्रवृत्त करना मात्र नहीं लिया जा सकता।
जिन आचार्य श्री रामदासजी म० ने कुष्ठ रोग से पीड़ित
को स्वय सेवा-सुश्रूषा की और श्री दयालदासजी ने विक्रम
१८६९ के महाकाल के समय क्षुधार्थ लोगो की सेवा में अपना
अन्न कोठार ही लुटा दिया, उनके द्वारा प्रयुक्त 'घट घट में
विराज' की सेवा करने का केवल सीमित अर्थ लेना समीच
प्रतीत नहीं होता। यहाँ इसका तात्पर्य जन-सेवा तथ पीड़ितों
मदद करना है।

मूर्ति पूजा, तीर्थाटन एवं देव-दर्शन के माध्यम से यदि
व्यक्ति का हृदय विशाल, उदात्त व छल-कपट से शून्य नहीं हो
तो इनसे न तो आध्यात्मिक सिद्धि ही सम्भव है और न ही इनकी
कोई सामाजिक उपादेयता ही कही जा सकती है। अतः मूर्ति
जब अपने इष्टदेव की प्रतीक मात्र न रह कर उपासना का
सर्वस्व तथा सारतत्व बन गयी और जप-तप अपने आप में स्वयं
साध्य एव धर्माचरण का आदि व अन्त बन गया। मन्दिरो मे
देव-दर्शन करते करते जब व्यक्ति सर्वभूतप्राणियो मे अपने इष्टदेव
के दर्शन करने की भावना को विकसित करने में असमर्थ रह
गया। तीर्थाटन मात्र पर्यटन या भ्रमण का रूप लेने लगा, तब इन
महात्माओ ने तीर्थाटन और मूर्ति पूजा आदि को धर्माचरण नह
अपितु धर्माचरण का आडम्बर कह कर उनकी कटु आलोचना की है।

यहाँ इन महापुरुषो का अभिप्रेत किसी मत अथवा
र्शन का खण्डन या मण्डन करने का नहीं था, अपितु दम्भाचरण
वं आडम्बरों मे धर्म को मुक्त कर उसे आत्म संस्कारात्मक
प्रदान करना था। धर्माचरण की एक ऐसी परम्परा विकसित
ना था, जो जाति, वर्ण या वर्ग विशेष या उसके वर्गहित
व से सम्बद्ध न हो कर मानव समाज में एकता, प्रेम तथा

बन्धुत्व के भावों को विकसित करे। यही कारण था कि इन महान् आचार्यों ने परलोक में नहीं अपितु इस लोक में रहते हुए जीवन मुक्त होने का प्रचार-प्रसार किया।

पूर्वाग्रह से मुक्त लोकहित ही मुख्य उद्देश्य :—

रामस्नेही सम्प्रदाय की साधना पद्धति में हमें किसी प्रकार का पूर्वाग्रह, एकांकी साधना पद्धति अथवा नियमों की कठोरता के दर्शन नहीं होंगे। ज्ञान, कर्म एवं योग सहित भक्ति का भी अपनी साधना पद्धति में सुन्दर समन्वय किया है। इसी प्रकार सगुण और निर्गुण मतों का भी हमें सुन्दर समन्वय मिलता है। निर्गुण मत प्रधान सम्प्रदाय होते हुए भी अवतारवाद की निन्दा नहीं की गई है। जैसा कि संतमत के अन्य प्रवर्तकों के साहित्य में पाया जाता है।

वस्तुत: इन आचार्यों ने किसी मत अथवा सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में ख्याति प्राप्त करने का लोभ नहीं किया। यही कारण है कि प्रथम एवं द्वितीय आचार्य श्री जयमलदासजी एवं श्री हरिरामदासजी महाराज ने अपने जीवन काल में आचार्य पीठस्थान तथा आचार्य गद्दी की प्रस्थापना नहीं की। बहुत कुछ अनुनय-विनय-पूर्वक सम्प्रदाय संचालन के भार से मुक्त रहने की इच्छा व्यक्त करने के पश्चात् तृतीय आचार्य श्री रामदासजी महाराज ने सम्प्रदाय के मत व उपदेशों के प्रचार-प्रसार का उत्तरदायित्व श्री हरिरामदासजी महाराज के विशेष आग्रह के कारण स्वीकार किया और उन्हीं की आज्ञा से खेड़ापा ग्राम में आचार्य पीठ व आचार्य गद्दी के स्थापित करने हेतु राममहोला रामधाम भवन का निर्माण करवाया।

ये आचार्य आध्यात्मिक साधना के सच्चे जिज्ञासु एवं पहुँचे हुए महात्मा थे। अत: इनकी साधना पद्धति में किसी प्रकार की संकुचित मनोवृत्ति या किसी मत विशेष के प्रति आग्रह अथवा आचरण में तनिक भी आडम्बर के दर्शन नहीं होते।

इन महात्माओं ने सर्वाधिक जोर आध्यात्मिक साधना की पवित्रता एवं आचरण की पावनता पर दिया। श्रेय सम्पादन के सुगम तथा सर्वसुलभ पथ का प्रतिपादन किया। कारण, विश्व कल्याण करना ही उनका उद्देश्य रहा है। इसीलिये किसी विशिष्ट मत अथवा पद्धति का अवलम्बन न करके सब मत मतान्तरों से मुक्त रह कर जहाँ तक सम्भव हुआ, उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया। फलतः आध्यात्मिक साधना और धर्मानुष्ठान किसी वर्ग विशेष की थाती न रह कर चतुर वर्ण, आश्रम एवं गृहस्थ तथा त्यागी और बाल-वृद्ध सभी स्त्री-पुरुषों के लिये सुलभ बना दिया गया।

ये उदार महात्मा प्राणी मात्र का कल्याण करने की उदात्त भावनाएँ ले कर अवतरित हुए थे। इसीलिये धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में फैले हुए मिथ्याचार, आडम्बर, तांत्रिक उपासना, वामाचार और रिद्धि-सिद्धियों एवं 'परचों' की सर्वोच्चता को समाप्त करने की दिशा में सर्व प्रथम कदम उठाया। तंत्र साधना और योग मार्ग से प्राप्त होने वाली विभिन्न सिद्धियों को आध्यात्मिक साधना व अध्यात्म मार्ग की बाधक एवं निस्सार बताकर और व्यवहारिक लोक जीवन के लिये घातक बताकर अन्ध विश्वासों तथा भ्रमों में भटकने वाले लोगों को सत्पथ का दर्शन करवाया। अपने अनुयायियों को इन सब से दूर ही रहने का आदेश दिया।

धर्म एवं साधना पथ का विशुद्धिकरण करने के लिये तत्कालीन समाज में प्रचलित निहित स्वार्थों से जूझना पड़ा। इन महात्माओं ने धर्म एवं साधना के नाम पर जहाँ कहीं तनिकसा भी आडम्बर देखा उसका उन्मूलन करने का प्रयास किया। उन्हें यह देख कर बड़ी पीड़ा होती थी कि कुछ लोग धर्म की आड़ में स्वार्थ सिद्धि करने में लगे हुए हैं। अन्धविश्वासों के शिकार लोगों को देख कर उनकी आत्मा तड़प उठती थी।

धार्मिक जीवन के लिये सच्चरित्रता, भावों की पवित्रता बाह्याडम्बरों का अभाव एवं रानत भगवच्चरणों में सच्ची अनुरक्ति को आवश्यक मानकर उन्हें प्राथमिकता देते थे। लोक प्रसिद्धि से स्वयं दूर रह कर भ्रामक भीरुता, मिथ्या प्रपंच आदि का खण्डन किया और उपनिषदों के एकेश्वरवाद अथवा ब्रह्म चिन्तन एवं शुद्ध आचरण करने में निमग्न रहे। अपने अनुयायियों को भी ऐसा ही करने का उपदेश दिया।

इन महात्माओं का दृढ मत था कि चाहे कोई कितना ही 'कोटि कोटि रिद्धि सिद्धि कमावे, कोटि कोटि उड़ता वहु गड़िता' हो, यह सब लोक कल्याण में बाधक और जनसामान्य के लिये अनुपादेय एवं आत्मकल्याणेच्छु भक्त के लिये विघ्नरूप है। अतः उनकी इन महात्माओं ने भर्त्सना की है। सादा जीवन, सादी साधना पद्धति एवं शुद्ध चिन्तन-मनन को सामाजिक जीवन के लिये लाभप्रद बना कर उसका समर्थन व प्रचार किया। बिना किसी प्रपंच तथा आडम्बर के केवल शुद्ध चिन्तन व पवित्र कर्म और पावन आचरण से सहज में ही साईं (निर्गुण ब्रह्म) के दर्शन सम्भव है। ऐसा प्रतिपादित किया:—

'रामदास या सहज में समझे नहीं संसार।
सहजां सूं साईं मिलै, ऐसा सहज विचार॥'
'सहजां सहजां सब मिटिया मान, बड़ाई काम।
रामदास सहजां मिल्या, अपना आतम राम॥'
[सहज का अंग]

जिस समय समाज में बहुदेव पूजा, भूत, प्रेत व पीतर पूजा को ही धर्म माना जाता था। पंचपीरोपासना का जोर था। दूसरी तरफ योगी पूर्ण समाधि की अवस्था को पहुँचने के पूर्व ही योगजन्य विभिन्न अनुभूतियों को समझे बिना ही साधना की इतिश्री करके जगत्पूज्यता के जंजाल में फंस जाता था। मन्त्र,तन्त्र,

एवं पंचपीरों को ही परमेश्वर माना जाता था और धर्म का कोई शुद्ध स्वरूप समाज के समक्ष नहीं था। उस समय इन महात्माओं ने इन समस्त प्रपंचों की असारता व उनके खोखलेपन का उद्घाटन करते हुए सात्विकता और आडम्बर शून्यता को व्यावहारिक रूप प्रदान कर उसे लोक कल्याणार्थ प्रसारित किया। साधना की सरलता, राममंत्र का स्मरण करना, गुरुभक्ति एवं सर्वयोग समन्वय करना इसी बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

सारांशतः सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में इस सम्प्रदाय की जो देन है, उससे मानव समाज का अधिकतम श्रेय सम्पादन हुआ है। अपनी अद्भुत समन्वय क्षमता के कारण अन्यान्य सन्त मत एवं सगुणवादी वैष्णव सम्प्रदायों में इस सम्प्रदाय का विशिष्ट स्थान है। अस्तु।

समाप्तोऽयं साधना खण्डः।

श्री हरिरामदासजी महाराज कृत

रेखता

अगम अगाद मैं ग्यांन पोथी पढ्या,
भरम अग्यांन कुं दूरि डार्‌या।
नांव निरधार आधार मेरे भया,
गहर गुमांन मन मोह मार्‌या॥
तीन चक चूरि अर, चित चौथे गया,
नाभ असयांन धुनि धमकारा।
सास उसास मैं वास त्रिभै कीया,
रमि रह्या एक आतम यारा॥
सहज मैं सांम सुष रास असैं मिळ्या,
रूम मैं रूम ररंकार जागे।
दास हरिरांम गुरुदेव परताप तैं,
हदि कुं जीत वेहद लागे॥१॥

× × × × ×

प्रथम गुर ग्यांन दासतन वंदगी,
सील संतोष लुध दीन यारा।
राग अर दोष तिहुं ताप मन तैं तजै;
झूठ अर कपट सुं रहत न्यारा॥
एक अभ्यास दिल आस नहीं दूसरी;
ब्रह्म का ध्यांन मन सुरति सेती।
जोग जिग दांन तप नेम तीरथ व्रत,
तुल्य तिह लोक नहीं नांव जेती॥
भरम कुं भांजि कूट करम कुं काट करि,
साहि समसेर सत सबद सूरा।
दास हरिरांम कहै दिल दिवांण मैं,
राज सोई करत है संत पूरा॥

॥ श्री रामगुरुदयालवो विजयन्ताम् ॥

इतिहास खण्ड प्रारम्भः

*

नवाँ अध्याय - (९)

□ □ □

तीन रामस्नेही सम्प्रदाय

उत्तरी भारत में भक्तिरस की जो धारा सूर, तुलसी एवं
त आदि भक्तों के साथ विकसित हुई, वह अठारहवीं शती के अन्त
चलती रही। कबीर ने निर्गुण भक्ति धारा का नेतृत्व किया।
तः इस समय और कुछ परवर्ती काल में कबीर पंथ के अतिरिक्त
दू, निरंजनी एवं रामस्नेही सम्प्रदाय आदि कई पंथ व सम्प्रदायों
प्रादुर्भाव हुआ।

यदि हम गम्भीरता पूर्वक तत्कालीन धार्मिक तथा
सामाजिक स्थिति पर दृष्टिनिक्षेप करें तो यह प्रभिगोचर होगा कि
निर्गुण मत का प्रारम्भ एकमात्र सामाजिक सुधार एवं धार्मिक
पुनर्जागरण था। यह धार्मिक रूढ़ियों, वामाचारों और धार्मिक अन्ध
विश्वासों का उन्मूलन कर धर्म को उसके सही अर्थों में पुनः स्थापित
करना चाहता था ये संत धर्म के नाम पर की जाने वाली यान्त्रिक
पूजा, नाम मात्र के तीर्थाटन, एवं धार्मिक वामाचार तथा तांत्रिक
सिद्धाई की अपेक्षा विशुद्ध तथा सरल आचरण व भगवच्चरणों में अनन्य
अनुराग रूपी भक्तियुक्त आत्म निवेदन करने में अधिक विश्वास
करते थे। इसी धार्मिक सच्चाई के प्रचार-प्रसार हेतु इन महात्माओं

ने अपना जीवन लगा दिया। रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्यों एवं संत महात्माओं की विशद अनुभव वाणी इस बात के साक्षीभूत प्रमाण है।

राजस्थान में रामस्नेही नाम से तीन सम्प्रदाय विद्यमान है—१, श्री सिंहथल-खेड़ापा २, रैंण तथा ३. शाहपुरा। इनके प्रवर्तक आचार्य एक ही शताब्दी में कुछ समयान्तर से हुए हैं और स्वतन्त्र रूप से अपनी अपनी साधना पद्धति का प्रचार किया। इनके आविर्भाव काल, साधना पद्धति, उपदेश शैली और वाणी साहित्य में इतना अधिक साम्य अभिलक्षित होता है कि इनको एक दूसरे से पृथक् करना प्राय: कठिन प्रतीत होता है। परन्तु इन सम्प्रदायों की भिन्न-भिन्न आचार्य परम्पराएँ एवं ऐतिहासिक परम्परा है। प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्यों का पृथक्-पृथक् वाणी साहित्य का विपुल भण्डार पाया जाता है। प्रत्येक सम्प्रदाय के अलग-अलग सद्गृहस्थ अनुयायी देश के कोने-कोने में पाए जाते है। इनमें पारस्परिक वैमनस्यता के कहीं दर्शन नही होते। वे एक दूसरे को सम्मान व प्रतिष्ठा प्रदान करने में ही प्रसन्नता का अनुभव करते प्रतीत होते हैं।

रैंण रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रवर्तकाचार्य श्री दरियावजी महाराज ने विक्रम सम्वत् १७६६ में दीक्षा ग्रहण की और रैंण में ही विराज कर अपने उपदेशों का प्रचार करने लगे। अतः यह ग्राम आपके सम्प्रदाय का आचार्यपीठ है और रैंण रामस्नेही सम्प्रदाय कहलाता है।

श्री रामचरणजी म० शाहपुरा रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं। आपकी दीक्षा विक्रम सम्वत् १८०८ में श्री कृपारामजी से सम्पन्न हुई, जो श्री संतदासजी महाराज के शिष्य व गद्दीधर थे। दीक्षोपरान्त रामचरणजी कुछ समय तक भीलवाड़ा में विराजे परन्तु वि० सं० १८२६ में शाहपुरा में विराजने लगे और वहीं पर रहते हुए निर्गुण रामभक्ति का प्रचार किया। अतः आप ही

मे इस सम्प्रदाय का उद्गम माना जाता है। इसी शाहपुरा ग्राम मे वि० सं० १८५५ में इनका देहावसान होने पर इनके आचार्य पीठ भवन का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ और प्रधान शिष्य गद्दीधर उत्तराधिकारी हुए। अतः यह शाहपुरा रामस्नेही सम्प्रदाय के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

श्री सिंहथल-खेडापा रामस्नेही सम्प्रदाय के मूल आचार्य श्री जयमलदासजी म० हैं। आप श्री रामानन्द सम्प्रदायान्तर्गत सगुणोपासक महापुरुष थे। आपका जन्म अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बीकानेर रियासत के सांवतसर गाँव में एक बढ़ई परिवार हुआ था। सम्भवतः वि० सं० १७४०-४५ के मध्य आपने कोड़मदेसर यत 'रावत' वैष्णव सम्प्रदाय के महन्त श्री चरणदासजी से दीक्षा हण की थी। आप अपने गाँव सांवतसर में श्री गोपालजी के ान्दिर की पूजा किया करते थे और 'श्रीगीता' व 'भागवत' आदि ान्थों की कथा करना व उपदेश देना यह आपकी दिनचर्या थी। परन्तु एक घटना ने आप को इस दिनचर्या एवं सगुणोपासना विधि को तत्काल बदल दिया।

एक दिन मध्याह्न में जब आप श्रीमद् भगवद्गीता की श्री गोपालजी के मन्दिर में कथा कर रहे थे, तब एक गूदड़ स्वामी राहगीर के रूप में वहाँ पधारे। उन्होने आपसे जल पिलाने को कहा और तदोपरान्त अगले गाँव का मार्ग पूछने के बहाने वह गूदड़ स्वामी श्री जयमलदासजी को गाँव के बाहर ले गये। वहाँ एकान्त पा कर उस गूदड़ स्वामी ने आपको निर्गुण 'राम' मंत्र की दीक्षा प्रदान की और वहीं अन्तर्ध्यान हो गये। इस तरह सगुणोपासना की परिपक्वता पर उस परब्रह्म परमात्मा ने स्वयं एक गूदड़ स्वामी का रूप धारण कर आपको दर्शन दिये और उस दिन वि० स० १७६० में उसी गूदड़ स्वामी के रूप में उस परात्पर परब्रह्म परमात्मा ने आपको निर्गुण 'राम' मंत्र का उपदेश दे कर योगसहित नाम मंत्र की विधि समझाई।

तभी से आप सगुणोपासना से विरत हो गये और अपने शेष जीवन को निर्गुण-निराकार, शब्द ब्रह्म 'राम' की योगविधि सहित अनन्यभाव से उपासना करने में लगा दिया।

'तज्यो सगुण निर्गुण अधिकारी।'[1]

निर्गुण 'राम' मंत्र की दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त आपने सगुणोपासक रामानन्द सम्प्रदाय से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर दिया और मन्दिर पूजा, कथावाचन तथा गीता पाठ करने के बजाय केवल निर्गुण ब्रह्म की आत्मपूजा, नामस्मरण एवं शब्द रूप ब्रह्म और परब्रह्म की उपासना करने का प्रचार-प्रसार करने लग गये।

'भेष पंथ का संग तजि दीया।
होय निरन्तर हरि पद लीया॥'[2]

इससे पूर्व सगुणोपासना के समय में आपके जो शिष्य हुए वे अब भी सगुणोपासक है और रामानन्दी सम्प्रदाय में वैरागियों के महन्त कहलाते हैं। दुलचासर एवं रोड़ा में उनकी दो गद्दिएँ हैं, जिनमें रोडा की गद्दी पर तो कोई महन्त नहीं हैं, परन्तु दुलचासर की गद्दी पर अब भी महन्त परम्परा विद्यमान है।

सगुण ईश्वर से निर्गुण ब्रह्म की ओर प्रवृत्त होने के पश्चात् आपके जो शिष्य हुए वे 'रामस्नेही' कहलाए और उनके द्वारा जिस मत का प्रचार-प्रसार किया गया वह रामस्नेही सम्प्रदाय कहलाता है। आपके प्रधान शिष्य श्री हरिरामदासजी महाराज थे, जो सिंहथल (बीकानेर) में रह कर साधना तथा उपदेश किया करते थे। उनके प्रधान शिष्य श्री रामदासजी महाराज हुए, जिनके द्वारा इस सम्प्रदाय का विस्तार हुआ और रामस्नेही सम्प्रदाय को

१. श्री राम० परची पृ० १६
२. वही पृ० १७

शास्त्रीय आधार, राजमान्यताएँ एवं लोकप्रियता प्राप्त हुई। आपने श्री गुरुदेव की आज्ञा से जोधपुर राज्यान्तर्गत खेड़ापा ग्राम में सम्प्रदाय का पीठ एवं आचार्य गद्दी को स्थापित किया।

इस प्रकार "रामस्नेही सम्प्रदाय के मूल मंत्र प्रदाता श्री जयमलदासजी ही है।"[1] और "यह स्वयं सिद्ध है कि रामस्नेही सम्प्रदाय के मूल आचार्य श्री जयमलदासजी महाराज है। परन्तु इस सम्प्रदाय का विराट रूप श्री रामदासजी महाराज से ही प्रकट होता है।"[2]

यह भी "स्पष्ट है कि श्री 'राम' मंत्र के प्रतिष्ठापक आचार्य द्वयों के होते हुए भी लोक कल्याणार्थ जो कार्य श्री रामदासजी महाराज कर पाये, वह अन्य आचार्य समर्थ होने पर भी नहीं कर सके।"[3]

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज ने भी सिंहथल खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय को श्री जयमलदासजी म० की शाखा (सम्प्रदाय) बताया है:—

"राम नाम प्रताप थिन, जैमल शाखा बिस्तरी।"[4]

अर्थात् रामनाम स्मरण के प्रताप फलस्वरूप श्री जयमलदासजी महाराज द्वारा सगुणोपासक रामानन्दीय सम्प्रदाय से पृथक् निर्गुण सम्प्रदाय रूपी सिंहथल-खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय का विस्तार हुआ।

आद्याचार्य रामस्नेही कौन ?

श्री सिंहथल-खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक आचार्य श्री जयमलदासजी म० का निर्गुण रामभक्ति धारान्तर्गत

---

१. श्री जयमलदासजी म० के पद — हस्तलेख।
२. श्री रामस्नेही मत दिग्दर्शन पृ० १२.
३. वही पृ० १७.
४. श्री दयाल० करुणासागर।

दीक्षा काल विक्रम सम्वत् १७६० है, जो रैण और शाहपुरा रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य श्री दरियावजी महाराज के दीक्षा काल वि० सं० १७६६ एवं रामचरणजी महाराज का दीक्षा काल वि० सं० १८०८ से पूर्व का ठहरता है । अतः कालक्रम एवं ऐतिहासिकता के आधार पर यह सम्प्रदाय राजस्थान में प्रचलित तीनों रामस्नेही सम्प्रदायों का पूर्ववर्ती सिद्धि होता है। यही कारण है कि यह सम्प्रदाय 'श्री मदाच रामस्नेही' नाम से जाना जाता है।

इस सम्प्रदाय का यह ऐतिहासिक नाम प्रचलन में आ जाने का एक और भी कारण है । वह यह कि श्री दरियावजी महाराज तथा श्री रामचरणजी महाराज ने अपनी साधना व उपदेश भूमि के मुख्य गाँव को ही आचार्य पीठ व आचार्य की गद्दी स्थापित करने हेतु चुना और उसके उत्तराधिकारी उसी ग्राम में आचार्य पद पर गद्दीसीन हुए । अतः इन सम्प्रदायों का नामकरण स्थान के आधार पर 'रैण-रामस्नेही' और 'शाहपुरा-रामस्नेही' हो गया ।

जहाँ तक श्री सिंहथल-खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय का प्रश्न है, इसका इतिहास उनसे सर्वथा भिन्न रहा है। इस सम्प्रदाय के मूल आचार्य श्री जयमलदासजी म० का उपदेश-स्थल रोडा एवं दुलचासर ग्राम है। उनके प्रमुख उत्तराधिकारी श्री हरिरामदासजी म० ने अपनी साधना व उपदेश सिंहथल ग्राम (बिकानेर) में किया। परन्तु उन्होंने अपने समर्थ एवं योग्य शिष्य श्री रामदासजी म० को सम्प्रदाय का प्रचार व प्रसार करने हेतु खेड़ापा ग्राम (जोधपुर) में सम्प्रदाय का पीठ भवन बनाने और सम्प्रदायाचार्य की गद्दी स्थापित करने का आदेश प्रदान किया। फलतः ऐसा ही हुआ। अतः यह विचारणीय है कि क्या अन्य दो सम्प्रदायों के अनुकरण पर इस सम्प्रदाय का नामकरण स्थान विशेष के आधार पर किया जा सकता है ? खेड़ापा अथवा सिंहथल-खेड़ापा

स्नेही सम्प्रदाय कह देने पर केवल अधूरी ऐतिहासिकता का
बोध होता है क्योंकि इस सम्प्रदाय की परम्परा श्री जयमलदासजी
राज तक जाती है और वस्तुतः वे ही सम्प्रदाय के मूल आचार्य
। खेड़ापा के रामस्नेही परम्परा से ही अपने सम्प्रदाय के मूल
वार्य श्री जयमलदासजी महाराज को ही मानते हैं, इसलिये
य पूजा-पाठ में पंचवाणी की अनिवार्यता है, जिसके अन्तर्गत
जयमलदासजी महाराज से श्री पूरणदासजी महाराज तक के
व आचार्यों की चुनी हुई अनुभव-वाणी का पाठ तथैव उनके
देशों का पारायण एवं चिन्तन-मनन किया जाता है। अतएव
सम्प्रदाय का नाम 'श्रीमदाद्य रामस्नेही' एक ऐतिहासिक तथ्य है।

नादि' शब्द नातनता का तीतक है :—

श्री जयमलदासजी महाराज द्वारा प्रवर्तित इस रामस्नेही सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों ने अपनी अनुभववाणी में अपने मत को 'अनादि' बताया है। अतएव ये आचार्य अपने आपको
मस्नेही धर्म के सृष्टा नहीं अपितु दृष्टा मानते है। 'अनादि'
ल से प्रचलित इस रामस्नेह धर्म का उपदेश स्वयं उस परात्पर
गुण परब्रह्म ने गुदड़ स्वामी का रूप धारण कर श्री जयमलदासजी
हाराज को दिया। अतः यह रामस्नेह धर्म सनातन है और
पने इसी मत को अभिव्यक्त करते हुए आचार्यों ने अपने वाणी
हित्य में 'आदि' 'परापरायण' एवं 'सद्गुरु तें सद्गुरु परिपाटी'
दि विविध शब्दों का प्रयोग किया है।[1]

वाणी साहित्य मे इस प्रकार के शब्दो की बाहुल्यता का
भिप्रेत है कि 'रामस्नेह धर्म' सनातन धर्म का ही एक अभिन्न अंग
। हिन्दुओं का यह विश्वास है कि उनके धर्म का प्रवर्तक कोई
रुष नहीं है। वह अनादि एवं वेदोक्त है। वेद अपौरुषेय माने

1. श्री दयालदासजी — गुरुप्रकरण परचो।

जाते हैं, जो सृष्टि के पूर्व और पश्चात् भी विद्यमान रहते हैं। अतः धर्म की 'सत्ता' भी इसी तरह सृष्टि के उद्भव के पूर्व, विकासक्रम में एवं उसके लय होने के बाद भी स्थिर रहती है।

रामस्नेही सम्प्रदाय भी उसी 'अनादि' सनातन धर्म के अन्तर्गत होने के नाते वेदोक्त (शास्त्र सम्मत) एवं शाश्वत है। वैष्णव धर्म के सब सम्प्रदायाचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिख कर अपने मत व दर्शन को वेदोक्त एवं शास्त्र सम्मत बताते हुए उसकी 'सत्ता' को स्वय के पूर्व भी विद्यमान होना सिद्ध करने का प्रयास किया है। ठीक इसी प्रकार 'राम' की निर्गुण भाव से भक्ति करने व योग विधि सहित रामनाम-स्मरण करने का तत्व भी सर्दव से विद्यमान रहा है और उसके उपासक तथा साधकों की परम्परा पुराणादि ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। आचार्यों ने इस परम्परा का निर्देश करते हुए यह सिद्ध किया है कि 'राम' की निर्गुण भाव से भक्ति करना एवं 'राम' नामस्मरण को उपासना पद्धति में सर्वोच्च स्थान देना पूर्णतया शास्त्रविहित एवं सनातन है।

सनातन धर्म सत्ता के किसी तत्व का प्रचार-प्रसार जब कम पड़ जाता है, अथवा वह लोपप्राय हुआ जान पड़ता है, तब कोई न ,कोई महापुरुष उसका पुनरुद्धार करके प्रकाश में लाते है। अतः लोपप्राय मत को सर्व जनहितार्थ प्रकट करने वाला ही उस मत का द्रष्टा एवं प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। विशेष प्रचार प्रसार हो जाने पर उस आचार्य के अनुयायी एक सम्प्रदाय का रूप धारण कर लेते हैं। ठीक ऐसे ही योग विधिसहित रामनाम स्मरण का रहस्य गूदड़ स्वामी ने जब से श्री जयमलदासजी पर प्रकट किया तभी से वे इस रामस्नेह धर्म के द्रष्टा एवं मत के प्रवर्तकाचार्य माने गये। उनके परवर्ती आचार्यों के द्वारा इस मत का विशेष -प्रसार होने से कालान्तर में इसने एक सम्प्रदाय का रूप धारण ्लिया। अतः 'आदि' परा 'परायण' शब्द एक ओर रामस्नेह मत

सनातन धर्म से सम्बद्ध करते हैं और निर्गुण भाव से 'राम' भक्ति व योग विधि सहित नामस्मरण के अस्तित्व को स्वयं के भी विद्यमान होना सिद्ध करते है। दूसरी ओर 'सद्गुरु से (रु'[1] शब्द इस सम्प्रदाय के आचार्यों की परम्परा श्रीजयमलदासजी राज से जोड़ते हैं।

इस तरह 'श्रीमदाद्य रामस्नेही' वाक्यांश इस सम्प्रदाय के हास, धार्मिक विश्वास [कि धर्म सनातन है] एवं सम्प्रदाय की परा को एक ही साथ अभिव्यञ्जित करता है।

रैण रामस्नेही सम्प्रदाय और शाहपुरा रामस्नेही सम्प्रदाय गुरु परम्परा परस्पर सम्बद्ध है। रैण रामस्नेही सम्प्रदाय के र्तकाचार्य श्री दरीयाव साहब संत प्रेमदास (खियांसर– बीकानेर) शिष्य थे और शाहपुरा रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रवर्तकाचार्य रामचरणजी संत कृपाराम (दाँतड़ा—भीलवाड़ा के समीप मेवाड़ ग्यान्तर्गत) के शिष्य थे। ये संत प्रेमदास एवं संत कृपाराम नों ही दांतड़े के रामानन्दीय वैरागी स्वामी संतदास के शिष्य थे। । कृपाराम को सन्तदास के पुत्र और शिष्य दोनों ही माना जाता ।[2] संत कृपाराम तो दाँतड़े में संतदास के गद्दीधर हुए और संत दास बीकानेरी में आ कर तपश्चर्या एवं साधनालीन हुए।

दाँतड़े के संतदास श्री अग्रदास (रैवासा) के शिष्य थे। ० शिवशंकर पाण्डेयने अग्रदासजी को रामानन्दीय सम्प्रदाय की धुर्य भक्ति शाखा के प्रथमाचार्य माना है।[3] अतः ये सगुणोपासक ं सीताराम के अनन्य भक्त थे। संतदास का इन्हीं के शिष्य ं रामानन्दीय सम्प्रदाय की वैरागी दाँतड़ागद्दी के होने से गुणोपासक वैरागी होना सिद्ध होता है।

. वही।
. रामस्नेही सम्प्रदाय की दार्शनिक पृष्ठभूमि ७६.
. वही पृ० ७६.

श्री भावनादासजी ने संतदास के तीन नाम बताये हैं—

श्री संतदास महाराज को, तीन नाम जन जान।
'रे ररंकारी' कोई कहत है, कोई 'गूदड़' कहत बखान॥
'संतदास' तृतिये कहै, करनो सन्त सुजान॥[1]

संतदासजी को आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी गूदड़ पंथ का प्रवर्तक आचार्य माना है।[2] स्वयं संतदास ने अपने गुरुदेव से 'राम' नाम की दीक्षा प्राप्त होना लिखा है:—

संतदास हमकूं दिया, राम नाम तत् सार।
ले पहुंचाया मुक्ति कूं, यह सतगुरु का उपकार॥
(गुरुदेव को अंग-साखी ६)

इस अन्तः साक्ष्य के उपरान्त भी यह प्रसिद्ध है कि संतदास के गुरु श्री अग्रदास माधुर्य भाव की सगुण भक्ति के उपासक और सीता राम के भक्त थे, अतः उन्होंने संतदास को निर्गुण भक्ति और योगविधि सहित 'राम' नाम की साधना की दीक्षा नहीं दे कर उन्हें सीता राम की सगुण उपासना में दीक्षित किया था। सम्भव है, सीता राम की सतत 'रट' लगाने के कारण इनको 'रे ररंकारी' नाम से पुकारा जाने लगा हो। इन्हीं के कुछ शिष्य गूदड़भेषधारी हुए होंगे, जिससे ये गूदड़ पंथ के प्रवर्तक आचार्य कहे गये हैं। शाहपुरा रामस्नेही शाखा के प्रवर्तकाचार्य श्री रामचरणजी ने भी श्री संतदासजी के शिष्य कृपारामजी से दीक्षा लेने के उपरान्त गूदड़भेषधारण किया था। ये गले में गूदड़ी और हाथ में हांडी रखते थे एवं भिक्षान्न से निर्वाह करते थे।[3] श्मशान भूमि में निवास करने और श्मशान जगाने की साधना भी किया करते थे।[4]

---

१. श्री दरियाव म० की अनुभववाणी पृ० २५.
२. उत्तरी भारत की संतपरम्परा पृ० ६७७.
३. श्री रामस्नेही सम्प्रदाय पृ० ११.
४. रामस्नेही सम्प्रदाय की दार्शनिक पृष्ठभूमि पृ० ८४

विक्रम सम्वत् १८१५ में[1] गलते के प्रसिद्ध मेले के अवसर पर सम्भवतः इनके विचित्रभेष और श्मशान जगाने की अटपटी साधना के कारण अन्य रामानन्दीय वैरागी साधुओं से इनका मतभेद हो जाने से ये वृन्दावन की ओर चल पड़े। मार्ग में निर्गुण 'राम' शब्द के उपासक साधुओं से इनकी भेंट और सत्संग हुई होगी, जिससे ये रामस्नेही साधना की ओर उन्मुख हो गये। इस सम्बन्ध में डा० शिवाशंकर पाण्डेय ने लिखा है — "कहा जाता है कि रास्ते में एक संत ने इन्हें रामस्नेही कह कर पुकारा और प्रेरणा दी कि वह सगुण साकार उपासना की ओर न जाकर राजस्थान में निर्गुण राम भक्ति का प्रचार करके लोगों का उद्धार करें और इसके पश्चात् वह साधु अदृश्य हो गये। इससे इन्हें ऐसा लगा कि यह निश्चय ही सारंगपाणी नारायण है; जिन्होंने साधु रूप में दर्शन देकर आनन्दित किया है।"[2]

यह घटना विक्रम सम्वत् १८१६-१७ की मानी जा सकती है। अतएव श्री रामचरणजी का निर्गुण राम भक्ति में प्रवृत्त होने का समय भी इनका दीक्षाकाल वि० सं० १८०८ न मान कर विक्रम सम्वत् १८१६-१७ ही मानना अधिक तर्क संगत है। कहा जाता है कि उपर्युक्त घटना के पश्चात् श्री रामचरणजी ने अपनी वृन्दावन की यात्रा स्थगित कर दी और ये राजस्थान की भूमि पर विचरण करते हुए वि० सं० १८१७ में भीलवाड़ा में आकर स्थायी रूप से निवास करने लगे। यहाँ से ये वि० सं० १८२६ में शाहपुरा पधारे, जहाँ विक्रमी सम्वत् १८५५ की वैशाख कृष्ण पंचमी गुरुवार को वैकुण्ठवासी हुए।

जहाँ तक रैण रामस्नेही सम्प्रदाय का प्रश्न है; इनके प्रवर्तक आद्याचार्य श्री दरियावजी प्रेमदासजी के शिष्य थे। ये

---

१. श्री रामस्नेही सम्प्रदाय पृ० १२.
२. रामस्नेही सम्प्रदाय की दार्शनिक पृष्ठभूमि पृ० ३६

प्रेमदासजी शाहपुरा रामस्नेही सम्प्रदाय प्रवर्तक श्री रामचरणजी म० के गुरु कृपारामजी के गुरुभाई थे। इन दोनों की गुरु परम्परा एक ही होने के कारण यह कहा जा सकता है कि संत प्रेमदास भी प्रारम्भ में सगुणोपासक और सीता राम के भक्त रहे होंगे। परन्तु उपलब्ध वाणी साहित्य से इनका निर्गुण 'राम' भक्ति के साधक होना सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में डा० शिवाशंकर पाण्डेय का विचार है कि—"गुरु की विचारधारा से प्रारम्भ में प्रेमदास भी प्रभावित रहे होंगे। समयानुकूल परिस्थिति के कारण बाद में उन्होने संत रामचरण की भाँति परिवर्तन किया होगा।"[1]

सत प्रेमदास का जन्म खियांणसर (बीकानेर) में वि० सं० १७१६ में और वैकुण्ठवास सं० १८०६ वि० में हुआ। इन्होने वि० सं० १७४६ में संतदास से सगुणोपासक वैरागी रामानन्दीय सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी। परन्तु दीक्षोपरान्त कितने काल पश्चात् और किस कारण से ये निर्गुण 'राम' शब्द के उपासक बने यह निश्चित नहीं है। यह सम्भव है कि जब श्री जयमलदासजी म० वि० सं० १७६० में गूदड स्वामी से उपदेश ग्रहण कर निर्गुण 'राम' भक्ति की ओर उन्मुख हुए तब प्रेमदासजी उनके सम्पर्क में आए हों एवं वे भी योगविधि सहित 'राम' नामस्मरण के पथिक बन गये हों। इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, परन्तु इतना प्रसिद्ध है कि श्री जयमलदासजी और प्रेमदासजी दोनों ही रामानन्दीय वैरागी गद्दीधरों के शिष्य एवं स्वयं भी सगुणोपासक वैरागी थे। द्वितीय; दोनों ही भूतपूर्व बीकानेर रियासत के निवासी थे। इस प्रकार की सन्निकटता ही इन दो महापुरुषों के मिलन की सम्भावना को जन्म देती है। अतः अन्य पुष्ट प्रमाणों के अभाव में संत प्रेमदास का निर्गुण भक्ति एवं 'राम' नाम के स्मरण की ओर उन्मुख होना विक्रम सम्वत् १७६५–७० के मध्य माना

---

१. वही पृष्ठ ८३

जा सकता है। इसी समय संत दरियाव साहब विक्रम सम्वत् १७६६ में इनसे दीक्षित हुए; जिनसे रैण रामस्नेही सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का मानना है कि संत प्रेमदास दादूपंथी थे।[1] परन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि ये दादूपंथी नहीं थे। ये रामानन्दीय सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इसमें यह सम्भावना अवश्य ही प्रकट की जा सकती है कि सगुण सीता राम की माधुर्यभाव की भक्ति से निर्गुण 'राम' शब्द की साधना की ओर उन्मुख होने में संत जयमलदास से सम्भावित मिलन के अतिरिक्त निर्गुण मतावलम्बी दादूपंथियों की सत्संग एवं साहचर्य की प्रमुखता रही होगी। जिससे वय की दीर्घायु में इनकी साधना में यह परिवर्तन कब हुआ यह निश्चित नहीं है। अतः सर्व प्रकारेण विचार करने पर योगविधि सहित निर्गुण 'राम' नाम रूप शब्द ब्रह्म की साधना करने वाले सर्वप्रथम मूल आचार्य श्री जयमलदासजी महाराज हुए है। इन्हीं के आदेश से श्री हरिरामदासजी महाराज ने उनके मत का प्रवर्तन करने के लिये कुल सात साधक तैयार किये, जिनमें से श्री रामदासजी म० को अपना उत्तराधिकारी आचार्य घोषित कर उन्हें खेड़ापा से रामस्नेही सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने की आज्ञा प्रदान की गई। अतएव सिंहथल में श्री हरिरामदासजी म० का स्मारक बना और खेड़ापा में उनके सम्प्रदाय का आचार्यपीठ स्थापित हुआ। स्मारकपीठ के महन्त को भी आचार्य कहा जाता है। वे सम्प्रदायाचार्यपीठ खेड़ापा से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं और रामस्नेही कहलाते हैं। इस प्रकार सिंहस्थल खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय के मूल आचार्य श्री जयमलदासजी महाराज राजस्थान में प्रचलित रैण-शाहपुरा रामस्नेही सम्प्रदाय प्रवर्तकाचार्यों से पूर्ववर्ती होने से यह सम्प्रदाय 'श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय' कहलाता है।

[1]. उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ६६६

❀ ❀ ❀ ❀

दसवाँ अध्याय - (१०)

श्री हरिरामदासजी महाराज

श्री जयमलदासजी महाराज को रामानन्दीय बैरागी सम्प्रदाय में सगुण मंत्र की दीक्षा वि० सं० १७४०-४८ के मध्य हुई और पुनः वि० सं० १७६० में श्री गूदड़ स्वामी से निर्गुण 'राम' मंत्र की दीक्षा प्राप्त हुई। तभी से आप अपने पूर्व सम्प्रदाय की सगुणोपासना का परित्याग कर निर्गुण भक्ति का प्रचार करने लगे। आपके निर्गुण मत में दीक्षित होने के पश्चात् जो शिष्य हुए उनमें श्री हरिरामदासजी महाराज प्रमुख थे। आपने वि० सं० १८०० की असाढ़ कृष्णा त्रयोदशी को श्री जयमलदासजी महाराज से दीक्षा ग्रहण की थी और गुरु महाराज ने अपने गाँव सिंहथल में ही निवास करते हुए उपदेश देने की आज्ञा दी थी।

जग में बहुत जीव चेतावो, घर बैठा हरि के गुण गावो।
स्वामी ऐसो आज्ञा किन्हीं, जब सेवक मस्तक धर लोन्ही॥'

इन शब्दों द्वारा श्री जयमलदासजी महाराज ने साम्प्रदायिक आडम्बर किये बिना ही सच्ची निर्गुण 'राम' भक्ति का उपदेश करने और समर्थ एवं योग्य साधक तैयार करने की आज्ञा प्रदान की प्रतीत होती है। अतएव आप मतमतान्तरों एवं सैद्धान्तिक वाद-विवादों से ऊपर उठ कर तत्व चिन्तन एवं अहर्निश रामनाम स्मरणपूर्वक योग समन्वित निर्गुण राम की भक्ति साधना तथा उपदेश करने लगे। थोड़े

ही समय में आपकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक हो गई और कई सद्गृहस्थ तथा विरक्त जिज्ञासु आ कर आपसे उपदेश ग्रहण करने लगे। आपने अपने उपदेशों को अनुभव वाणी के रूप में प्रकट किया, जो आज भी तत्व चिन्तकों, जिज्ञासुजन एवं साधकों के मार्ग-दर्शन के लिये अनुपमेय मानी जाती है। आपकी यह अनुभव-वाणी 'श्री हरिरामदासजी महाराज की अनुभव-वाणी' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत है। इनका मुख्य स्वर समाज सुधार अन्ध विश्वासों व कतिपय रूढ़ियों का खण्डन है। आपने साधनाजन्य अनुभूतियों का भी वर्णन किया है, इनमें 'घघर-निसाणी' तो योग साधना का एक अनुपम ग्रन्थ समझा जाता है।

आपकी अनुभव-वाणी ग्रन्थ की भूमिका स्वरूप लिखे गये 'वाङ्मुख' में यह मत व्यक्त किया गया है कि—'सिंहथल "रामस्नेही सम्प्रदाय" का आविर्भाव श्री हरिरामदासजी से ही माना जाता है।'[1] इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद होना सम्भव है क्योंकि इसी पुस्तक के वाङ्मुख में उन्हें केवल तत्व चिन्तक व आत्मसाधक मनीषी के रूप मे मत तथा पंथ आदि से निर्लिप्त रहने वाले साधक भी बताया गया है। अतएव 'श्री हरिरामदासजी महाराज की अनुभव-वाणी' जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ में आपश्री के जीवनवृत के सम्बन्ध में अन्तर्विरोधों का पाया जाना कुछ शकाओं को जन्म देता है और हमारे सम्मुख कुछ प्रश्न चिह्न उभर आते हैं। इनमें से प्रथम, यह कि क्या श्री हरिरामदासजी महाराज मत प्रवर्तक मूल आचार्य है? और द्वितीय, क्या उन्होने 'सिंहथल रामस्नेही सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया है?

किसी नवीन मत, सिद्धान्त अथवा साधना पद्धति का मूल प्रतिपादक अथवा द्रष्टा ही मत प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। इस दृष्टि से रामस्नेही साधना पद्धति के द्रष्टा और प्रथम उपदेशक श्री जयमलदासजी म० ही है, अतएव उन्हे इस सम्प्रदाय के मूल मंत्र प्रदाता अथवा मूल आचार्य माना गया है। श्री

१. श्री हरिरामदासजी म० की वाणी — वाङ्मुख पृ० २१.

हरिरामदासजी ने इसी रामस्नेही साधना पद्धति एवं निर्गुण 'राम' भक्ति का उपदेश श्री जयमलदासजी महाराज से प्राप्त किया। इसलिए आप गुरुपदिष्ट साधना पद्धति के प्रचारक आचार्य हुए। उपदेश दे कर संसारी जीवों का उद्धार करने को आपको श्री गुरुदेव ने आज्ञा दी थी। यहाँ यह स्पष्टव्य है कि श्री जयमलदासजी महाराज मूल मत प्रवर्तक आचार्य अवश्य है, परन्तु उनके द्वारा किसी सम्प्रदाय की प्रस्थापना नहीं की गई थी। यह कार्य उन्होने 'जग में बहु जीव चेतावो' कह कर अपने प्रधान शिष्य श्री हरिरामदासजी महाराज को सौंप दिया प्रतीत होता है। अतएव यहाँ पर उनकी शिष्य परम्परा का उल्लेख करना आवश्यक है, जिससे यह स्पष्ट किया जा सके कि क्या उन्होंने 'रामस्नेही सम्प्रदाय' का प्रचलन किया था ?

श्री हरिरामदासजी महाराज के कुल सात शिष्य थे। प्रथम श्री विहारीदासजी महाराज, जिनका देहान्त उनके जीवन काल में ही हो गया था। दूसरे श्री रामदासजी महाराज हुए, जो खेड़ापा पीठ के संस्थापक एवं श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय के तृतीय आचार्य के रूप में प्रसिद्ध है। तीसरे चौथे एवं पांचवे श्री नारायणदासजी महाराज, श्री अमीरामजी म० एवं श्री दईदासजी म० थे, जो सिंहथल गुरुधाम में ही जीवन पर्यन्त विराजे। छठे श्री लक्ष्मणदासजी महाराज हुए जो मुलतान में निवास करते थे, परन्तु उनकी कोई शिष्य परम्परा नहीं चली। सातवें श्री आदूरामजी हुए, जिन्होंने अपनी साधना का स्थल लालमदेसर को चुना, परन्तु इनकी शिष्य परम्परा भी केवल तीन पीढ़ी तक ही चल सकी।

इस तरह श्री जयमलदासजी महाराज के मत एवं निर्गुण 'राम' मंत्र की साधना पद्धति का प्रचार प्रसार करने ... श्री हरिरामदासजी महाराज के प्रमुख एवं प्रतापी शिष्य एक श्री रामदासजी महाराज ही हुए हैं। उन्होंने ही इस मत

को पण्डितों के समक्ष शास्त्र सम्मत सिद्ध करते हुए उसे विशद एवं व्यापक बनाया और एक सम्प्रदाय के रूप में संगठित किया।

इसका कारण यह बताया जाता है कि श्री हरिरामदासजी महाराज सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिये स्वयं प्रवृत्त नहीं हुए अपितु अपने प्रधान शिष्य श्री रामदासजी महाराज को ही उन्होंने सम्प्रदाय का विकास तथा विस्तार करने का आदेश एवं आशीर्वाद दिया था।''[1]

श्री हरिरामदासजी म० की अनुभव वाणी के वाङ्मुख में कहा गया है कि — 'अतः ऐसे तत्व विचारक सहज साधक से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वे किसी पंथ का प्रवर्तन करेंगे। किन्तु श्री जयमलदासजी महाराज का ससारी जीवो के उद्धार का आदेश पालन करना भी आवश्यक था।''[2]

स्पष्टतः यह एक विरोधाभास पूर्ण स्थिति है। एक तरफ आप सम्प्रदाय के संकीर्ण घेरे से ऊपर उठ कर साम्प्रदायिक द्वन्दों से मुक्त रहना पसन्द करते हैं तो दूसरी तरफ 'राम' को निर्गुण भक्ति एवं योग सहित नाम स्मरण की पद्धति का प्रचार प्रसार करना भी आवश्यक समझते है। तब श्री हरिरामदासजी महाराज ने इस विरोधपूर्ण स्थिति का समाधान कैसे किया होगा ?

श्री हरिरामदासजी महाराज इस गुत्थी को सुलझाने के लिये बहुत प्रारम्भ ही से सक्रिय जान पड़ते हैं। स्वयं तो एक आत्मसाधक के रूप में ही अवस्थित रहते है[3] परन्तु अपने योग्य शिष्य श्री रामदासजी महाराज को "तिरसो जीव तुम्हारे शरणै" और "दो उपदेश जिज्ञासी आवै" आदि वचन कह कर उन्हे श्री

---

१. हरिरामदासजी म० की अनुभव वाणी पृ० स० ६० पर।
२. वही पृ० सं० ३१ पर।
३. वही पृ० ३२ व ६०।

रामस्नेही मत का प्रचार करने और सम्प्रदाय का संगठन करने हेतु प्रेरित करते हैं। परमधाम पधारने के केवल एक माह एवं अठारह दिन पूर्व रामधाम सेड़ापा के रामसहोला भवन की स्वयं के करकमलों द्वारा नीव रख कर आचार्य पीठ एवं आचार्य गद्दी स्थान के विवाद को भी अपनी दूरदर्शिता से सुलझाते हुए प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त मत की पुष्टि में एक उद्धरण दिया जा सकता है। वह यह कि:—

"सम्भवतः वे श्री रामदासजी महाराज के द्वारा ही इस सम्प्रदाय का विकास और विस्तार होने की आकांक्षा और आशा रखते थे, क्योंकि उस समय में विशेष प्रतिभा सम्पन्न एवं ज्ञानवान तथा तत्वज्ञ साधक उनकी दृष्टि में ये ही रहे होंगे। तथा स्वयं श्रीजी महाराज पंथ और मत आदि से निलिप्त रहना भी अधिक महत्वपूर्ण समझते थे।"[1]

जब श्री हरिरामदासजी महाराज स्वयं पंथ एवं मत आदि से निलिप्त रहना अधिक पसन्द करते थे, तभी तो सम्प्रदाय के उत्तरदायित्वों का वहन स्वयं न करके उसका सारा भार अपने योग्य शिष्य श्री रामदासजी महाराज को 'मण्डलशिरोमणि' एवं 'उत्तम सिख' तथा 'तिरसी जीव तुम्हारे शरणं' और अपना 'एकमेव सखा' [प्रतिनिधि] बताते हुए उन्हें सौंप दिया था।

श्री हरिरामदासजी महाराज की अनुभव वाणी के वाङ्मुख में बार बार यह स्वीकार किया गया है कि १. "ऐसा स्पष्ट लगता है कि उन्हें किसी पंथ या मत का प्रवर्तन करने की इच्छा नहीं थी।' और २. "अतः ऐसे तत्वविचारक सहज साधक से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वे किसी पंथ का प्रवर्तन करेंगे।" एवं

३. "श्रीजी महाराज पथ और मत आदि से निर्लिप्त रहना भी अधिक महत्वपूर्ण समझते थे।" इतना ही नहीं—४. प्रासंगिक रूप में जो उल्लेख है, वे एक आत्मसाधक का रूप निर्दिष्ट करते है।"[1] (सम्प्रदाय के आचार्य का रूप नहीं)

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि श्री हरिरामदासजी महाराज ने सदैव सम्प्रदाय एवं साम्प्रदायिक उत्तरदायित्वों से मुक्त रहना ही पसन्द किया। अन्त: साक्ष्यों से भी वे केवल एक आत्मसाधक मनीषी प्रतीत होते है। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि गुरुदेव श्री जयमलदासजी म० ने निर्गुण 'राम' भक्ति का प्रचार-प्रसार करने की जो इन्हें आज्ञा प्रदान की थी, उसका पालन कैसे किया गया ? फिर आखिर उनके जीवनकाल मे एव तत्पश्चात् इस सम्प्रदाय के उत्तरदायित्वों का वहन किसने किया ?

आचार्यों के वाणी साहित्य का अध्ययन एवं सम्प्रदाय के इतिहास का तर्क संगत विश्लेषण करने के पश्चात् हमारा यह स्पष्ट मत है की हरिरामदासजी महाराज ने बहुत सोच विचार कर अपने मत को सम्प्रदाय के रूप में संगठित करने और उसका प्रचार व प्रसार करने का उत्तरदायित्व अपने किसी अन्य शिष्य को न सौप कर इस कार्य हेतु श्री रामदासजी महाराज को ही अपना एकमेव सच्चा प्रतिनिधि बना कर उन्हें अपने मत व साधना पद्धति का उपदेश करने का आदेश दिया था। इस सम्बन्ध में अगले प्रकरण में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायगा।

---

१. श्री हरिरामदासजी म० की अनुभव वाणी पृ० १२, १३, ६० एव पुनः ३२ पर।

श्री हरिरामदासजी महाराज आपको एक उत्तम साधक, सच्चा भगवद्-चरणानुरागी भक्त एवं सम्प्रदाय का गुरु गम्भीर भार को वहन करने में समर्थ समझ कर सम्प्रदाय के मन्तव्यों का प्रचार-प्रसार करने का आदेश देते हैं। वे उन्हें जिज्ञासु व मुमुक्षुजनों को उपदेश देने एवं दीक्षित करने के लिये भी प्रेरित करते हुए जान पड़ते हैं—

'रामदास उत्तम सिख मेरो, तारण समरथ भगवद्चेरो।
दो उपदेश जिज्ञासु आवें, गुरु पद दरस्यां गुरुपद पावें।।'
(१२/३८)

इन शब्दों द्वारा वे अपने अन्यान्य शिष्यों की तुलना में श्री रामदासजी महाराज को विशेष महत्व देते हुए प्रतीत होते हैं। सम्भव है, भविष्यद्रष्टा इस महापुरुष ने उन्हें ही सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने के योग्य समझा हो। इन शब्दों में अपने मत का प्रचार करने एवं केवल उपदेश करने मात्र का आग्रह नहीं अपितु सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने का आदेश भी है। यही कारण है कि इस गुरु गम्भीर उत्तरदायित्व को स्वीकार करने से श्री रामदासजी महाराज कतराते हुए जान पड़ते हैं—

'रामदास फिर अर्ज कराई, मो निर्बल से बनें न काई।'
(१२/३९)

परन्तु श्री हरिरामदासजी महाराज उनके द्वारा उत्तर-दायित्व से बचने के बहाने को भाप लेते हैं, अतएव वे अपने आदेश को पुनः दोहराते है—

'अटल-थंभ गुरुदेव सहाई, हरिजन देश दिखावो भाई।'
(१२/३९)

इस प्रकार श्री गुरुमहाराज का विशेष आग्रह एवं उनका स्पष्ट आदेश सुन कर श्री रामदासजी महाराज श्री गुरुदेव को

कार्यकारण के कर्ता मान कर और यह समझ कर कि गुरु पद चिह्नों का अनुसरण करने वाला ही सच्चा सेवक होता है, उनके आदेश को स्वीकार कर लेते हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि गुरुदेव समर्थ है, वही परोक्ष रूप से सारे उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने तथा वहन करने की शक्ति प्रदान करेंगे—

> 'कर्ता आप कहा नहीं होई, सदगुरु पद तहँ सेवक सोई।
> समरथ आप निभावन सारो, निरधारां आधार मुरारी॥
> (१२/४०)

श्री रामदासजी महाराज को ही सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने का उत्तरदायित्व सौंप देने हेतु उन्हें किये गये आग्रह व आदेश से ऐसा प्रतीत होता है कि श्री हरिरामदासजी महाराज निश्चित रूप से उनके व्यक्तित्व में अनुपमताकी झांकी पा रहे थे। सम्भवतः उन्होंने यह भी अनुभव किया होगा कि श्री जयमलदासजी द्वारा उपदिष्ट 'राम' नाम की साधना का प्रचार-प्रसार करके जन कल्याण करने में श्री रामदासजी महाराज ही समर्थ होंगे। अतएव जब वे सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने हेतु रामस्नेही मत व साधना पद्धति का प्रचार-प्रसार कर जिज्ञासु जनों को उपदेश व दीक्षित करना स्वीकार कर लेते हैं। उसके बाद के प्रसंगों में वे अपने मन की बात खोल कर बता देते हैं—

> 'श्री गुरु आगम यों मुख वरणे, तिरसी जीव तुम्हारे शरणें॥'
> (१३/१)

अर्थात् इस कलि काल में मानव के कल्याणार्थ जिस तारक बीज मंत्र श्री 'राम' नाम और उसके साधन की योगविधि स्वयं परात्पर परमेश्वर ने गूदड़ स्वामी के रूप में आ कर श्री जयमलदासजी पर प्रकट किया, उसका उपदेश ग्रहण करने के लिये बहुत से लोग तुम्हारी शरण में आयेंगे और उनका इस निर्गुण भक्ति व 'राम' नाम के प्रताप से उद्धार होगा।

अतएव वे एक बार नहीं अपितु बारम्बार कई प्रसंगो पर रा-दुहरा कर सनातन धर्म की अंगभूत इस 'राम' नाम की योग धि सहित साधना का उपदेश करते रहने के लिये श्री रामदासजी ाराज को प्रेरित करते हैं:—

"राम भजन को दो उपदेशा, परापरायण गावत शेषा।"

(१४/५)

एक बार का प्रसंग है कि श्री रामदासजी महाराज हस्थल गुरु महाराज के दर्शनार्थ पधारे हुए थे। वे सायकाल जन समाज से दूर किसी एकान्त स्थल में बैठ कर आत्म-तन व मनन कर रहे थे। इतने में, जब कि आप कुछ नावस्थित हुए तब अकस्मात् उनके समक्ष कोई श्वेत वस्त्रधारी य पुरुष प्रकट हुए और अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में अपने आपको र साहब बताते हुए उनसे ये वचन कहे:—

एक वचन मुख कियो प्रकासा, जार्भा में रहु रामजुदासा।
तनों कहि मे अंतर्धाना, रामदास अचरज मन माना॥

(१७/५)

श्री रामदासजी महाराज को आगन्तुक से यह परिचय कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वे स्वयं कबीर साहब है, परन्तु वह उनसे विशेष वार्तालाप न करके केवल 'जार्भा में रहु रामजुदासा' कर अन्तर्ध्यान हो गये तब उन्हें बड़ा विस्मय हुआ। वे वहाँ से गुरुदेव श्री हरिरामदासजी महाराज के पास गये और श्री कबीर ब के दर्शन होने का वृत्तान्त सुनाते हुए उनके वचनों का यार्थ पूछने लगे। श्री गुरुदेव ने स्पष्ट किया कि 'हे शिष्य रामस्नेही साधकों के समुदाय से घिरे रहोगे और तुम्हारी भक्ति विस्तार होगा':—

रामदास जार्भा में रहिये, अचरज एम अर्थ-किम लहिये।'

(१७/६)

'गुरु हरिराम कह्यो समभाई, जाको सगति भक्ति सवाई।'
(१७/७)

इस प्रकार श्री रामदासजी महाराज ने गुरुदेव के विशेष आग्रह एवं आदेश से और उनकी अपने सम्बन्ध में स्पष्ट भविष्योक्ति सुन कर उपदेश तथा दीक्षा दे कर सम्प्रदाय को विशद रूप देने का निश्चय कर लिया। आप 'रामभक्ति' का प्रचार-प्रसार करने का दृढ संकल्प धारण कर गुरु आज्ञा का मनन करते हुए एक दिन सीलवे ग्राम में पधारे। प्रभात के समय स्मरण, ध्यान एवं आत्म-चिन्तन करने के उपरान्त आगन्तुक दर्शकों को उपदेश करने लगे। उस समय उन्हें ऐसी स्पष्ट वाणी गम्भीर स्वर में सुनाई दी:—

"रामदास पंथ चले तुम्हारो; सत्य वचन यह सदा हमारो।'
(१७/११)

अर्थात् 'हे रामदास तुमने गुरु आदेश को स्वीकार कर शुभ कार्य किया है। अब उसे कार्यान्वित करने में विलम्ब मत करो। क्योंकि श्री जयमलदासजी महाराज ने जिस 'राम' नाम स्मरणपूर्वक साधना पद्धति का प्रवर्तन किया उसे श्री हरिरामदासजी महाराज ने प्रयोगात्मक रूप दे कर पुष्ट कर दिया है, अब वह समय आ गया है जबकि जन — कल्याणार्थ तुम इसे प्रसारित करो। इस सम्बन्ध में यदि तुम्हें कोई संशय हो तो उसे दूर कर लो और मेरे इस वचन को सत्य मानो कि यह रामस्नेह मत तुम्हारे द्वारा ही 'रामस्नेही सम्प्रदाय' का रूप धारण करेगा, जो तुम्हारे नाम से ही जाना जायगा।'

इन वचनों से यह स्पष्ट है कि श्री हरिरामदासजी महाराज ने अपनी सप्त शिष्य मण्डली में से आपको 'शिरोमणि' संज्ञा से [illegible] कर उन्हें इस मण्डली में श्रेष्ठत्व प्रदान किया। फिर

म्प्रदाय के मन्तव्यों का प्रचार प्रसार करने व उपदेश दे कर
क्षित करने का अधिकार दिया गया। तत्पश्चात् उनके द्वारा लोक
ल्याण सम्पन्न होने और सदैव 'रामस्नेह भक्तो' से घिरे रहने
आशीर्वाद दिया गया। फिर हम यह उल्लेख पाते हैं कि 'आकाश–
णी'; जिसे उपस्थित समुदाय ने भी सुना, ऐसी जनश्रुति है,
रा श्री गुरुदेव के, वचनो की पुष्टि और उनसे रामस्नेही सम्प्रदाय
प्रवर्तन होने की भविष्य वाणी की गई। फलतः पूर्व के दो
चार्यों के होते हुए भी रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्य एव प्रवर्तक
रूप में सर्वाधिक प्रसिद्धि आपकी ही हुई।

श्री रामदासजी महाराज द्वारा प्रवर्तित यह सम्प्रदाय
ापा-रामस्नेही सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अतएव
त से लोग व कुछेक साहित्यकार भी इनकी गुरुगद्दी सिंहथल को
एक अलग सम्प्रदाय मानने लग गये हैं और श्री जयमलदासजी
राज के बजाय श्री हरिरामदासजी म० को ही इस 'सिंहथल खेड़ापा'
स्नेही सम्प्रदाय के मूल आचार्य और आदि सम्प्रदाय प्रवर्तक
ते हैं। हमारे विचार से किसी मत व सिद्धान्त का अकस्मात
र्भाव नहीं होता बल्कि उसका शनैः शनैः विकास होता है।
इसी तरह उस मत के आधार पर बनने वाले सम्प्रदाय की
चारिक प्रतिष्ठा होने के पूर्व भी उसकी ऐतिहासिक परम्परा
करती है। अतएव श्री जयमलदासजी म० को इस सम्प्रदाय
पा) के मूल मंत्र प्रदाता आचार्य, श्री हरिरामदासजी महाराज
मत प्रवर्तक आचार्य एवं श्री रामदासजी महाराज को सम्प्रदाय
क एवं मत प्रतिष्ठापक आचार्य माना जाना चाहिए। जिन
त्यकारों ने इस सम्प्रदाय को 'सिंहथल-खेड़ापा' के युग्म शब्दों द्वारा
धित किया है, उनका संकेत इसी ऐतिहासिक विकास-क्रम
ओर है।

लोक समाज द्वारा श्री रामदासजी म० को ही खेड़ापा
नेही सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक आचार्य समझा जाता है

परन्तु प्रबुद्ध साहित्यकारों द्वारा भी ऐसा ही मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता। इस सम्बन्ध में सम्प्रदाय के विद्वान् संत पंडित श्री उत्साहरामजी प्राणाचार्य का यह कथन उद्धृत करना पर्याप्त होगा यथा:—

"रामस्नेही सम्प्रदाय के मूल आचार्य श्री जयमलदासजी म० है। परन्तु इस सम्प्रदाय का विशद रूप श्री रामदासजी म० से ही प्रकट होता है। अतः प्रमुख स्थान विश्व प्रसिद्ध आचार्य श्री रामदासजी महाराज को प्राप्त है। इसी कारण से श्री रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य (प्रथम आचार्य) के रूप में जितनी श्री रामदासजी म० की प्रसिद्धि हुई, उतनी अन्य आचार्यों की नहीं। इसमें यह निदर्शन दिया जा सकता है — जैसे कि श्री वैष्णव सम्प्रदाय में श्री रामानुजाचार्य स्वामी के पूर्ववर्ती अनेक प्रवर्तकाचार्य एवं आचार्य श्री शठकोप स्वामी आदि के होते हुए भी जो स्थान श्री रामानुजस्वामी को प्राप्त है, वह अन्यों को नहीं। इसी तरह श्री रामस्नेही सम्प्रदाय में भी श्री रामदासजी म० को प्रधान स्थान प्राप्त है। इन्हीं को श्री रामस्नेही सम्प्रदाय के आदि-प्रवर्तक एवं आविर्भावक आचार्य सर्व साधारण द्वारा समझना कोई अनुचित नहीं है।"[1]

श्री जयमलदासजी महाराज द्वारा प्राप्त निर्गुण भक्ति का प्रचार करने और रामस्नेही सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने का उत्तरदायित्व श्री हरिरामदासजी महाराज ने अपने प्रधान शिष्य श्री रामदासजी महाराज को ही सौंपा था। इस बात की पुष्टि आप द्वारा दिये गये अन्तिम उपदेश से भी होती है।

भक्ति तत्त्व भर भार, मरजीवा गुरु रामदास।
आगे पंथ अवतार, हंस वंश तारण सकल॥

---

१. श्री रामस्नेही धर्म दिग्दर्शन पृ० ११-१६

अर्थात् श्री हरिरामदासजी महाराज अन्त समय में अपने शिष्य श्री नारायणदासजी म० आदि को सम्बोधित करके उन्हें आश्वस्त करते हुए कहते हैं कि — "हे शिष्यों मैंने अपने भक्ति पंथ का भार (सम्प्रदाय का प्रवर्तन व संचालन करने का कार्य) जीवन-मुक्त (मरजीवा) एवं उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों का भार वहन करने योग्य (धुर या धुर्य)[1] श्री रामदास को सौंप दिया है क्योंकि वह साक्षात् परब्रह्म का अवतार है और सकल प्राणी (जीव) का उद्धार करने में समर्थ है।"

"हरिसर सिख के माँहि, गुरु प्रभाव पीज्यो सदा।
कारज इनमें याँहि, नाहिन दुःख उपजै कदा॥
निजपुर हरि जातांह प्रसन्न हुय उद्धव कह्यो।
शब्द ब्रह्म सायांह, कलेवर हित करज्यो मती॥

अर्थात् 'हरि भक्ति का सरोवर शिष्य के हृदय में ही प्रकट होता है। अतः सब चिन्ताओं से मुक्त हो कर (सम्प्रदाय के उत्तरदायित्व की चिन्ता किये बिना) श्री गुरुमहाराज के प्रभाव से तुम उसका निरन्तर पान करते रहना, इसी में जीवन की सफलता है, ऐसा समझ कर कभी दुःख मत करना। (१) जहाँ तक मेरे पार्थिव शरीर के वियोग का प्रश्न है, उसके मोह के कारण भी दुःख या चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। इसमें श्री कृष्ण और उद्धव का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि अपने परम धाम प्रस्थान करने के पूर्व श्री कृष्ण ने भी उद्धव को यह उपदेश दिया था कि केवल शब्द ब्रह्म के रूप में सदैव मैं तुम्हारे पास हूँ। अतएव हे शिष्यों तुम भी ऐसा ही निश्चय कर मेरे पांच भौतिक शरीर के मोह व वियोग जन्य दुःख का परित्याग करो।"

"मैं ये रामदास, सत्ता एक मेरो यहीं।
धीरज ज्ञान प्रकास, हरिदेवो होसी इसो॥

---

1. संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ, प्रथम संस्करण १९२८ पृ० ४०७.

अर्थात् श्री हरिरामदासजी महाराज प्रथम गा
कही गई बात की पुन: पुष्टि करते हुए कहते हैं, कि '
श्री हरिदेवदास आगे चल कर महान् धैर्यवान एवं ज्ञान
होगा, परन्तु श्री रामदास साक्षात् मैत्रेय ऋषि सदृश हों
कारण वह यहाँ पर एक मात्र मेरा सखा है ।"

भावार्थ यह है कि जिस प्रकार मैत्रेय ऋषि
भगवान् कृष्ण के गोलोक गमन करने पर उसके उपदेश व तेज
को धारण कर लोक कल्याणार्थ प्रसारित किया, ठीक इसी
श्री रामदासजी म० को भी उन्होंने अपना तेज-तत्व और उप
को धारण करके उसका प्रचार-प्रसार करने वाला कहा है 'स
शब्द समवयस्कता (यहाँ पर तप: एवं ज्ञान वय) का बोधक
साथ ही समानता का भी । अतएव यहाँ पर श्री रामदास
महाराज को अपना एकमेव सखा बता कर श्री हरिरामदासजी
महाराज ने उन्हें सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने वाला आचार्य माना है।

इस प्रकार श्री नारायणदासजी, जो सदैव उनके निकट
रहने और योग्यपात्र होने के कारण श्री हरिरामदासजी म० के उत्तरा-
धिकारी समझे जाते थे, उन्हें स्पष्टतः आचार्यपद ग्रहण करने से मना
कर दिया गया । इस तथ्य की पुष्टि श्री 'हरिरामदासजी म० की
परचो' नामक ग्रन्थ से भी होती है । वह इस प्रकार कि श्री हरिराम-
दासजी महाराज निर्वाणपद प्राप्त करने के पन्द्रह दिन पूर्व जीवित
महोत्सव का आयोजन करते हैं । इस आयोजन से एक माह एवं
तीन दिन पूर्व वे खेड़ापा जाकर वहाँ वर्तमान आचार्यपीठस्थल के भवन
की नींव रखते हैं । सम्भवत: इस महोत्सव के समय उन्होंने श्री राम-
दासजी म० को अपना उत्तराधिकारी आचार्य बनाने की भी घोषणा
की होगी । यही कारण है कि आयोजन की समाप्ति पर जब सब
विसर्जित हो जाते है एवं श्री रामदासजी म० भी खेड़ापा लौट जाने की
आज्ञा माँगते हैं, तब श्री हरिरामदासजी म० उन्हें वहाँ रुकने का आदेश

देते हैं, क्योंकि इस आयोजन की समाप्ति के ठीक पन्द्रह दिन पश्चात् श्री हरिरामदासजी म० ने अपने देहावसान की घोषणा की थी; अतएव पूर्वाचार्य का देहावसान होने पर उत्तराधिकारी आचार्य का वहाँ विधिवत् गद्दीसीन होना आवश्यक है। तथैव वहाँ पर उनकी उपस्थिति भी अनिवार्य है।

श्री हरिरामदासजी महाराज के इस आग्रह के प्रत्युत्तर में सम्भवतः श्री रामदासजी म० ने यह कहा होगा कि श्री हरिरामदासजी म० जिस स्थान एवं भवन में रहते हैं, वह उनकी वंशपरम्परा का घर है। उत्तराधिकारी आचाय यदि उस स्थान पर आचार्य पद ग्रहण करते हैं, तो वह स्थान सम्प्रदाय के आचार्यपीठ के रूप में प्रयुक्त होने लगेगा। फलतः उस भवनादि धरोहर के जो वंश परम्परागत वारिस हैं, उन्हें उससे वंचित रहना पड़ेगा। यह एक अन्याय होगा। अतएव उत्तराधिकारी आचार्य को (श्री रामदासजी म० को) पूर्व योजनानुसार खेड़ापा ही से अपना कार्यारम्भ करना उचित होगा। इस प्रत्युत्तर से श्री हरिरामदासजी म० संतुष्ट हो गये एवं श्री रामदासजी म० को खेड़ापा लौट जाने एवं सिंहथल में श्री गुरुदेव के ब्रह्मलीन होने के समय उपस्थित नहीं रहने की आज्ञा प्रदान कर दी गई।

'रामदास जब मांगी आज्ञा, सागत जांन गुरां की जाग्या।
स्वामी कह्यो रहो तुम याहीं, इन कारण जब ठहरे नाहीं ॥'

इस आग्रह के पीछे स्पष्टतः उनका भाव छिपा हुआ है कि होत्सव के समय सम्प्रदाय का गठन व प्रचार-प्रसार करने हेतु श्री रामदासजी म० का उनके द्वारा जो चयन हो चुका है, वे इससे ठीक न्द्रह दिन पश्चात् स्वयं द्वारा निर्वाणपद प्राप्त कर लेने पर (जिसकी पूर्व घोषणा कर चुके थे) विधिवत् गद्दीसीन हो उनका उत्तराधिकार ग्रहण करें। परन्तु 'सागत जान गुरां की जाग्या' अर्थात् इस समय

श्री हरिरामदासजी महाराज की परची।

पहले पहल श्री रामदासजी म० ने अपने आपको सम्प्रदाय के
के पद पर (गुरां की जाग्या) जाना या समझा (जान) और
के उत्तरदायित्वों को (जिसमें निर्माणाधीन आचार्यपीठ भवन भी
लित है) अनुभव किया (लागत = लगना, अनुभव करना) भो
खेड़ापा जा कर यथाशीघ्र कार्यान्वित करने का संकल्प लिया।
श्री गुरुदेव भी उनसे सहमत हुए होंगे और श्री रामदासजी
खेड़ापा जाने की तत्काल आज्ञा प्रदान कर दी गई होगी।

यदि 'गुरां की जाग्या' वाक्यांश का दूसरा 'श्रीगुरु
घर' जैसा सीधा अर्थ ग्रहण किया जाय तो भी उपर्युक्त तर्क
अन्तर पड़ता प्रतीत नहीं होता क्योंकि उस समय तक न तो स
बना था और न ही आचार्यपीठ (सिंहथल में) स्थापित हुआ
अतएव श्री रामदासजी म० ने सम्प्रदाय के उत्तरदायित्वों को
करना स्वीकार कर लेने के उपरान्त भी पूर्व निश्चय के
खेड़ापा से हो सम्प्रदाय का प्रवर्तन करना उचित समझा और वह
स्थान (सिंहथल) श्री गुरुदेव का वंश परम्परा का घर होने के नाते
उनके पोते श्री हरिदेवदासजी म० के लिये स्वेच्छा से छोड़ना पसन्द
किया होगा, जिनकी वय उस समय केवल दस वर्ष की थी। इस पर
भी श्री गुरुदेव का सहमत होकर उन्हें खेड़ापा लौट जाने की आज्ञा
प्रदान कर देना उचित एवं स्वाभाविक हो प्रतीत होता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि सिंहथल जो उनकी तपोभूमि
और उपदेश का स्थल है, वहाँ से वे श्री रामदासजी महाराज (खेड़ापा)
से भिन्न सम्प्रदायाचार्य के उत्तराधिकार की परम्परा प्रचलित करना
नहीं चाहते थे। यही कारण है कि अपने अन्तिम उपदेश में 'भक्ति
तणो भरभार' कह कर श्री नारायणदासजी म० को आचार्य परम्परा
प्रचलित करने से निषेध किया। पुनः 'मंत्रेय रामादास' नामक साखी
में इसकी पुष्टि करते हुए कहा कि यद्यपि आगे चलकर 'हरिदेव' भी
..., परन्तु यहाँ पर मेरे पश्चात् सम्प्रदाय के आचार्य तो

केवल श्री रामदासजी ही है । अतएव श्री हरिदेवदासजी म० को भी सम्प्रदाय का प्रचलन करने का निषेध किया प्रतीत होता है।

अतः महोत्सव के पश्चात् श्री रामदासजी म० को सिंहथल के बजाय खेड़ापा से सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने की आज्ञा प्रदान कर दी गई होगी और आचार्य का विधिवत् उत्तराधिकार ग्रहण करने की रस्म अदा करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई होगी क्योंकि पूर्वाचार्य (श्री हरिरामदासजी म०) ने उत्तराचार्य (श्री रामदासजी म०) को अपने जीवन काल में ही अपना उत्तराधिकार सौंप दिया था। पुनः अपने इस कार्य पर संतोष व्यक्त करते हुए श्री नारायणदासजी म० एवं श्री हरिदेवदासजी म० को भी यद्यपि सम्प्रदाय और उसके उत्तराधिकार की परम्परा का प्रचलन करने का निषेध कर दिया था। परन्तु उस स्थल से स्वयं उनकी स्मृति भी विलोपित हो जाय, ऐसी उनकी इच्छा नहीं रही होगी। वे अवश्य ही यह चाहते रहे होंगे कि उस स्थल पर उनका कोई स्मृतिस्वरूप स्मारक बनाया जाय और उसका सरक्षण हो। यह तथ्य निम्नलिखित उद्धरण से सिद्ध होता है :

नारायण आज्ञा आदि, इन संज्ञा रहिजे यहां।
दासासेव समादि, भक्ति प्रेम सुमिरण सदा॥

अर्थात् 'हे नारायण ! यह मेरी आदि (खास) आज्ञा समझना कि तुम इस शरीर पर्यन्त (इन संज्ञा) यानी इस पचभूत शरीर की 'नारायण' संज्ञा पर्यन्त यहाँ रहना और यहाँ पर आने वाले भक्तों (दासा) को और समादि (स्मारक) की सेवा करते हुए योग सहित रामस्मरण (सुमिरण) एवं प्रेमाभक्ति (भक्ति प्रेम) की साधना करना।"

'परम्परा से 'इन संज्ञा' का अर्थ दिव्यभाव से रहने का लिया जाता है' एवं श्री हरिदेवदासजी म० को होनहार बताना उन्हें सिंहथल में अपना उत्तराधिकारी बनाने का संकेत समझा

जाता है । परन्तु यह मान लेने की कोई गुंजाइश प्रतीत नहीं होती कि सर्व प्रकारेण योग्य शिष्य श्री नारायणदासजी म० को 'इन संज्ञा' शब्दों द्वारा शिष्य भाव से रहने की आज्ञा दे कर अपने पोते एवं प्रशिष्य मात्र दस वर्ष के बालक श्री हरीदेवदासजी म० को कोई विशेष महत्व देने की इच्छा श्री हरिरामदासजी जैसे महापुरुष के हृदय में रही होगी । फिर सम्प्रदाय की बागडोर श्री रामदासजी म० को सौप कर जब वे स्वयं सन्तुष्ट है जो 'भक्ति तणा भरमार' साखी से व्यञ्जित है, तब इन संज्ञा शब्द का अर्थ 'शिष्य भाव' उचित प्रतीत नहीं होता । साथ ही 'शिष्य' शब्द यहां पर विशेषण है और 'नारायण' नाम संज्ञा है, अतएव इसका अर्थ 'शिष्यभाव' न ले कर 'इस शरीर की नारायण संज्ञा पर्यन्त' लेना ही उपयुक्त है। श्री नारायणदासजी म० एवं श्री हरिदेवजी म० दोनों को सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने के कार्यों से मुक्त रहने का परामर्श देना सर्वथा स्वाभाविक एवं उनके गरिमामय व्यक्तित्व के अनुकूल जान पड़ता है । इसकी पुष्टि परवर्ती इतिहास से भी होती है, जिसके अनुसार श्री हरिदेवदासजी म० योग्य एवं समर्थ होते हुए भी सम्प्रदाय के गठन, प्रचार अथवा प्रसार कार्य में प्रवृत्त नहीं हुए । फलतः श्री रामदासजी म० द्वारा खेड़ापा से ही यह सम्प्रदाय फूला-फला और प्रसिद्ध हुआ । अतः श्री रामदासजी महाराज ही श्री हरिरामदासजी म० के उत्तराधिकारी एवं सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य है । यही कारण है कि आज से पचास वर्ष पूर्व इस सम्प्रदाय को 'सिंहथल खेड़ापा' अथवा 'खेड़ापा' रामस्नेही सम्प्रदाय कहा जाता था । सिंहथल में श्री हरिरामदासजी म० के एक प्रशिष्य श्री हरिदेवदासजी द्वारा उनके स्मारक के संरक्षणार्थ एक गद्दी स्थापित की गई, जिन्हें इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने सम्मान दिया।

...ँ सिंहथल सम्प्रदाय के द्वितीय आचार्य का स्मारक पीठ अब ... अधिकृत पीठाचार्य कहलाने लगे अब कि खेड़ापा ... पीठ है ।

सम्प्रदाय का उद्भव और विकास[1]

पूर्ववर्ती सगुण ईश्वर की विचारधारा और मूर्तिपूजा तथा नवधा भक्ति रूपी साधना में परिवर्तन श्री जयमलदासजी महाराज ने ही ला दिया था और उसके स्थान पर सर्वव्यापी निर्गुण निराकार ब्रह्म की विचारधारा व बीज मंत्र 'राम' नाम की योग विधिसहित साधना का प्रवर्तन वे कर चुके थे।

श्री हरिरामदासजी म० ने पूर्ववर्ती विचारधारा व साधना में परिवर्तन नहीं लाया अपितु श्री जयमलदासजी म० द्वारा उपदिष्ट उनकी उपर्युक्त नूतन विचार धारा पर अमल किया एवं इस साधना को प्रयोगात्मक रूप से सिद्धकर सम्भावित संशयों को उन्मूलित कर दिया।

श्री हरिरामदासजी म० ने स्वयं किसी सम्प्रदाय का प्रवर्तन एवं गठन नहीं किया, परन्तु जब वे इस साधना पद्धति को स्वयं के जीवन में सिद्ध कर चुके तब उन्होंने कुछ साधक शिष्य तैयार किये, जिनकी कुल संख्या सात थी। इनमें से श्री रामदासजी म० को अधिक योग्य समझ कर विशेष महत्व दिया गया और

१. इस अध्याय को पढ़ने के पूर्व पाठक कृपया 'श्री हरिरामदासजी म०' एवं 'सम्प्रदाय का प्रवर्तन' शीर्षक नामक अध्याय पढ़ने का श्रम करें।

उन्हें अपनी सप्त शिष्य मण्डली का 'शिरोमणि' घोषित कर उन्हें इस विचार धारा तथा साधना पद्धति का प्रचार-प्रसार करने हेतु सम्प्रदाय का गठन करने व खेड़ापा (जोधपुर) में सम्प्रदाय का पीठ व प्राचार्य गद्दी स्थापित करने की आज्ञा प्रदान की गई। तदनुसार खेड़ापा से 'सिंहथल-खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय' अथवा बहुप्रचलित नाम 'खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय' चला।

इस तरह श्री जयमलदासजी म० इस सम्प्रदाय रूपी वृक्ष को उत्पन्न करनेवाला बीज है, श्री हरिरामदासजी म० पेड़ को अपने स्थान पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करने और उसे पोषण देने वाली जड़ें हैं और श्री हरिरामदासजी म० उसकी मुख्य डाल (तना) है और उनके [श्री रामदासजी] शिष्य-प्रशिष्य इस सम्प्रदाय रूपी वृक्ष की शाखा-प्रशाखा, डाली, कूम्पलें तथा पत्तों के रूप में है, जिससे कई कलियें फूटी; फूल खिले एवं फल लगे और वह विश्व विख्यात हो गया।

'जयमलदास जान निज बीज, मूल जाण हरिरामा।
रामदास डाल जाणिजे, पंखी सिष बिसरामा॥
चली साख फेर परमाखा, डाली कूंपल पाता।
निकली कली फूल फल लागा, भया जगत विख्याता॥'[1]

वाणी साहित्य के अन्तः साक्ष्य से यह स्पष्ट होता है कि श्री हरिरामदासजी म० के समक्ष मुख्य तीन समस्याएँ थी। प्रथम, ऐसे शिष्य तैयार करना जो उनके मत व साधना पद्धति को व्यापक बना कर उसे एक सम्प्रदाय के रूप में प्रकट व विकसित करने में समर्थ हो। द्वितीय, सम्प्रदाय का पीठस्थान स्थापित करना एवं तृतीय, अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के समक्ष अपने मत व साधना पद्धति को वैदिक व शास्त्रीय मत सम्मत सिद्ध करना। अन्तिम समस्या

१. श्री सेवगरामजी म० की वाणी पृ०

वस्तुतः श्री हरिरामदासजी म. के समक्ष इतनी विकट नहीं थी, जितना कि यह श्री रामदासजी म. के समक्ष उग्र रूप से प्रकट हुई क्योंकि श्री हरिरामदासजी म. के समय तक उनके शिष्यों की मण्डली 'रामस्नेही संगत' कहलाती थी और सम्प्रदाय का रूप धारण नहीं किया था।[1] परन्तु वे इसे सम्प्रदाय का रूप प्रदान करने हेतु चिन्तनशील अवश्य थे। इस सम्बन्ध में वे अपने प्रिय शिष्य श्री रामदासजी महाराज से सतत विचार-विमर्श करते हुए प्रतीत होते हैं। उनकी सिंहथल से खेड़ापा की यात्राएँ इसी ओर संकेत करती है।

जब से उन्होंने श्री रामदासजी म॰ को धर्म प्रचार करने का आदेश दिया तब से उनके प्रति आपके सम्मान ने एक विशेष प्रकार के सम्मान का रूप धारण कर लिया मालूम पड़ता है। वे शिष्य के कार्यों का मूल्यांकन और उनके द्वारा साधना पद्धति का प्रचार-प्रसार करने का समय समय पर लेखा-जोखा करते हुए-से जान पड़ते हैं। वे श्री रामदासजी महाराज के शिष्य - प्रशिष्यों का बढ़ता हुआ समुदाय देख अति प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। अन्त में जब वे इस बात से पूर्णतया आश्वस्त हो जाते हैं कि श्री रामदासजी महाराज के द्वारा खेड़ापा से उनके मत व साधना पद्धति का निर्विघ्न रूप से प्रचार-प्रसार हो सकेगा, तब वे खेड़ापा में सम्प्रदाय का आचार्यपीठ स्थापित करने का आदेश एवं भूमि निर्देश करते हैं।

> देख भयो आनन्द, राम परचार प्रभा घन।
> यहाँ न मावे काय, कृपा सागर हरि परसन॥
> आगा जुगत विचार कर, राम जनां विचरत भया।
> राम महोले रचत विध, सब जन उर आनन्द लया॥[2]

---

१. श्री रामस्नेही मत दिग्दर्शन-परिचय पृ॰ 'च'
२. जन प्रभाव परची पृ॰

तुमरा लशकर यहाँ न मावे, अरु शिष बहुत लगेगा पावे।
ताते यहाँ करो सुस्थाना, देश विदेशों रहे न छाना॥[1]

वि० सं० १८३४ की फाल्गुन कृ० ४ को श्री हरिरामदासजी म० 'राम महोला, रामधाम खेड़ापा' के वर्तमान भवन का निर्माण करने का आदेश फरमाते हैं और वहाँ अपने हाथ से नींव का प्रस्तर स्थापित करते हैं। तत्पश्चात् सिंहथल पहुँचकर १८ दिन पश्चात् अपने जीवित महोत्सव के नाम से एक विशेष आयोजन करने की घोषणा करते हैं, जो उपर्युक्त तिथि से एक माह बाद चैत्र कृ० ७ वि० सं० १८३४ को आयोजित किया जाता है। वाणी साहित्य में उपलब्ध स्फुट अन्तः साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस महोत्सव के समय श्री हरिरामदासजी म० ने समस्त शिष्यों के समक्ष अपने हृदय की बात प्रकट की होगी। अर्थात् रामस्नेही मत व साधना प्रणाली को एक सम्प्रदाय के रूप में विकसित करने व उसका संचालन करने का उत्तरदायित्व श्री रामदासजी म० को सौंप दिये जाने की घोषणा की होगी। इस मत के पक्ष में दसवें एवं ग्यारहवें अध्यायों में पर्याप्त लिखा जा चुका है। अतः यहाँ केवल दो साक्ष्य उद्धृत करना पर्याप्त होगा।

---

१. पूरा प्रसंग इस प्रकार है:—

स्वामी इक दिन वन में आये, पूरब दिशि परबत निरखाये।
रामदास शिष साथे लागो, पंदरे कोस और बैरागी॥१॥
फिरी समीप सबको बैठाये, स्वामी हाथ जहाँ बिछिया ये।
पुनि मो सरस बचन फरमायो, सब शिष हू उनके मन भायो॥२॥
तुमरा लशकर यहाँ न आवे; अरु शिष बहुत लगेगा पावे।
ताते यहाँ करो सुस्थाना, देश विदेशों रहे न छाना॥३॥
रामदास ऐसो तब भाख्या सतगुरु बचन सरल करि माख्यो।
स्वामी कह्यो भूमि जिम स्थानु, याही ठोर दियो महमानु॥४॥
[श्री हरिरामदासजी म. की परची]

सम्मिलित है] अनुभव किया [लागत=लगना, अनुभव करना] और उन्हें सेड़ापा जा कर यथाशीघ्र कार्यान्वित करने का संकल्प लिया। फलतः श्री गुरुदेव का भी उनसे सहमत होना और श्री रामदासजी म. को सेड़ापा जाने की तत्काल आज्ञा प्रदान कर देना स्वाभाविक लगता है क्योंकि उपर्युक्त साखी में उन्हें सिंहथल में स्वयं के देहत्याग के समय उपस्थित रहने का आग्रह है, जिसका गम्भीर आशय है, परन्तु यह प्रसिद्ध है कि श्री रामदासजी म. उस समय वहाँ उपस्थित नहीं रहे थे। इसका समाधान यही है कि वे विचार-विमर्श कर उनसे आज्ञा प्राप्त कर खेड़ापा आए होंगे।

यदि 'गुरां की जाग्या' वाक्यांश का कोई 'श्री गुरुदेव का घर' जैसा साधारण अर्थ लेना चाहें तो भी उपर्युक्त तर्क में कोई अन्तर पड़ता प्रतीत नहीं होता क्योंकि उस समय तक न तो सम्प्रदाय बना था और न ही आचार्यपीठ स्थापित हुआ था, अतएव श्री रामदासजी म. ने सम्प्रदाय के उत्तरदायित्वों को वहन करना स्वीकार कर लेने के उपरान्त भी पूर्व निश्चय के अनुसार खेड़ापा से ही सम्प्रदाय का प्रवर्तन करना उचित समझा और वह स्थान (सिंहथल) श्री गुरुदेव का वंश परम्परा का घर होने के नाते उनके पोते श्री हरिदेवदासजी म. के लिये स्वेच्छा से छोड़ना पसन्द किया होगा, जिनकी वय उस समय केवल दस वर्ष की थी। इस पर भी श्री गुरुदेव का सहमत हो कर उन्हें खेड़ापा लौट जाने की आज्ञा प्रदान कर देना उचित एवं स्वाभाविक ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार सम्प्रदाय के इतिहास में तीन तिथियों एवं तीन आचार्यों का बड़ा महत्व है। प्रथम तिथि वि. सं. १७६० है, जब प्रथम आचार्य श्री जयमलदासजी म. सगुण से निर्गुण मत की ओर प्रवृत्त हुए। दूसरी तिथि फाल्गुन कृ० ४ वि० सं० १८३४ की है, जब द्वितीय आचार्य श्री हरिरामदासजी म. ने सेड़ापा में सम्प्रदाय का पीठ एवं आचार्यगद्दी स्थापित करने हेतु वर्तमान 'राम महोत्सव,

म० का उनके जीवन काल में ही 'देहावसान हो गया था। इन चार शिष्य धर्म प्रचारार्थ भेजे गये थे; परन्तु उनकी शिष्य परम्पराएँ नहीं चल सकी। इस प्रकार उनके अनुभवी शिष्य, जिनकी संख्या केवल सात ही थी, में से एक मात्र श्री रामदासजी म० ही सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने में सफल हुए। अतएव डा० मोतीलाल मेनारिया के शब्दों में श्री रामदासजी महाराज ही इस सम्प्रदाय के अनुयायियों के आदि गुरु है।

श्री हरिरामदासजी म० के पश्चात् रामस्नेही सम्प्रदाय का उद्भव और विकास खेड़ापा से होना आरम्भ हो गया और अत प्रतिष्ठापक तृतीय आचार्य श्री रामदासजी म० ही सम्प्रदाय प्रवर्तक व पीठ संस्थापक प्रथम आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए। परन्तु श्री हरिरामदासजी म० के निर्वाण पद प्राप्त कर लेने के उपरान्त उनके अनन्य शिष्य श्री नारायणदासजी ने आपके एक प्रशिष्य श्री हरिदेवदासजी[1] म० को सिंहथल स्मारक स्थान के महन्त बना दिये जो सिंहथल पीठ परम्परा के प्रथम आचार्य माने जाते हैं।

इस प्रकार आचार्य श्री हरिरामदासजी म० के पश्चात् उनके शिष्य-प्रशिष्यों की दो शाखाएँ बन गई। प्रथम, उनके शिष्य श्री रामदासजी महाराज, जिनसे उनकी 'रामस्नेह सगत' एक रामस्नेही सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुई। द्वितीय, प्रशिष्य श्री हरिदेवदासजी म. जिनके द्वारा सिंहथल स्मारक पीठ की आचार्य परम्परा प्रचलित हुई। फलस्वरूप यह सम्प्रदाय जो परम्परा से खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय कहलाता था, सिंहथल पश्चात वहाँ से 'सिंहथल खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय' कहलाने लगा। परन्तु एक अब 'सिंहथल रामस्नेही सम्प्रदाय' और 'खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय' ऐसे पृथक-पृथक् नामों का प्रयोग भी देखने में आता है।

---

१ श्री हरिरामदासजी म० ने उत्तराधिकारी घोषित नहीं किया था पर [illegible] नारायणदासजी म० इन्हें अधिकारी गुरु लिखे हैं [illegible] [११/१६]

श्री मदाद्य रामस्नेहिसम्प्रदाय मादवंश प्रणालिका

श्री जयमलदासजी म० वि० सं० १७६०-१८१०
(जन्म १७३० लगभग, सगुणमत में दीक्षा १७४०-४५, निर्गुणमत में दीक्षा १७६०)
(मूल मंत्रप्रदाता आचार्य)

श्री हरिरामदासजी म० वि० स० १८००-१८३५
(मत प्रवर्तक आचार्य)

(श्री सिंहथल स्मारकपीठ

१ श्री हरिदेवदासजी म० वि०सं० १८३५-१८६४ (जन्म १८२४ वि० (स्मारक पीठ संस्थापकाचार्य)

२ श्री मोतीरामजी म०

३ श्री रघुनाथदासजी म०

४ श्री चेतनदासजी म०

५ श्री रामप्रतापजी म०

६ श्री चोकसरामजी म०

७ श्री रामनारायणजी म०

८ श्री भगवद्दासजी म० (वर्तमान)

(श्री खेडापा सम्प्रदायाचार्यपीठ)

१ श्री रामदासजी म० वि० सं० १८२२-१८५५ (पीठस्थापन १८३४ वि. दीक्षा १८०९ वि०) जन्म १७८३ वि० (सम्प्रदाय प्रवर्तक एवं मत प्रतिष्ठापक सम्प्रदायाचार्य)

२ श्री दयालदासजी म०

३ श्री पूर्णदासजी म०

४ श्री अर्जुनदासजी म०

५ श्री हरलालदासजी म०

६ श्री लालदासजी म०

७ श्री केवलरामजी म०

८ श्री हरिदासजी म०

९ श्री पुरुषोत्तमदासजी म. (वर्तमान)

इस प्रकार यदि 'सिंहथल' और 'खेड़ापा' को दो पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय मान लिया जाय तो ये दोनों एक ही स्रोत से प्रवहमान ऐसी दो धाराओं के सदृश है, जिनमें से एक (सिंहथलस्मारक पीठ) ताल के रूप में परिवर्तित हो, वहाँ पहुँचने वाले पिपासुओं को ज्ञानामृतरूपी शीतल व मधुर जल से परितृप्त करती है, जबकि दूसरी धारा [खेड़ापा सम्प्रदायाचार्य पीठ] अपनी निरन्तर गतिशीलता से अनेक ताल-तलैयाओं को भरती तथा नद-नदियाओं को छलकाती हुई और हताश जनमानस रूपी मरुभूमि को ज्ञान व भक्ति के शीतल व मधुर पावन सलिल से सिंचन कर आशा एवं उमंग रूपी जीवनांकुरों को सहलाते हुए उन्हें पल्लवित तथा पुष्पित कर हरे-भरे, लहलहाते खेतों में परिणत करती हुई सतत प्रवहमान है।

इस सम्प्रदाय का आचार्य पीठ खेड़ापा ही है, परन्तु श्री हरिरामदासजी म० ने अपने अंतिम उपदेश में श्री हरिदेवदासजी महाराज को होनहार बताया था और श्री रामदासजी म. को अपने तेज तत्त्व को धारण कर उसे प्रसारित करने वाले मैत्रेय ऋषि सदृश माना था। अतएव श्री हरिदेवदासजी महाराज द्वारा मूल स्थान सिंहथल में उनके स्मारक के संरक्षणार्थ स्मृतिस्वरूप गद्दी स्थापित की गई थी, जिनकी आचार्य परम्परा आज दिन पर्यन्त प्रचलित है। श्री रामदासजी महाराज श्री हरिरामदासजी महाराज से सम्प्रदाय का प्रवर्तन एवं प्रसार करने का उत्तराधिकार प्राप्त कर उन्हीं की आज्ञा से खेड़ापा में सम्प्रदाय का आचार्यपीठ एवं आचार्य गद्दी की स्थापना करके निर्गुण 'राम' भक्ति का प्रचार-प्रसार करते हुए सम्प्रदाय का संगठन एवं संचालन करने लगे। आपने रामस्नेही भक्त के लक्षण आदि के रूप में सम्प्रदाय की आचार संहिता का प्रतिपादन किया। परवर्ती आचार्यों ने उसी आचारसंहिता को पंचदशी, नियम नाम से प्रसारित किया। पण्डित श्री उत्साहरामजी प्राणाचार्य 'कलहंस' ने उन्हें वर्गीकृत कर नीतिसूत्रनियम[1] के रूप में प्रतिपादित किया और

१ देखिए परिशिष्ट-१

व्याख्या प्रस्तुत करते हुए वर्तमान युग में उनकी विशेष उपादेयता को सिद्ध किया।

श्री रामदासजी महाराज के अनेकानेक समर्थ एवं सिद्ध शिष्यों ने साधना के अतिरिक्त धर्म प्रचार एवं जन कल्याण के कार्य किये। उन्होने सम्प्रदाय की शाखास्वरूप विभिन्न प्रदेशों में राम द्वारा नाम से शाखा स्थान स्थापित किये जो थाम्भायत रामद्वारा कहलाते हैं।

श्री रामदासजी महाराज के पश्चात् उनके योग्य समर्थ एवं बहुश्रुत विद्वान् और आशु कवि शिष्य श्री दयालदासजी म० खेड़ापापीठ के द्वितीय आचार्य हुए। आपश्री से दीक्षा ले कर अनेकानेक शिष्य साधनारत हुए और उनमें से अनेकोंने देश के विभिन्न प्रदेशों में सम्प्रदाय की शाखा स्वरूप रामद्वारा स्थान स्थापित किये, जो 'खालशाही रामद्वारा' कहलाते हैं।

आचार्य श्री रामदासजी महाराज एवं उनके उत्तराधिकारी दयालदासजी महाराज द्वारा इस सम्प्रदाय का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ। इनका विभिन्न प्रदेशों के विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ हुआ। कुम्भ जैसे मेलों में अपने मत को वेदोक्त सिद्ध करने के लिये इन्हें चुनौती दी गई इन सब में आचार्यद्वय सफल हुए तब विद्वानों एव अन्य सम्प्रदायाचार्यों ने इन्हें धर्माचार्य के रूप में स्वीकार किया। इन्हें अधिकांश देशी रियासतों के राजा-महाराजाओं द्वारा धर्मगुरु एवं सम्प्रदाय के आचार्य के रूप में सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्रदान की गई। जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, रतलाम एवं अन्य मालवा प्रदेश (म.प्र.) एवं गुजरात और मेवाड़ के देशी रजवाड़ों ने सम्प्रदाय के आचार्यों को अव्वल ताजिमें प्रदान की थी। अर्थात् इन राज्यों की राजधानी अथवा उन कस्बों में जहाँ इनके हाकिम (प्रशासनिक अधिकारी) रहा करते थे अथवा जो राज्य के ताजिमी जागिरदारों के ठिकाने थे, वहाँ खेड़ापापीठ के सम्प्रदायाचार्यों

का जब जब जाना होता था, तब तब वहाँ के हाकिम स्वयं को अथवा ताजिम ठिकानों के ठिकाने के सरदार अथवा उसके प्रधान प्रशासक को राज्य के राजा, महाराजा अथवा राणा द्वारा प्रदत्त स्वागत के सुसज्जित कोतल घोड़े, राजधानियों में हाथी, नगाडा आदि वाजे निशान (ध्वज) एवं पालकी ले कर इनके स्वागतार्थ अगवानी के लिये जाना होता था।

सम्प्रदाय के वयोवृद्ध संतों से ऐसा विदित हुआ है कि खेड़ापा पीठ के सम्प्रदायाचार्यों ने अपने को सम्मान देने वाले इन राज्यों से सम्प्रदाय के स्मारक पीठ सिंहथल के पीठाचार्यों को भी वैसा ही सम्मान दिये जाने की पेशकश करके उन्हे इस प्रकार की ताजिमें दिलवाई थी जो रियासती राज्यों के अस्तित्व एवं भारत के स्वतंत्र होने तक व्यवहृत होती रही थी। इससे यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज में श्री हरिरामदासजी महाराज के उत्तराधिकारी एवं सम्प्रदाय के आचार्य के रूप में श्री रामदासजी म० को ही मान्यता प्राप्त थी। परन्तु इस सम्प्रदाय के आचार्यों की यह उदारता ही कही जायगी कि इन्होंने श्री हरिरामदासजी म० के प्रशिष्य श्री हरिदेवदासजी महाराज द्वारा उनके स्मारक के संरक्षणार्थ जो गद्दी स्थापित की गई, उन्हें भी मतप्रवर्तक आचार्य श्री हरिरामदासजी के स्मारक की परम्परा होने से सम्मान दिया और अपने प्रभाव का उपयोग कर उन्हें भी धर्म गुरु एवं आचार्य पद सम्प्रदान करवाया गया।

सम्प्रदाय का संगठनात्मक स्वरूप

श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यत्रयी में से तृतीय आचार्य श्री रामदासजी महाराज हुए हैं । जिनसे वस्तुतः सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार एवं विस्तार हुआ मानते हैं । आप ही के समय में इसके पूर्ववर्ती आचार्य श्री हरिरामदासजी महाराज के द्वारा शिलान्यास किये गये सम्प्रदाय के पीठस्थल भवन 'आचार्य पीठ रामधाम खेड़ापा' का निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ । इससे कुछ समय पश्चात् अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में इन्हें 'सम्प्रदायाचार्य' के रूप में मान्यता मिल चुकी थी । फलस्वरूप बीकानेर, जोधपुर, जयपुर, मेवाड़ एवं मालवा प्रदेश के तात्कालिक देशी राजपरिवारों ने इन्हें धर्म गुरु के रूप में स्वीकार कर अपनी अपनी रियासतों में धर्म प्रचार यात्राओं के समय श्री रामदासजी म. और बाद में होने वाले परवर्ती आचार्यों का 'धर्म गुरु तथा सम्प्रदाय के आचार्य' के रूप में राजकीय सम्मान करने की आज्ञाएँ प्रसारित की थी । अतएव परवर्तीकाल में विरचित वाणी साहित्य में भी रामदासजी महाराज के लिये 'महा महंत' [संडारा गुरु महिमा वन्दन पत्रिका रचना काल वि. सं. १८६५] एवं श्री दयालुदासजी महाराज के लिये 'आचारज' ज्ञानी आचार्य (ग्रन्थ परमहंस प्रकाश रचना काल वि. सं. १८८४) शब्दों का स्पष्ट प्रयोग किया गया है—

आनन्द के करता है, विघन के हरता है।
मंगल उचरता, महा महंत रामतं ॥[1]

× × × ×

गादी आचारज प्रकट, संत दयाल दयाल।
परसराम विरक्त जन, हमको करें निहाल ॥[2]

आचार्य श्री रामदासजी महाराज ने धर्म प्रचार कार्य को सम्यक्‌प्रकारेण सम्पन्न करने हेतु अपने सम्प्रदाय के अन्तर्गत तीन संस्थान संयोजित किये थे – १. राम सभा २. शाखा स्थान ३. रामद्वारे

राम सभा राम सभा स्थानधारी एवं विरक्त संत, साधक एवं विद्वान् शिष्यों का वह समुदाय कहलाता था, जो सदैव आचार्य के संग आचार्य पीठ स्थान में अथवा धर्म प्रचार यात्राओं के समय उनके साथ विचरण किया करते थे। धर्म प्रचार की दृष्टि से रामसभा में आचार्य, प्रवक्ता (अधिकारी) एवं वक्ता—इन तीनों की महत्वपूर्ण भूमिका हुआ करती थी। आचार्य अपने सम्प्रदाय के समस्त साधुओं को आदेश-निर्देश देने, आध्यात्मिक साधना का पथ प्रदर्शन करने, शिष्यों की साधना की परीक्षा एवं मूल्यांकन करने के अतिरिक्त उपदेश, प्रवचन और आध्यात्मिक चर्चा किया करते थे। श्री रामदासजी महाराज के समय में अधिकारी के रूप में श्री दयालदासजी म० राम सभा के मुख्य प्रवक्ता थे। इनका कार्य विद्वानों के साथ शास्त्रीय चर्चा चलाना, अपने मत के शास्त्रीय औचित्य का प्रतिपादन करना एवं कुम्भ आदि के धार्मिक मेलों में आध्यात्मिक चर्चा तथा शास्त्रार्थ में भाग लेना था।

१. श्री परसरामजी म० की वाणी पृ० २५३
२. श्री सेवगरामजी म० की वाणी पृ० २८७

इसी तरह राम सभा के वक्ता का मुख्य कार्य राम सभा को कथा प्रसंग सुनाना और धर्म प्रचार यात्राओं के समय, विशेषकर चातुर्मास में 'कथावाचन' और उपदेश प्रवचन करने का कार्य था। आचार्य श्री रामदासजी महाराज के समय में श्री परसरामजी महाराज (सूरसागर – जोधपुर) मुख्य वक्ता थे।

'परसराम वक्ता अति भारी, कथा करण विधि समझे सारी।'[1]

× × × ×

दिवस दिवस कूं ग्रंथ गुंणावे, रात पाठ कर शब्द सुणावे।
आठ पोहर ऐसो विध बीते ऐसो होय कूं'ण पं रीते॥[2]

शाखा – स्थान रामस्नेही सम्प्रदाय तथा उनके मत का प्रचार करने हेतु विभिन्न क्षेत्रों में जो शाखाएं स्थापित की गई उनको 'रामद्वारा' कहा जाता है। सर्व प्रथम आचार्य श्री रामदासजी म० के अनेकानेक शिष्यों में से ५२ शिष्यों ने विभिन्न स्थानों पर सम्प्रदाय को शाखाएं (रामद्वारा) स्थापित किये। ये 'थाम्भायत' रामद्वारे कहलाते हैं, तत्पश्चात् मत प्रवर्तक चतुर्थ आचार्य (पीठसंस्थापक द्वितीय आचार्य) श्री दयालुदासजी के कई शिष्यों ने भी सम्प्रदाय की ऐसी ही शाखाएं स्थापित की जिन्हें 'खालशाही स्थान' या 'खालशाही रामद्वारा' कहा जाता है। इन थाम्भायत तथा खालशाही रामद्वारों की भी कई प्रशाखाएं तथा उपशाखाएं कलान्तर में स्थापित होती गई। प्रत्येक शाखा स्थान के प्रधान या गुरु को 'महंत' कहते हैं और वे सम्प्रदाय के आचार्य के प्रति उत्तरदायी होते हैं। ये परम्पराएं वर्तमान समय में भी प्रचलित है।

---

१. श्री सेवगरामजी म० की वाणी पृ० ३१४
२. वही पृ० ३१६

'रामत' से तात्पर्य धर्म प्रचार यात्राओं से है। समय-समय पर स्वयं आचार्य के नेतृत्व में 'राम सभा' रामत पर निकल पड़ती थी। इसी प्रकार 'थाम्भायत' तथा 'खालशाही' स्थानों के संत भी धर्म प्रचारार्थ वैयक्तिक तौर पर अथवा मण्डली बना कर पर्यटन

[रा]म्मत —

[प]र चल पड़ते थे। परन्तु दूर-दूर तक सम्प्रदाय की साधना का [प्र]चार करने का सर्वाधिक श्रेय आचार्य श्री रामदासजी महाराज [ए]वं श्री दयालुदासजी महाराज के उन शिष्यों को है, जिन्होंने [स्थ]ान एवं शिष्यों के बन्धन से मुक्त रह कर अपना जीवन [स]ाधना तथा सत्यानुसंधान को अर्पित कर दिया था। ये विरक्त प्रायः आचार्य श्री के आदेश से धर्मोपदेश हेतु 'रामत' करते हुए वैयक्तिक रूप [से] पर्यटन किया करते थे। इसी प्रकार स्थानधारी साधु भी समय-समय पर वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप से धर्म प्रचारार्थ रामत किया करते थे। ऐसी परम्पराएँ काफी वर्षों तक चलती रही, जिससे रामस्नेह मत एवं साधना पद्धति का दूर-दूर तक प्रचार-प्रसार हुआ।

साधुओं के भेद एवं वैराग्य की वृत्तियाँ

रामस्नेही सम्प्रदाय में शुरु से ही दो प्रकार के साधु रहे है—निवृत (विरक्त) एवं प्रवृत्त। विरक्त से तात्पर्य आचार्य द्वय के उन शिष्यों से है, जिन्होंने सम्प्रदाय का शाखा स्थान स्थापित करने और शिष्य शाखा-प्रशाखा चलाने के कार्य से विरत (अलग या मुक्त) रहना पसन्द किया। ये प्रायः आचार्यों की सेवा में या उनकी आज्ञा से मुक्त पर्यटन किया करते थे। ये रामसभा की शोभा थे। एक समय में सौ से भी अधिक विरक्तों का 'राम सभा' में उपस्थित होने का अनुमान है। [illegible] वस्त्र, उत्तरीय या केवल कोपीनधारी

शिरोमणि परमहंस संत श्री परसरामजी महाराज उत्तरीय सहित अधोवस्त्र धारण किये हुए है, जबकि उनके शिष्य प्रवृत्त साधुओं का मार्ग अपना लेने के (शाखा स्थान व शिष्य परम्परा चलाने के रूप मे) पश्चात् भी दिगम्बर या कोपीनधारी रहा करते थे।

प्रवृत्त साधुओं से तात्पर्य आचार्य द्वय के उन थाम्भायत तथा खालसाही शिष्यों से है, जिन्होंने सम्प्रदाय की शाखास्वरूप 'रामद्वारे' स्थापित किये और शिष्य परम्परा चलाने मे प्रवृत्त हुए। इनमें से बहुत से वाणीकार एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में पहुँच के महात्मा हुए हैं। ये अपना कुछ समय आचार्य की सेवा करते हुए 'राम सभा' मे व्यतीत करते थे, तो कभी धर्म प्रचारार्थ 'रामत' के लिये चल पड़ते थे, परन्तु अधिकांश समय अपने शाखास्थान पर स्थानीय गृहस्थ अनुयायियों को धर्मोपदेश तथा उनकी साधना में पथ प्रदर्शन करने मे व्यतीत होता था। इन प्रवृत्त एवं निवृत्त साधुओं को लोक समाज के अनुकूल सात्विक वस्त्र धारण करने का आचार्यों द्वारा आग्रह रहा करता था। परन्तु ये अपने सरल साधु स्वभाव व अपरिग्रही वृत्ति के कारण पूरे वस्त्रों से लगा कोपीनधारी तक हुआ करते थे।

वाणी साहित्य में हमें इसके अतिरिक्त 'उपराम' 'गूदड़' 'विदेह', एवं 'परमहंस' जैसे शब्द उपलब्ध होते है, परन्तु ये साधुओ के भेद नहीं अपितु विरक्त तथा प्रवृत्त दोनो ही प्रकार के साधुओं की वैराग्यवृत्ति के क्रमिक विकास को दशाएँ बतलाई गई है। संत साहित्य के मर्मज्ञ प्रसिद्ध विद्वान् श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दो में "इस प्रकार हम देख सकते हैं कि 'वैराग' की वस्तुतः पंचवृत्तियो भी हो सकती है तथा इसप्रकार हम उन्हें यदि चाहें तो क्रमशः 'भंवरवृत्ति' 'उपरामवृत्ति' 'गूदडवृत्ति' 'विदेहवृत्ति' एवं 'परमहंसवृति' जैसी विभिन्न नाम देकर उन्हें क्रमशः एक दूसरी से अधिक विकसित भी ठहरा सकते है।[1]

१. श्री परसरामजी म० की वाणी—भूमिका पृ० 'ग'

अतएव वैराग्य के क्रमिक विकास की अवस्थाओं के आधार र सम्प्रदाय के साधुओं का अथवा उनकी परम्पराओं का विभेदीकरण हीं किया जा सकता। सम्प्रदाय की परम्परा से भिन्न एवं वाणी साहित्य के पाठक इस तथ्य से भलीभांति परिचित है कि आचार्य द्वय के 'याम्भायत' तथा 'खालशाही' स्थानों के संस्थापकों में से अधिकांश 'विदेह' और 'परमहंस' वृति के महापुरुष हुए हैं, फिर भी उनका आचरण तथा वेश-भूषा आचार्यों के आदेशानुसार लोक समाज के अनुरूप और मर्यादित हुआ करती थी। ऐसे ही महात्माओं के लिये कहा गया है:—बाहिर तो संसार सा, भीतर उलटा थाय। अस्तु।

चौदहवाँ अध्याय - (१४)

□ □ □

प्रवृत्त एवं निवृत्त (विरक्त)

सम्प्रदाय की इतिहास परम्परा के अनुसार दो प्रकार के साधु हुआ करते हैं, जिन्हें प्रवृत एवं निवृत्त अथवा विरक्त कहा जाता है। भंवर, उपराम, गूदड़, विदेह एवं परमहंस नाम के कुछ अन्य भेदों का उल्लेख भी पाया जाता है, परन्तु यह वस्तुतः साधुओं के प्रकार नहीं है अपितु वैराग्य की अवस्थाओं का वर्णन है, जिन्हें हम भंवरवृत्ति, उपरामवृत्ति, गूदड़वृत्ति, विदेहवृत्ति एवं परमहंसवृत्ति कह सकते हैं। प्रवृत्त एवं निवृत्त दो ही प्रकार के साधु होते हैं। वैराग्य की ये विभिन्न वृत्तिएँ प्रवृत्त एवं विरक्त दोनों ही प्रकार के साधुओं में पाई जाती है। दोनों ही प्रकार के साधुओं में भंवरवृत्ति से लेकर परमहंसवृत्ति तक के महापुरुष हुए है।

सम्प्रदाय के ज्ञात एवं श्रुत इतिहास के अनुसार जो साधु सम्प्रदाय की शाखास्वरूप रामद्वारा स्थापित करने, उसकी शिष्य परम्परा प्रचलित करने और गृहस्थ अनुयायी बनाने में प्रवृत्त हुए, वे प्रवृत्त साधु कहलाए, परन्तु जो साधु इन कार्यों से विरत रहे, उन्हें विरक्त कहा जाता है। आचार्य श्री रामदासजी महाराज ने स्वयं श्री परसरामजी म० की विरक्तवृत्ति की प्रशंसा करते हुए इन्ही तथ्यों की ओर इंगित किया है:—

गुरु भाई केते इक देलो, केरो सेवा करते पेखो।
अपने अपने घर में बैठे, आश्रम बांध ह्वै गये सौंठे ॥
के सिष साखा माहीं रूंधे, गांव गांव के मांहि मलूंधे।
आवे तो दिन दोय रहावे, बोहोर चाल के घर को जावे ॥
तुमको केता मास वदोता, तन में नेक न व्यापी चिता।
तातैं तुमरे बधन नांही, निरबंध निजानंद पद मांही।
परवृत्त में सुख पावे नांही, भावे ब्रजलोक किन जांहि।
निरवृत्त निज सुखन को रूपा, राज तेज भज धारे भूपा ॥
(श्री परसरामजी महाराज की परची)

श्री परसरामजी म० अपने सद्गुरु आचार्य श्री रामदासजी महाराज के जीवन पर्यंत उनकी सेवा मे रहे। कभी कभी कुछ दिनों के लिये स्वच्छन्द धर्म प्रचार करते हुए पर्यटन भी किया करते थे, परन्तु उनका अधिकांश समय आचार्यश्री की सेवा में ही व्यतीत होता था। इनके समय में आचार्यश्री के बहुत से शिष्य हुए, जो शाखा रामद्वारा स्थापित करने, वहां कि शिष्य परम्परा प्रचलित करने और गृहस्थ अनुयायी बनाने के कार्यों में प्रवृत्त नहीं हुए, अपितु वे इन कार्यों से विरत रहे और विरक्त कहलाए।

द्वितीय आचार्य श्री दयालदासजी महाराज के भी अनेक शिष्य हुए, उनमें से बहुत से शिष्यों ने सम्प्रदाय की शाखा स्वरूप शाखा स्थान रामद्वारा स्थापित किये, जो खालशाही रामद्वारा कहलाते हैं। अन्य बहुत से ऐसे शिष्य भी हुए, जिन्होंने शाखा स्थान स्थापित नहीं किये और अपनी शिष्य परम्परा प्रचलित नहीं की; वे सब विरक्त हुए हैं। इस प्रकार सम्प्रदाय के प्रथम दो आचार्यों के शिष्य प्रवृत्त भी हुए हैं, जिनकी परम्पराएँ आज दिन पर्यंत देश के विभिन्न प्रदेशों में शाखा स्थान रामद्वारा नाम से प्रचलित है, परन्तु जो विरक्त हुए हैं, जिन्होंने सम्प्रदाय के शाखा स्थान रामद्वारा स्थापित कर उनकी शिष्य परम्पराएं प्रचलित नहीं को एवं केवल भजनानन्दी हुए

अद्यावधि प्रचलित है और वे सम्प्रदाय में विशेष सम्माननीय माने जाते है।

इस प्रकार आचार्य श्री रामदासजी महाराज के निर्वाण काल के पश्चात् इनका झुकाव प्रवृत्त-परम्परा की ओर उन्मुख हुआ प्रतीत होता है। परन्तु अभी तक उनका मन निर्बंध पर्यटन करते हुए विरक्त मार्ग का अनुसरण करने में ही अधिक रम रहा था। अतएव ये विक्रम सम्वत् १८६० से पुनः उदयपुर, जयपुर एवं मालवा की रामत पर चल दिये, जो वि० सं० १८६५ तक वापिस नहीं लौटे। लगातार पांच वर्षों तक आचार्यचरणों से विलग रहने के कारण इनके मन को जो वियोग-व्यथा अनुभव हुई, उसे खेड़ापा गुरु वन्दन पत्रिका' में व्यक्त किया गया है।

इस दीर्घकालीन लम्बी धर्म प्रचार यात्रा से लौट कर आप सूरसागर रामद्वारा (जोधपुर) में स्थायी रूप से निवास करने लगे। यहीं पर आपने गृहस्थ अनुयायी बनाए और सम्प्रदाय के प्रवृत्त साधुओं की तरह आपने भी 'थाम्भायत रामद्वारा' सूरसागर (जोधपुर) की स्थापना की, जो सूरसागर बडा रामद्वारा (जोधपुर) नाम से प्रसिद्ध है।

श्री परसरामजी महाराज सुदीर्घकाल तक पूर्ण विरक्त रहे, परन्तु कालान्तर में वे भी धर्मप्रचारार्थ रामद्वारा की स्थापना कर उसकी शिष्य परम्परा प्रचलित करने और गृहस्थ अनुयायी बनाने के कार्यों में प्रवृत्त हुए थे, फिर भी अपनी कुछ विशिष्टताओं और पूर्णतया अपरिग्रहीवृत्ति से रहने के कारण वे विरक्त कहलाते हैं। उनके रामद्वारा की परम्परा में होने वाले स्थानाधिपति महंतों में दिगम्बर रहने की परम्परा प्रचलित रही है, परन्तु रामद्वारा संस्थापक विरक्त शिरोमणि श्री परसरामजी महाराज उत्तरीय सहित अधोवस्त्र भी धारण किया करते थे। वर्तमान स्थानाधिपति भी उसी परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं और वे वैराग्य की सर्वोत्कृष्टवृत्ति 'परमहंस' नाम से अभिहित किये जाते हैं, परन्तु वे स्वयं अपने को 'विदेह' समझते हैं।'

१. श्री सवसरामजी म० की वाणी में छोटो परिचय

आचार्य द्वय के ऐसे अनेकों शिष्य हुए हैं, जो विरक्त रहे, अर्थात् वे शाखास्थान के रूप में रामद्वारा स्थापित करने, उसकी शिष्य परम्परा प्रचलित करने और गृहस्थ अनुयायी बनाने के कार्यों में प्रवृत्त नहीं हुए। प्रवृत्त साधुओं में भी उनके रामद्वारा की परम्परा मे तीन-तीन पीढ़ियों तक अनेकों सर्वथा अपरिग्रही एवं पूर्णतया फक्कड़ अथवा निस्पृही जीवन व्यतीत करने वाले महात्मा भी हुए हैं। अतः ऐसा समझना कि रामस्नेही सम्प्रदाय के अन्तर्गत श्री परसरामजी म० ने किसी विरक्त शाखा का प्रचलन किया था और वे विरक्त शाखा प्रवर्तक है, उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि रामस्नेही सम्प्रदाय मे होने वाले समस्त विरक्तजन श्री परसरामजी म० के शिष्य अथवा उनकी परवर्ती परम्परा में नहीं हुए हैं। फिर जो विरक्त हुए है, उनकी कोई परम्परा अथवा शाखा ही प्रचलित नहीं हुई। वे मात्र साधक थे और सिद्धि प्राप्त कर अपने उपदेश एवं प्रभाव से सम्पर्क मे आने वाले सहस्र-सहस्र भक्तजनों का कल्याण कर ब्रह्मलीन हो गये।

इस प्रकार प्रवृत्त एवं निवृत्त साधुओं की परम्पराएँ आचार्य श्री रामदासजी महाराज और दयालदासजी म० के शिष्यो में बराबर पाई जाती रही है। इन अनेकानेक विरक्त महात्माओ मे श्री परसरामजी म० आचार्य श्री की रामसभा के मुख्य वक्ता होने के कारण अधिक समादृत थे और जब इन्होंने रामद्वारा स्थापित कर स्थान परम्परा प्रचलित कर दी तब आचार्य श्री की रामसभा में पूर्व सम्मानित होने के कारण इन्हें विशेष सम्मान दिया जाने लगा और चूंकि इन्हे रामसभा मे वक्ता होने के कारण आचार्य के समक्ष व्यासपद पर आसन प्राप्त था, अतएव इस स्थिति ने एक परम्परा का रूप धारण कर लिया लगता है। सम्भवतः इसी कारण से इनकी स्थान परम्परा के अधिपतियों को भी उत्तराधिकार के समय प्रथम आचार्य के समक्ष रुईदार गद्दी दी जाने लगी, पश्चात् वे मृगचर्म या टाट का अति-साधारण आसन ग्रहण करते है। यह परम्परा के रूप में वर्तमान में भी प्रचलित है।

इस प्रकार आचार्य द्वय की रामसभा में मुख्य वक्ता एवं सहज ही परमहंसवृति होने के कारण आपको आचार्य की ओर से उनके सैकड़ों की विरक्त शिष्य मण्डली का पथ प्रदर्शन एवं निर्देशन करने का सुअवसर भी सम्भव है: मिला होगा, जिससे विरक्त महात्माओं में आप अग्रणी माने जाते हैं।

सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा उनके शिष्यों की जो मर्यादा और आचार संहिता प्रतिपादित की गई है; उनके अनुसार सम्प्रदाय के साधुओं की वेशभूषा लोक समाज के अनुकूल मर्यादित होती है। किसी प्रकार की विशिष्ट वेषभूषा अथवा गले में 'कण्ठी' के अतिरिक्त अन्य कोई चिह्न धारण नहीं किया जाता है। क्योंकि उनके धर्मोपदेश का मुख्य स्वर ही धर्म के नाम पर किये जाने वाले बाह्य आडम्बरों और पाखण्ड का विखण्डन करना है। इसीलिये आचार्य अपने शिष्यों को 'बाहर तो संसार सा भीतर उलटा थाय' की वृत्ति धारण करने पर जोर देते हैं।

आचार्य श्री रामदासजी महाराज को दीक्षा के समय उनके सद्गुरु श्री हरिरामदासजी महाराज भी 'कंथादि भेष' जो उस समय उनके धारण किया हुआ था; 'दूर छिटकावो' की आज्ञा प्रदान करते हैं। विरक्त शिरोमणि श्री परसरामजी महाराज का उत्तरीय सहित अधोवस्त्र धारण किया हुआ छायाचित्र उपलब्ध है। वे परमहंसवृति तक पहुँचे हुए महात्मा थे; परन्तु 'जटाजूटधारी' अथवा 'दिगम्बर' नहीं रहते थे। इसके अतिरिक्त उनके जीवन चरित्र से ज्ञात होता है कि वे देहानुसन्धान शून्य मौनव्रती एवं एकान्तवासी नहीं अपितु सक्रिय धर्म प्रचारक और उपदेशक थे। उनकी उच्च वैराग्यवृत्ति एवं सर्वथा अकिंचन तथा सर्वप्रकारेण अपरिग्रही रहने के कारण ही उन्हें "परमहंस' एवं विरक्त कहा जाता रहा है।

ये सब तथ्य यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं कहे जा सकते कि श्री परसरामजी म० ने रामस्नेही सम्प्रदाय के अन्तर्गत

इस प्रकार रामस्नेही सम्प्रदाय के अन्तर्गत विरक्त एवं अपरिग्रही साधुओं की परम्परा आचार्य श्री रामदासजी महाराज के समय से ही आरम्भ हो गई थी। तत्पश्चात् आचार्य श्री दयालदासजी महाराज के कई शिष्यों ने खालसाही रामद्वारा स्थापित किये और बहुत से विरक्त भी रहे। परन्तु उन सब पर अनुशासन सम्प्रदाय के आचार्य का ही मान्य हुआ करता था। उदाहरणार्थ आचार्य श्री रामदासजी महाराज के विरक्त शिष्यों में श्री परसरामजी महाराज का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सम्भवतः आप आचार्य श्री के प्रथम शिष्य थे, जिन्होंने सब प्रथम विरक्तवृत्ति को धारण किया और विक्रम सम्वत् १८४४ में आचार्य श्री से दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त पूर्ण विरक्त एवं सर्वथा अपरिग्रहीवृत्ति से रहते हुए भी निरन्तर आचार्य की सेवा में बने रहे। वे 'रामसभा' में आचार्य एवं अधिकारी के पश्चात् 'वक्ता' के पद पर बराबर सुशोभित रहे।

द्वितीय आचार्य श्री दयालदासजी महाराज के साथ भी आपके सम्बन्ध पूर्ववत् घनिष्ठ एवं अन्तरंग रहने के प्रमाण मिलते हैं। सम्भवतः वे कुछ समय तक आचार्य श्री दयालदासजी महाराज की 'रामसभा' में वक्ता रहे होंगे। इस सम्बन्ध में प्रथम साक्ष्य तो श्री परसरामजी महाराज द्वारा लिखित 'सेड़ापा गुरु वन्दन पत्रिका' है; जिसमें आचार्य श्री दयालदासजी महाराज की वन्दना एवं प्रशंसा की गई है। द्वितीय अन्तः साक्ष्य यह है कि आचार्य श्री रामदासजी महाराज के निर्वाणपद प्राप्त कर लेने के उपरान्त आचार्य श्री दयालदासजी महाराज ने उनका जीवन चरित्र 'गुरु प्रकरण परचो' नामक प्रबन्ध काव्य आशु कवि के रूप में उच्चरित किया तब उनके द्वारा मौखिक रूप से उच्चरित छंदों को लिपिबद्ध करने का कार्य श्री परसरामजी महाराज द्वारा ही सम्पन्न किया गया—

> 'वक्ता दयालसु बाल को, परसराम लिख नाम।
> भरत खाट भदवर मुलक, राम महोले धाम॥'

इस प्रकार आचार्य द्वय की रामसभा में मुख्य वक्ता एवं सहज ही परमहंसवृत्ति होने के कारण आपको आचार्य की ओर से उनके सैकड़ों की विरक्त शिष्य मण्डली का पथ प्रदर्शन एवं निर्देशन करने का सुअवसर भी सम्भव है: मिला होगा, जिससे विरक्त महात्माओं में आप अग्रणी माने जाते हैं।

सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा उनके शिष्यों की जो मर्यादा और आचार संहिता प्रतिपादित की गई है; उनके अनुसार सम्प्रदाय के साधुओं की वेशभूषा लोक समाज के अनुकूल मर्यादित होती है। किसी प्रकार की विशिष्ट वेषभूषा अथवा गले में 'कण्ठी' के अतिरिक्त अन्य कोई चिह्न धारण नहीं किया जाता है। क्योंकि उनके धर्मोपदेश का मुख्य स्वर ही धर्म के नाम पर किये जाने वाले बाह्य आडम्बरों और पाखण्ड का विखण्डन करना है। इसीलिये आचार्य अपने शिष्यों को 'बाहर तो संसार सा भीतर उलटा थाय' की वृत्ति धारण करने पर जोर देते हैं।

आचार्य श्री रामदासजी महाराज को दीक्षा के समय उनके सद्गुरु श्री हरिरामदासजी महाराज भी 'कंथादि भेष' जो उस समय उनके धारण किया हुआ था; 'दूर छिटकावो' की आज्ञा प्रदान करते हैं। विरक्त शिरोमणि श्री परसरामजी महाराज का उत्तरीय सहित अधोवस्त्र धारण किया हुआ छायाचित्र उपलब्ध है। वे परमहंसवृत्ति तक पहुँचे हुए महात्मा थे; परन्तु 'जटाजूटधारी' अथवा 'दिगम्बर' नहीं रहते थे। इसके अतिरिक्त उनके जीवन चरित्र से ज्ञात होता है कि वे देहानुसन्धान शून्य मौनव्रत्ती एवं एकान्तवासी नहीं अपितु सक्रिय धर्म प्रचारक और उपदेशक थे। उनकी उच्च वैराग्यवृत्ति एवं सर्वथा अकिंचन तथा सर्वप्रकारेण अपरिग्रही रहने के कारण ही उन्हें 'परमहंस' एवं विरक्त कहा जाता रहा है।

ये सब तथ्य यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं कहे जा सकते कि श्री परसरामजी म० ने रामस्नेही सम्प्रदाय के अन्तर्गत

किसी विशिष्ठ शाखा का प्रवर्तन किया था। वस्तुतः वे सम्प्रदाय के मूल सिद्धान्तों के प्रचारक एवं उच्चकोटि के महापुरुष थे। आचार्य द्वय के अनेकानेक विरक्त एवं परमहंसवृत्ति के शिष्यों की भांति वे विरक्त, थाम्भायत रामद्वारा के संस्थापक एवं उसकी शिष्य परम्परा का प्रचलन करने के रूप में प्रवृत्त, अपरिग्रही एवं आध्यात्मिक महापुरुष थे।

निमाज गांव में रामद्वारा स्थापित करने वाले एवं अत्यन्त ही उच्च आध्यात्मिक पहुँच के धनी श्री राघोदासजी महाराज, के छायाचित्र दिगम्बर एवं वस्त्रधारी दोनों ही प्रकार के देखने में आए हैं। ये आचार्य श्री रामदासजी म. के प्रिय शिष्य एवं आचार्य श्री दयालदासजी के अन्तरंग सहयोगी थे,[1] के सहित अन्यान्य स्थानों की परम्परा का अवलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि इनमें भंवरवृत्ति से लेकर परमहंसवृत्ति तक के साधु-साधक थे; प्रवृत्त थे और विरक्त भी थे। आचार्यों का आदेश लोक-मर्यादा के अनुकूल सात्विक श्वेत वस्त्र धारण कर सहज वैराग्यभावना से साधनारत रहने और धर्म प्रचार करने का रहा करता था; परन्तु ये अपने सहजसाधुवृत्ति और फक्कड़ स्वभाव के कारण पूर्ण-वस्त्रधारी से लेकर मात्र कोपीनधारी एवं दिगम्बर तक हुआ करते थे। उनमें किसी प्रकार की वृत्तिसूचक आरोपित वेशभूषा धारण करने की परम्परा नहीं थी। आरोपित वृत्तिसूचक वेशादि का तो आचार्यों द्वारा सर्वत्र खण्डन किया जाता रहा है; जिनके प्रमाण वाणी साहित्य एवं महात्माओं के जीवनवृत्तों के रूप में उपलब्ध हैं।

फिर भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भंवरवृत्ति, उत्तरामवृत्ति, गूदड़वृत्ति, विदेहवृत्ति एवं परमहंस जैसी

---

१. वि० सं० १८५१ में आचार्य श्री रामदासजी म० के निर्वाण महोत्सव पर जलाभाव को दूर करने के लिये इन्हीं दोनों ने तत्रो मन्दिर में जाकर प्रार्थना की थी; जो तत्काल फलीभूत हुई।

वैराग्य की विभिन्न अवस्था सूचकवृत्तियों को परवर्तीकाल में विशिष्ट वेशादि से सम्बद्ध करने का प्रयास अवश्य किया गया। उदाहरणार्थ श्री परमरामजी महाराज के उत्तराधिकारी श्री सेवगरामजी महाराज ने अपने ग्रन्थ 'परमहंस प्रकाश' (रचना काल वि. सं १८८४) में उपरामवृत्ति में 'उत्तीरण' (अन्यों द्वारा पहन कर त्याग दिये जीर्णवस्त्र) पहनने और कथा धारण करने, गूदड़वृत्ति में फूटी हांडी हाथ में रखने, विदेहवृत्ति में मात्र लंगोट धारण करने और परमहंस अवस्था में सिरपर जटाजूट और दिगम्बर रहने को कहा है, जो इस सम्प्रदाय के आचार्यों एवं विरक्त शिरोमणि श्री परसरामजी म. के मत और जीवनादर्शों के अनुकूल प्रतीत नहीं होता ।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'परमहंस प्रकास' ग्रन्थ के रचयिता ने अपने सद्गुरु श्री परसरामजी म. एवं आचार्यों के जीवनादर्शों के विपरीत उस समय प्रचलित धारणाओं से प्रभावित होकर अपने ग्रन्थ में पूर्वोक्त प्रकार से आरोपित वेशभूषा धारण करने का वर्णन किया है।

बाह्य आडम्बरों और पाखण्ड से मुक्त कर सहज तथा सरल जीवन व्यतीत करते हुए जनमानसको परमतत्व के चिन्तन और 'आध्यात्मिक' अनुभूति के साधनस्वरूप पराभक्ति की ओर उन्मुख करने के लिये ही इस सम्प्रदाय का उदय हुआ था। सम्प्रदाय के आचार्यों का स्वर इस सम्बन्ध में अति बुलन्द और उनका मत सुस्पष्ट है। वे साधक शिष्य की सहज और स्वाभाविक वैराग्यवृत्ति के प्रशंसक थे तथापि आचार्य श्री रामदासजी म. एवं श्री दयालदासजी महाराज के पश्चात् काल मे वैराग्य की अवस्था भेदकवृत्तियों को वेशादि के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया। सम्भवतः 'परमहंस प्रकास' जैसे ग्रन्थ का और उसके द्वारा स्थापित आदर्शों का तत्कालीन विरक्त साधुओं पर चमत्कारिक प्रभाव पड़ा होगा।

अनेकानेक उनके आदर्श की ओर आकर्षित हुए होंगे । बहुतोंने उनके द्वारा निर्देशित विरक्तों की वैराग्यवृत्ति विशेष के लिये निर्दिष्ट वेशादि धारण कर अपने फक्कड़ जीवन का परिचय दिया होगा ।

सम्भवतः श्री सेवगरामजी महाराज द्वारा वर्णित फक्कड़ों के लक्षण एवं विरक्तों के भेदादि के कारण ही सूरसागर बड़ा रामद्वारा जोधपुर के संस्थापकों को विरक्त शाखा प्रवर्तक आदि के रूप में स्मरण किया जाने लगा । इस अवधारणा के मूल में वस्तुतः उनके द्वारा किया गया प्रचारात्मक प्रभाव ही मुख्य कारण माना जा सकता है। अन्यथा सम्प्रदाय में सहस्रों विरक्त साधु हुए है; जो आचार्य द्वय के शिष्य थे । रामद्वारा स्थानधारी प्रवृत महात्माओं के भी कोई कोई विरक्त शिष्य हुए होंगे, ऐसा कहा जा सकता परन्तु सम्प्रदायान्तर्गत 'विरक्त शाखा' का श्री परसरामजी महाराज द्वारा प्रवर्तन किये जाने का किसी प्रकार का अन्तः अथवा वाह्य साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है। निमाज (नीवाज) और रतलाम थाम्भायत ठिकानों को सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा छड़ी और बांकिया वखसीस किया हुआ है, परन्तु वे पूर्ण रूपेण सम्प्रदायाचार्यो की आज्ञाधीन रहते आये है । उन्हें भी किसी प्रकार का 'उपसम्प्रदाय' प्रचलित करने का आदेश नहीं है। केवल तीतरी थाम्भायत ठिकाने को छड़ी बांकिया मय लवाजमा के अधिकार सम्प्रदाचार्यों द्वारा प्रदान कर सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने का अधिकार सम्प्रदान किया गया था, ऐसा सम्प्रदाय के कई गणमान्य लोगों द्वारा सुनने में आया है। सम्भवतः तदनुसार वहां से 'सतपथ' नाम की एक शाखा निकली है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की शाखा का सम्प्रदायान्तर्गत प्रवर्तन होना नहीं पाया जाता ।

आचार्य श्री रामदासजी महारा

आचार्य श्री रामदासजी महाराज भारतीय संत परम्पर
हान् मनीषियों में एक अद्वितीय विभूति थे। वे भक्त, साधक,
गी एवं अप्रतिम आध्यात्मिक शक्ति पुञ्ज थे। उनका व्यक्तित्व सं
अग्नि में तप कर निखरा और साधना से पवित्र हो चम
विभिन्न विघ्न-बाधाओं से जूझते हुए सत्-पथ पर निरन्तर अग्रसर
ह कर सफलता के चरम शिखर पर आरूढ होना आप जैसी
का ही काम हो सकता है। आपके व्यक्तित्व में फौलादी दृढ़ता,
विश्वास; साधना की तत्परता, कर्मों में शूरवीर की सी तेजस्वि
और योगी की सी निष्कामता, सांसारिक पदार्थों के प्रति निस्पृ
परन्तु लोक मंगल की कामना और भक्त हृदय की भावुकता
दीनता आदि गुण अतिस्वाभाविक तथा नैसर्गिक रूप में पाए जाते
उनका व्यक्तित्व वस्तुतः ज्ञान, कर्म एवं भक्ति का एक समु
रूप था।

आचार्य श्री रामदासजी महाराज संत मत के अनन्य
साधक एवं प्रचारक थे; परन्तु उनमें कबीर के समान अक्खड़पन
था। वे निर्गुण निराकार परात्पर परमेश्वर की उपासना करने
एकेश्वरवादी थे। बहुदेववाद, कर्मकाण्डी ब्राह्मणवाद एवं लोक दि
धर्मवाद के पक्षधर न होकर आप एक ही ब्रह्मसत्ता को स्वीकार क
वाले वर्ण एवं जाति के संकुचित घेरे से ऊपर उठे हुए अध्यात्म

महापुरुष थे। उनमें शुष्क तार्किकता, पूर्वाग्रहता और मात्र बौद्धिकता न थी। उनमें मस्तिष्कीय प्रधानता के बजाय हृदय पक्ष की प्रबलता थी। उनके व्यक्तित्व में ज्ञान की तेजस्विता के स्थान पर अनुभूति की गहनता अधिक थी। एक तरफ वे संत मत की सुधारात्मक प्रवृत्तियों से ओतप्रोत थे; तो दूसरी ओर उनमें तुलसी और सूर के भक्त हृदय की भावुकता, दीनता एवं आत्मसमर्पण की भाव तरंगें आलोड़ित होती रहती थी। वे अरविन्द के समान सिद्धयोगी थे एवं उनकी योगजन्य अनुभूतियाँ और यौगिक शक्तियों का विकास होकर श्री रामकृष्ण परमहंस की आध्यात्मिकता में परिणत हो गई थी। वस्तुतः वे लोक-मंगलकारी एवं अनुपम आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व के धनी मनीषी थे।

प्रारम्भिक जीवन वृत्त—इस महान विभूति का जन्म विक्रम संवत् १७८३ में फाल्गुन कृष्ण १३ को जोधपुर रियासतान्तर्गत भीकमकोर नामक ग्राम में हुआ था। यह ग्राम जोधपुर पोकरण रेल्वे मार्ग पर स्थित है। आपकी माता का नाम अणभी एवं पिता का नाम श्री शार्दूल बताया जाता है। जन्म का नाम रामो रखा गया था। आप अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान थे। परन्तु आपको माता का वात्सल्य और पिता का दुलार अधिक समय तक के लिये नसीब नहीं हो सका। माता भीषण बीमारी की शिकार होकर शीघ्र ही स्वर्ग सिधार गई। अब इस अल्पायु बालक का लालन-पालन पितृश्री द्वारा किया जाने लगा। वृद्धावस्था में इस शिशु को जन्म देकर जब पत्नी का असामयिक निधन हो गया तो श्री शार्दूलजी अति विरह व्याकुल हो उठे। उन्होंने भीकमकोर को त्याग दिया वहाँ से पूर्व दिशा में १००–१२५ किलोमीटर की दूरी पर स्थित सेड़ाणा ग्राम में जाकर निवास कर लिया। यहीं पर ग्राम की एक सामान्य स्कूल में इनके अध्ययन का प्रबन्ध किया गया। जहाँ यह अपने एकमात्र सखा एवं सहपाठी मौसेरे भाई केसरी के साथ अध्ययन किया करते थे। परन्तु

इसी काल में एक दुर्घटना और घटित हुई। भाद्रपद कृष्ण पक्ष की घनघोर अन्धेरी रात्रि थी। आकाश में बादलों का गर्जन तर्जन और विद्युत की कड़क इन्द्रदेव के कोप को ही प्रकट करती हुई प्रतीत हो रही थी। श्री शार्दूलजी ने कार्यवश शय्या त्याग कर बाहर आंगन में कदम रखा ही था कि वे सर्पदंश के शिकार हो गये और उन्होंने प्राण त्याग दिया। अब यह बालक मातृ-पितृ विहीन अनाथ हो गया।

इस होनहार बालक की दृष्टि में इससे पूर्व का एक और कारुणिक दृश्य तैर रहा था। सम्भवतः वह घटना ५-७ वर्ष की आयु में जब वह भीकमकोर में निवास कर रहे थे, तब घटित हुई होगी। हुआ यह कि दशहरा का अवसर था। पिता स्थानीय शक्ति के मन्दिर में इस नन्हें बालक को साथ लेकर दर्शनार्थ गये। वहाँ परम्परानुसार देवी को भैंसे की बलि दी जा रही थी। इस बालक ने वह सारा दृश्य गौरपूर्वक देखा और सन्न रह गया। उनका संवेदनशील हृदय स्पंदित हो उठा। मनुष्य की इस क्रूर बर्बरता से उनका दिल दहल गया। हृदय करुणा से भर गया और सम्पूर्ण दृश्य अन्तस्तल में स्थायी रूप से समा गया।

इस प्रकार ममतामयी माँ के वात्सल्य से वंचित, मार्गदर्शक-स्वरूप पिता की अकाल मृत्यु से अनाथ और भैंसे की बलि के कारुणिक दृश्य से विक्षुब्ध हो धीरे-धीरे संसार के प्रति उदासीन हो गये। एकान्त-वास और चिन्तन-मनन क्रमशः बढ़ने लगा। अन्ततः उनकी वैराग्यवृत्ति प्रबल रूप धारण कर लेती है और वे भव उदधि पार करने के पथ की गवेषणा में लग जाते हैं।

संसार से पूर्ण विरक्त परन्तु भगवच्चरणों में पूर्ण अनुरक्त हो आध्यात्मिक साधना के पथ का अवलम्बन करने हेतु जब हाथ-पाँव पसारे तो वह पथ ही नदारद प्रतीत हुआ। धार्मिक जगत् की बाहर बन पाया। उनके मत मतान्तरों, पथ पीरों की उपासना, प्रेत-पूजा, शिवाक सेवा, भैरवी साधना, तंत्र एवं मंत्र सिद्धि की उपासना और

बीकानेर के पास स्थित सिंहथल ग्राम में पहुँच कर विक्रम सम्वत् १८०९ की वैशाख शुक्ल ११ के दिन श्री हरिरामदासजी म० से 'राम' मंत्र की दीक्षा ग्रहण कर उनके द्वारा निर्दिष्ट योगविधि सहित 'राम' नाम की साधना में ये संलग्न हो गये। आप जोधपुर राज्यान्तर्गत सेड़ापा ग्राम में रह कर साधना किया करते थे। प्रारम्भ में आपकी साधना-स्थली वही पास ही में स्थित मेलाणा ग्राम रही; परन्तु १८२०-२२ मे आप स्थायी रूप से सेड़ापा में निवास करने लगे। साधना काल मे बीच-बीच में गुरुधाम सिंहथल जाते, अपनी साधना की प्रगति से श्री गुरुदेव को अवगत कराते और पुनः प्रारम्भिक दिनों में मेलाणा एवं पश्चात् के समय में सेड़ापा आकर प्राप्त नवीन निर्देशानुसार साधन भजन किया करते थे।

साधना एवं सिद्धि— अयाचकवृत्ति, सामान्य जन-सा भेष, श्वासोच्छ्वास 'राम' मंत्र का स्मरण एवं निरन्त शब्द रूप पर-ब्रह्म का ध्यान करते हुए आपकी साधना अविराम चलने लगी। हरि इच्छा से निवास पर किसी भक्त ने जो कुछ पहुँचा दिया, उसे भगवद्-प्रसाद समझकर ग्रहण कर लिया करते थे, अन्यथा सर्वथा निराहार रह कर साधना में तत्पर रहना ही आपकी दिनचर्या थी।

लौकेषणा से सर्वथा दूर और लोगों की निन्दा-स्तुति से सर्वथा अप्रभावित रह कर सतत रामस्मरण में लीन एवं निरन्तर सुरति-निरति के योग व ध्यान में तत्पर रहते हुए अहर्निश मुख से जप, हृदय से ज्योतिस्वरूप पर ब्रह्म का ध्यान और शब्द में चित्तवृत्ति का निरोध करना; यही थी आपकी साधना, तपश्चर्या एवं निर्गुण रामभक्ति का क्रम।

ऐसा साधक बाहर से तो सामान्य प्रतीत होता है: परन्तु उसके भीतर क्या उलट-पलट हो रहो है, यह जानना संसारी लोगों के की बात नहीं है।

होकर भागता है। क्योंकि यह मन माया-तृष्णा की ओर में बन्धा हुआ गुण की मृग-मरीचिका में भटकता रहता है। साधक को कभी कभी लगता है कि मन नि+आशा (निराशा) की मृत्यु को प्राप्त हो गया है और आशा तृष्णा की वृत्ति और गुणों की अभिप्सा समाप्त हो गई। ऐसा तब होता है, जब साधक साधना में काफी प्रवीण हो जाता है और सफलता उसे नजदीक आती हुई प्रतीत होती है। परन्तु यह मन उस सफलता की उपलब्धि में किसी भी स्तर पर कभी भी बाधक बन सकता है। अतः प्रतिक्षण सतर्क रहना आवश्यक प्रतीत होता है।

> मन मरतक कूं जाण कर, मत कोई रहो नचीत।
> रामदास कबु ऊठ कर, अन्तर करें कुचीत॥

संसार से पूर्ण विरक्त हो, मन को वश में कर लेने के पश्चात् श्री रामदासजी महाराज ने पूर्ण आत्म संयम को सिद्ध किया। तत्पश्चात् आवश्यकता है लगन की। ऐसी लगन जिसमें कि चित्तवृत्ति का शब्द में निरोध हो जाय। यही संतमत में सुरति-निरति का योग है। इसकी सिद्धि किये बिना साधक की सफलता सन्देहास्पद ही रहती है। फलतः वह सुरत-शब्द के योग की साधना में लग जाते हैं—

> पांवू उलटा रामदास, मन एकै घर आए।
> सुरत न खण्डे शब्द सूं लिवलागी जब जाए॥

यह लगनशील साधक स्थितप्रज्ञ की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रथम इन्द्रिय संयम; पुनः मन एवं बुद्धि का संयम करते हुए साधक सुरत शब्द की साधना करता है, और वह क्रमशः इस स्थिति को प्राप्त हो जाता है—

> प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
> आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
> (गीता २/५५)

...त-शब्द की साधना को और भी स्पष्ट किया गया है—

लिव लागी तब जाणिये, आठूं पहोर अभंग।
कदू न छोड़ूं रामदास, सुरत-सबद का संग॥

यह संतमत की साधना में समाधि के पूर्व की ध्यानावस्था है। इस अवस्था को प्राप्त होने पर साधक की साधना प्रौढ़ावस्था को पहुँच जाती है और वह परिपूर्णता की ओर द्रोघ्रता से अग्रसर होता है। उपर्युक्त वृत्ति से योग विधि सहित अविराम 'राम' नाम का स्मरण करने से सर्वप्रथम रसना स्थित एक नाड़ी जागृत हुई और पियुष रस स्त्रवित हो नाड़ी नाड़ी में प्रवाहित होने लगा। कण्ठ गद्गद् हो गया और हृदय में विविध ध्वनियों की चमत्कार सुनाई देने लगी। समस्त स्नायु मण्डल चेतन हो गया। अन्ततः शब्द की गति इडा-पिंगला एवं सुषुम्ना के मूलस्थान 'त्रिवेणी' में जा कर अवस्थित होजाती है—

इड़ा पिंगला सुषमणा, तिरवेणी के तट्ट।
रामदास ताऊपरै, भव्या सहज ही भट्ट॥

आचार्य श्री ने अपनी साधना का विवरण देते हुए लिखा है कि इस अवस्था में 'राम' नाम समस्त रोमावली से ररकार ध्वनि के रूप में होने लगा।

नाड़ नाड़ चेतन भई, रूँम रूँम झणकार।
उर अन्तर विच रामदास, एक सबद ररकार॥१॥
धुन लागी आकाश में, रूँम रूँम झणकार।
नख सिख सारा बिंधिया रामदास ररकार॥२॥

❀ ❀ ❀ ❀

रूँम रूँम विच रामदास, चलत सुखमण की सौर।
नाड़ नाड़ अमृत झरै पोखत सबै सरीर॥१॥
साढ़ा तीन किरोड़ में, एक होत ररकार।
सहजे सिवरण रामदास, ताका अन्त न पार॥२॥

पुनः—उर अन्तर नख सिख विचे, एक अजप्पा होय।
रामदास या संतगति, साधू जाणें कोय॥३॥

साधना की इस उच्च भूमिका को विरले ही साधक सिद्ध करने में सफल हो पाते हैं। इस भूमिका में पहुँचे हुए साधक में स्थितप्रज्ञता के लक्षण विकसित हो जाते हैं। निरन्तर अजप्पा जाप होता है। श्री रामदासजी महाराज बताते हैं कि उन्हें इस अवस्था में भी परब्रह्म के दर्शन नहीं हुए। आत्म साक्षात्कार नहीं हुआ। फलतः उनकी विरह वेदना तीव्र हो जाती है। पीव मिलन की प्रतीक्षा के ये क्षण असह्य हो जाते हैं। भीतर विरह ज्वाला है तो नेत्रों में रो रो कर पीड़ा :—

अन्तर दाभण मिलन को, पिंजर करे पुकार।
नेणा रोय राता किया, तो कारण भरतार॥१॥
दरसण कारण रामजी, तलफत हूं दिन - रात।
रामा पिव पायो नहीं आण हुवो प्रभात॥२॥

अब आपको भगवद्दर्शन के बिना गया हुआ दिन व्यर्थ जान पड़ता है। उनके विचार में वही दिन सफल माना जायगा, जिस दिन परब्रह्म के दर्शन होंगे, आत्म साक्षात्कार होगा :—

तुमरे दर्शन बाहिरो, सब दिन अहला जाय।
सो दिन नीका होयगा, तुम हो मिलोगे आय॥१॥
अन्तर दाभण विरह की, तुम कारण निज राम।
तुमरं दरसण बाहिरो, सकल अधूरो काम॥२॥

फलतः प्रत्येक पल विरह में व्यतीत हो रहा है। विरह की वेदना बेहद बढ़ गई है। धैर्य की भी कोई सीमा होती है :—

आठ पहोर चोसठ घड़ी, झूरत मेरा जीव।
रामदास दुखिया घणा, दरसण दो अब पीव॥

करुण भाव से व्यग्रतापूर्वक प्रियतम से मिलन हेतु प्रेमपूर्वक प्रह भरा निवेदन किया जाता है। निश-दिन चैन नही पड़ती, फिर भवदर्शन नही होते। तब निराशाजन्य खीझ बढ जाती है और न निस्सार प्रतीत होने लगता है। इस विरहजन्य विक्षोभ का फोट इस प्रकार होता है :—

रामदास कहे विरहिनी, जाल करुं तन छार।
हरिदरसण पायो विना, ध्रिग जीतब जम्मार ॥१॥
ध्रिग हमारा जीवियां, भोग करूं तन सुख।
रामदास साँई बिनां, रोम रोम में दुख ॥२॥

विरह की वेदना, निराशा की पीड़ा एवं अधिकार के खीझ परान्त भी उनकी साधना में तनिक भी शिथिलता नही आती। प्रतीक्षा की घड़ियों मे भी एकनिष्ठा एवं लगन की न्यूनता प्रतीत होती। उन्हे दृढ़ विश्वास है कि वह परात्पर परब्रह्म इस विरही ार सम्भार अवश्य लेगा क्योंकि वह तो सुख के सागर (परमानन्द-प) है। अतएव सारी बात उन्हीं पर छोड़ पूर्ण शरणागत हो समर्पण कर देते हैं—

तुम सुख सागर सांइयां, विरही दाभ मिटाय।
दव लागो तन भीतरे, तुम मिलियां सुख पाय ॥१॥
मो भुरवा को जोर है, दूजा कछु न होय।
तुम हो जैसी कीजिये, दरसण दीजे मोय ॥२॥

श्री रामदासजी महाराज अपनी साधना एवं तारक 'राम' के स्मरण का विवरण देते हुए कहते हैं कि निरन्तर श्वासोच्छ्वास मे दो मास तक स्मरण किया। इस समय शब्द की गति रसना ास्थित रही। तदोपरान्त वह कण्ठ कमल में होती हुई हृदय कमल च कर प्रवृष्ट हो गई। वहाँ वह एक वर्ष और पांच दिन तक पत रही—

वर्ष एक अष्ट पंच दिन, हृदय कमल में ध्याय।
उत्तम सिवरण रामदास, सहजां सुरत लगाय॥

जब शब्द की गति हृदय कमल को छोड़ गतिशील हुई तो वह नाभी कमल में जाकर रुकी, जहाँ दो वर्ष तक विश्राम करने के उपरान्त वंकनाल को पार कर मेरुदण्ड में होती हुई त्रिकुटी में पहुँची—

नाभी कमल अस्थान में, वर्ष दोय विश्राम।
वकनाल हुए रामदास, लिया मेरु मुकाम॥

आठ वर्ष और चार माह तक त्रिकुटी के पश्चिम हिस्से में ररकारयुक्त प्राण की गति अवरुद्ध रहने के पश्चात् श्री रामदासजी महाराज को शून्य स्थान की प्राप्ति हुई।

आठ बरस और मास चत, पिछ त्रुगुटी घाट।
रामदास ताके पछें; खुलो सुन्न को वाट॥

इस तरह ग्यारह वर्ष, छः माह एवं पांच दिनों की सतत साधना, विरह वेदना और योग सहित 'राम' नाम स्मरण के फलस्वरूप विक्रम सम्वत् १८२० के कार्तिक मास में आप निर्विकल्प असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में अवस्थित हुए और उन्हें आत्म साक्षात्कार अथवा ब्रह्म सत्ता के दर्शन हुए—

रामदास बीसों बरस, तामें काती मास।
ता दिन छाड़ि त्रगुटी, किया ब्रह्म में वास॥

'सुन्न की वाट' खुल जाने से अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र का छेदन करने के पश्चात् ब्रह्म दर्शन हो गया और स्वतः अजप्पा जाप होने लगा। साधना की इस चरम सिद्धि को आप सब को सुना कर उद्घोषित करते है—

रामदास सिवरण तणा, विवरा देऊँ बताय।
घट माहीं अजपा हुवं; सुणो सकळ चित्त लाय॥

और भी स्पष्ट शब्दों में—

> ज्ञानी ध्यानी सब सुणों, सुणों जगत अरु भेख।
> रामदास सांची कहे, मिलिया अमर अलेख॥

यहाँ पर अजप्पा जाप होता है। बिना रसना के सहज-स्मरण चलता रहता है और ररंकार ध्वनि गुञ्जित होती है—

> रामदास देही परे, मिल्या विदेह में जाय।
> जहाँ ररकार रसना बिना, सहज रहे लिव लाय॥

इस भूमिका में प्रविष्ट होने के पश्चात् काल की घात नहीं लगती और आत्मा ब्रह्मानन्द में निमज्जित रहने लगी।

> जहं जनम मरण व्यापे नहीं, नहीं काल को त्रास।
> रामदास जहं मिल रह्या, बारे मास सुकाल॥

अन्ततः जीव और शिव—आत्मा और परमात्मा का अभेद स्थापित हो जाता है। जीव ही शिवरूप बन जाता है। यही जीवन मुक्त अवस्था है—

> जीव सीव मेला भया, मिले ओत अरु पोत।
> रामा साँई एक है, जहाँ ब्रह्म रूप जोत॥

जीव (रामा अर्थात् श्री रामदासजी महाराज) सीव (शिव-परमात्मा) की अभिन्नता स्थापित हो गई। अब वे ज्योतिस्वरूप ब्रह्म की सत्ता से पूर्णतया अनुप्राणित होकर स्वयं को सत् चित एव आनन्द स्वरूप अनुभव करने लगे। यह आत्म साक्षात्कारजन्य अनुभूति की प्रत्यक्ष प्रतीति की अभिव्यक्ति है। उन्होंने आत्म सत्ता की ब्रह्मसत्ता के रूप में प्रतीति की अनुभूति को और भी स्पष्ट रूप से इस प्रकार व्यक्त किया है—

> जोत मिलाणी जोत में, एकमेक दरसाय।
> रामा साँई एक है, कहूं न्यारा नाय॥

इस प्रकार विक्रम सम्वत् १८२० के कार्तिक मास में भ्रामेर गांव के तालाब की एक छत्री के नीचे साधना करते समय श्री रामदासजी महाराज को निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त हुई। फलतः आपके जीवन मे दिव्य एवं अलौकिक शक्तियों का स्फुरण होने लगा। योगीराज श्री अरविन्द ने साधक को साधना की सर्वोत्कृष्ट भूमिका प्राप्त होने पर जीवन में जिस ईश्वरीय शक्तियों और ब्रह्मसत्ता के अवतरण की बात कही है, वैसो ही अनुभूति और दिव्यसत्ता का जीवन में अवतरण होने की चर्चा श्री रामदासजी महाराज ने भी अपने वाणी साहित्य में की है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि आपकी साधना कितनी उत्कृष्ट थी; जीवन कितना अलौकिक एव दिव्य सत्ता सम्पन्न था।

फलतः हमें उनके जीवन में अनेक प्रकार की चमत्कारिक घटनाएँ घटित होने के वृतान्त पढ़ने और सुनने को मिलते हैं। इनमें से दुष्ट एवं क्रूरकर्मी व्यक्तियों के स्वभाव में परिवर्तन हो उनका नम्र, सुशील और सभ्य संस्कृत बनना; संकटग्रस्त लोगों को अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में सहायता पहुँचाना, अकाल पीड़ित क्षेत्रों में निर्दिष्ट समय पर वर्षा करवाना, उन तांत्रिकों और सिद्ध योगियों को सुपथ पर लाना अथवा उनकी अतीन्द्रिय शक्तियों का अपहरण कर तत्सम्बन्धी सिद्धियों और चमत्कारों से वंचित करना, जो अपनी शक्ति का प्रयोग लोगों को सन्त्रस्त एवं उत्पीडित करने के कार्यों में किया करते थे। देवगढ़ में एक साथ ग्यारह प्रेतों को उनकी प्रेत योनि से मुक्त कर वहाँ के लोगों को प्रेत भय से सर्वथा मुक्त करना आदि घटनाएँ उल्लेखनीय है।[1]

विविध घटना प्रसंग :—मुगल साम्राज्य के पतन काल में दक्षिण भारत के अन्दर हिन्दू संस्कृति और सभ्यता के रक्षक मराठा साम्राज्य का उदय और विकास हुआ। परन्तु कुछ तो तत्कालीन

---

१. श्री गुरुग्रकरण परचो एव आचार्य चरितामृत।

संघर्षमय परिस्थितियों के कारण और कुछ योग्य उत्तराधिकारियों के अभाव में वह लोक पोषक और लोक-कल्याणकारी राज्य का रूप धारण करने के बजाय जन उत्पीड़क बन गया। अर्थात् मराठे पश्चिम और उत्तर के निर्बल सैन्य शक्ति वाले रजवाड़ों पर आक्रमण कर वहाँ की निरीह और निरपराध जनता को लूट खसोट कर अपना खजाना भरने लगे। इसी उद्देश्य से विक्रम सम्वत् १८१३ में सेनापति माधोजीराव सिंधिया के नेतृत्व में विशाल मराठा सेना ने राजपूताना पर आक्रमण किया एवं वह लूट-खसोट करती हुई मारवाड़ राज्य की राजधानी जोधपुर के निकट पहुँच गई। उस समय आचार्य श्री रामदासजी महाराज मेलाणा ग्राम (जोधपुर) मे साधनारत थे। मराठा सेना की लूट-खसोट और नृशंस हत्याओं की कहानी लगातार वहाँ पर भी पहुँच रही थी। राज्य में अराजकता फैल गई थी। मराठा सेना के आतंक से राज्य में त्राहि-त्राहि हो रही थी, परन्तु उनका त्राण करने वाला नजर नहीं आ रहा था।

विशाल सैन्य शक्ति के दर्प से मदोन्मत और नृशंस हत्याओं के कल्मष से कलुषित हृदय एवं लूट के माल की विलासिता में डूबा यह मराठा सेना का सरदार जब मेलाणा ग्राम की सीमा में प्रवेश करता है, तो वह आचार्य श्री रामदासजी म० की प्रेरणा से उत्साहित उस गाँव के ठाकुर वीर नारखानसिंह को अपने दो चार साथियों सहित मुठभेड़ के लिये खड़ा पाता है। रियासत की सेना भी उनका प्रतिरोध करने में कतराती थी, वहाँ एक छोटे से गाँव का ठाकुर मात्र अपने भयभीत साथियो के संग निर्भीक भाव से विशाल मराठा सेना से टक्कर लेने को तत्पर देख सेनापति विस्मित हो; हाथी से नीचे उतर पैदल ही उस वीर के पास पहुँचता है। श्री नारखानसिंह उस सेनापति को बताता है कि वह एक 'सत' के आशीर्वाद से अपने क्षत्रिय धर्म की रक्षार्थ मराठा सैन्य से दो दो हाथ कर लेने को उद्यत है। उनकी इस वार्ता से सेनापति अत्यधिक प्रभावित हो श्री रामदासजी म० के दर्श-

नार्थ जाता है; और उनके व्यक्तित्व से अतीव प्रभावित हो, उपदेश ग्रहण करता है एवं लूट-खसौट तथा हत्याएँ तत्काल बन्द कर मारवाड़ (जोधपुर) राज्य की सीमा से बाहर चला जाता है। आपके इसी उपदेश का यह फल था कि राजपूताना पर, खास कर जोधपुर रियासत पर काफी समय पर्यन्त मराठा सेना का आक्रमण नहीं हुआ। साथ ही माधोजीराव ने जनता को न लूटकर देशी राजाओं से धन बटोरने की नई नीति का प्रतिपादन किया। जब मराठा सेना ने वि०स० १८४६ में पुनः इस प्रदेश पर आक्रमण किया तब वह जोधपुर महाराजा से कई लाख मुद्राएँ वसूल कर जनता में बिना किसी प्रकार की लूट-पाट किये लौट गई।

विक्रम सम्वत् १८४६ में बीकानेर के तत्कालीन महाराजा श्री सूरतसिंहजी ने श्री रामदासजी म० के व्यक्तित्व एवं धर्म कार्य से प्रभावित हो आपको आग्रहपूर्वक बीकानेर में बुलवाकर राज्य की ओर से चातुर्मास करवाया और स्वयं ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। आपके उपदेश से महाराजा का स्वभाव नम्र और उदार बन गया। उनके कठोर शासन से आतंकित जनता ने सुख की सांस ली।

कहा जाता है कि इसी वर्ष बीकानेर में समय पर वर्षा नहीं होने से अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई। शहर में पीने के लिये तालाबों में संचित जलराशि चुकने लगी। शनैः शनैः अकाल एवं जलाभाव का संकट विकट होने लगा। समस्या की भयंकरता की खबर श्री रामदासजी म० के कान तक भी पहुँच गई। एक दिन दैनिक धर्म प्रवचन की समाप्ति पर आपने सहजभाव से संकट के निवारणार्थ प्रभु से प्रार्थना की, उपस्थित श्रोतावृन्द ने भी अनुकरण किया। वह प्रार्थना क्या थी; मानो वर्षा करने का इन्द्र को आदेश था। उसी रात्रि को ऐसी वर्षा हुई कि बीकानेर शहर के सारे तालाब भर गये। लगातार तीन दिन तक बीकानेर रियासत के विभिन्न भागों में वर्षा होती रही; जिससे अकाल का संकट भी दूर हो गया।

सम्भवत: विक्रम सम्वत् १८५०-५२ में आपने मालवा की धर्म प्रचार यात्रा की। इस समय आपके द्वारा मालव प्रदेश (म० प्र०) के रतलाम शहर एवं चम्बल घाटी के सुविस्तृत क्षेत्र में धर्म प्रचार किया गया। वह चम्बल घाटी, जो आज भी 'डाकू' नाम का पर्याय बनी हुई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इस घाटी के डाकुओं को नियंत्रित करने के लिये स्वतंत्र भारत सरकार को भी लोहे के चने चबाने पड़े हैं। आज भी जनता में लूट का आतंक छाया हुआ है और सरकार के समक्ष डाकू समस्या न्यूनाधिक रूप में बनी हुई है। इस डाकू समस्या का इतिहास अतीत के ठेठ प्रारम्भिक छोर से आरम्भ होता प्रतीत होता है। फिर उस समय डाकुओं को लूट-पाट करने की कम मौज क्यों रही होगी जबकि उनका प्रतिरोध करने वाली शक्ति सम्पन्न राज्य सत्ता और सुसंगठित पुलिस एवं सैन्य शक्ति का अभाव था। ऐसे समय में श्री रामदासजी महाराज ने चम्बल घाटी मे डाकुओं के आतंक से आतंकित उस प्रदेश में एवं सुदूर मैदानों में फैले हुए डाकुओं से सम्बंधित परिवारों में धर्म प्रचार कर डाकू कर्मी व्यक्तियों को सत्पथ पर लाने और जन-जीवन में शान्ति स्थापित करने का बीड़ा उठाया।

डाकू समस्या से निपटने का इनका तरीका बड़ा ही मौलिक एवं अनोखा था। वे जन समाज में सत्य नीति एवं धर्मोपदेश करके उन्हें सत्पथ पर चलने के लिये प्रेरित करते थे। उनके उपदेश का प्रभाव भी तत्काल और प्रभावी हुआ करता था। उनके धर्मोपदेश से भयग्रस्त लोगों में आत्म शक्ति का सचार होता और डाकू दलो के सन्देश सूत्रों मे आत्मग्लानि एव हीनता का भाव भर जाने से आत्म-शक्ति की क्षीणता बढ़ती जाती। अन्ततः वे डाकुओं की सहायता करने से मुकर जाते।

इस प्रकार जनमत को धर्मोन्मुख करने से मैदानी क्षेत्रों में डाकुओं के आश्रयस्थल एवं सन्देश सूत्रों की सख्या क्रमशः घटने लगी।

इसके अतिरिक्त डाकुओं को अपने दलों में भर्ती करने हेतु प्रतिवर्ष गांवों से जो नौजवान मिलते थे; वे जवान अब श्री रामदासजी महाराज के धर्मोपदेश से प्रभावित हो डाकू कर्म अपनाने के बजाय दूर प्रदेशों में जा कर उद्यम करने अथवा अंग्रेज या रजवाड़ी सेनाओं में प्रवेश प्राप्त कर अपनी जीविकोपार्जन करने के लिये प्रेरित हुए। इनके उपदेशों से वे परिवार भी प्रभावित हुए जिनका एक या एक से अधिक सदस्य डाकू दलों में मिल गये थे, और लूट के धन से अपने परिवारों का पोषण करते थे। अब उन्हें अपने परिजनों से डाकू कर्म के लिये प्रोत्साहन के बजाय भर्त्सना सुनने को मिलना आरम्भ हो गया।

इस प्रकार आचार्य श्री रामदासजी महाराज के धर्मोपदेश से चम्बलघाटी एवं उससे सम्बद्ध मैदानी प्रदेश का सम्पूर्ण परिवेश ही परिवर्तित होने लगा। उनके बढ़ते हुए प्रभाव को सुन सुन कर डाकू दलों के नेता चिढ़ने लगे। उन्होंने बढ़ते हुए इनके प्रभाव का प्रतिरोध करने की परियोजना पर सोचना प्रारम्भ कर दिया। अन्ततः एक योजना बनी और उसका कार्यान्वयन करने का काम मालव प्रदेश के दोतरिया ग्राम के ठाकुर सालमसिंह को सौंपा गया, जो स्वयं डाकू दलों के आश्रयदाता थे। उनकी सहायतार्थ एक खूंखार डाकू सारंगा को जो एक बड़े डाकू दल का सरदार था, नियुक्त किया गया। निश्चय यह हुआ कि आचार्य श्री को धर्मोपदेश करवाने के बहाने दोतरिया बुला लिया जाय जहां उनके रथ, बैलिये, घोड़े, ऊंट और माल असबाब छीन एवं उन्हें अपमानित कर गांव से बाहर खदेड़ दिया जाय। तत्पश्चात् सारंगा अपने दल-बल सहित आक्रमण कर उस जंगली मार्ग में आचार्य श्री रामदासजी महाराज को एवं उनके सैकड़ों साधुओं को मौत के घाट उतार कर अपनी मनोरथ सिद्धि करें।

योजना के अनुसार दोतरिया ग्राम के ठाकुर श्री सालमसिंह स्वयं श्री रामदासजी महाराज के पास गये और उन्हें धर्मोपदेश करने

के लिये दोतरिया में आमंत्रित कर लौट आए। निश्चित तिथि पर श्री रामदासजी महाराज दोतरिया में पधार गये। आचार्य श्री एवं उनकी विशाल शिष्य मण्डली के अप्रतिम प्रभाव से श्री सालमसिंह प्रथम भेंट में ही प्रभावित हो चुके थे। अतः अपनी योजना को कार्यान्वित करने के पूर्व वह एक बार पुनः उनके पावन चरणों में जा उपस्थित हुआ। इस बार उनकी प्रथम भेंट श्री दयालुदासजी महाराज से हुई। उनकी प्रखर प्रतिभा, प्रभावी व्यक्तित्व, प्रचण्ड ओजमयीवाणी, अनुपम वाक्पटुता एवं अप्रतिम तेजस्विता से श्री सालमसिंह अभिभूत हो गये। फिर आचार्य श्री का उपदेश सुन कर तो उसके विचार ही बदल गये। उसने तत्काल पूर्व निश्चय को त्याग दिया और आचार्य श्री का शिष्यत्व स्वीकार कर लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया। घर पर लौट कर अपने साथियों को समझा बुझा कर बैठा दिया और तत्काल यह नवीन शुभ सन्देश (कि इन महापुरुषों का शिष्यत्व स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है) डाकू सारंगा के पास भेज कर उसे भी आचार्य श्री रामदासजी महाराज का उपदेश श्रवण करने के लिये प्रेरित किया।

डाकू सारंगा यह सन्देश पा कर अत्यधिक क्रुद्ध हुआ। उसने सालमसिंह को विश्वासघाती एवं उनके सहायकों को कायर कह कर धिक्कारा। वह अपने पूर्व निश्चय पर अडिग रहा। उसने अपने दल-बल को दोतरिया गाँव के चारों तरफ फैला दिया और सब मार्गों की नाके-बन्दी कर दी। ठाकुर सालमसिंह को जब मालूम हुआ तो उसने सारंगा के विचारों को परिवर्तित करने के लिये पुरजोर प्रयास किया। परन्तु जब उसके सारे प्रयास निष्फल हो गये तब वह अति चिन्तित हो आचार्य श्री के पास पहुँचा और अत्यधिक लज्जित हो सारा वृतान्त कह सुनाया। आचार्य श्री ने परिस्थिति के परिवर्तित होने के लिये धैर्यपूर्वक चौबीस घण्टा और प्रतीक्षा करने एवं चिन्तामुक्त हो जाने का उपदेश दिया। उसी रात्रि को एक मामूली घटना ऐसी

घटित हुई कि वह सबल डाकू एक भाला के मूसल प्रहार से मारा गया और शेष डाकू भाग खड़े हुए।

इस प्रकार चम्बल घाटी में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने में आपका मुख्य हाथ रहा। यही वह समय था जब तत्कालीन रतलाम नरेश (मध्यप्रदेश) को भी धर्मोपदेश कर सत्याचरण और न्याय के पथ पर चलने के लिए प्रेरित किया। आपने समाज को धर्म के पथ पर और शासन सत्ता को न्याय एवं नीति के पथ पर चलने को प्रेरित कर लोक जीवन में सुख शान्ति एवं समृद्धि की वृद्धि करने में अपूर्व योगदान किया।

विक्रम सम्वत् १८५५ की असाढ कृष्णा सप्तमी के दिन आपको निर्वाणपद प्राप्त हुआ। उस समय इनके उत्तराधिकारी आचार्य श्री दयालदासजी महाराज द्वारा 'गुरु प्रकरण परची' नाम से एक प्रबन्ध काव्य की रचना की गई; जिसमें विस्तारपूर्वक आपका जीवन चरित्र दिया गया है। पुनः खेड़ापा पीठ के भूतपूर्व सम्प्रदायाचार्य श्री हरिदासजी महाराज ने 'आचार्य चरितामृत' नामक पुस्तक की गद्य मे रचना कर इनके जीवन चरित्र को प्रकाशित किया। इनके अतिरिक्त 'श्री रामस्नेही मत दिग्दर्शन' एवं 'श्री रामदासजी महाराज की वाणी' के प्रारंभ में भी आपका जीवनवृत्त दिया गया है। अतः यहाँ पर आपका 'सम्पूर्ण जीवनचरित्र न देकर कुछेक घटनाओं का वर्णन किया गया है। विस्तारभय से कई महत्वपूर्ण घटनाओं को भी छोड़ दिया गया है।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य श्री रामदासजी महाराज का समाज और सत्ता दोनों ही से प्रायः निकट और घनिष्ट सम्बन्ध रहा करता था। धर्म प्रचार यात्राओं के समय विभिन्न मत; अनेक वर्गों एवं विचारों के व्यक्तियों को धर्मोपदेश करने का आपको ... मिला था। फलतः तत्कालीन समाज आपके चिन्तन एवं ... से प्रभावित हुआ। जहाँ तक सत्ता का प्रश्न है; तत्कालीन

राजसत्ता की धुरी रियासती राज्य थे। प्रायः राजपूताना के अधिकांश रजवाड़ों (राज्यों) ने आपको राजमान्यताएँ देकर सम्मानित किया। इसके अतिरिक्त गुजरात, मध्यप्रदेश, हरियाणा एवं महाराष्ट्र प्रदेश के अधिकांश सम्राटों, सामन्तों एवं ठिकानों के सरदारों और ग्रामाधिपति ठाकुरों ने राजमान्यताएँ एवं अव्वल ताजिमें (सम्मान) भेंट कर कइयों ने आपका शिष्यत्व स्वीकार किया। इससे यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन शासन सत्ता पर आपका कितना प्रभाव रहा होगा।

आचार्य श्री रामदासजी महाराज का प्रचार क्षेत्र भी काफी विस्तृत था। उनके अनेकानेक शिष्य देश के पश्चिमी भाग, पश्चिमोत्तर प्रदेश एवं दक्षिण भारत मे गये और वहाँ धर्म; नीति; न्याय एवं आध्यात्मिकता का प्रचार–प्रसार किया। जनता को भक्ति, तत्वज्ञान एवं सरल तथा सुबोध और सहजगम्य साधना पद्धति का ज्ञान दिया। उन्हें अज्ञान, आडम्बर एवं अन्धविश्वासों की कारा से मुक्त कर एक स्वस्थ तथा सुन्दर जीवन जीने के योग्य बनाया। आपने स्वयं भी इस विस्तृत भू-भाग पर कई बार धर्म प्रचार यात्राएँ कर लोगों को अपने उपदेशों द्वारा राग–द्वेष से मुक्त कर बन्धुत्व भावना से जीवन-जीने की कला सिखाई।

आपकी शिष्य मण्डली में अनेकों भजनानन्दी, विरक्त; परमहंस एवं दिगम्बर साधक एवं सिद्धमहात्मा हुए हैं। उनमें से ५२ शिष्य विशेष लोकसंग्रह चाहने वाले; प्रतापी एवं सुधारक हुए हैं। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जा कर 'रामद्वारा' स्थापित किये। इन धार्मिक संस्थानों के माध्यम से उन प्रदेशों में धर्मोपदेश एवं आध्यात्मिक साधना की परम्पराएँ स्थापित हुई; जिनका विगत ढाई शताब्दी पर्यन्त धार्मिक जगत एवं लोक जीवन पर जीवन्त प्रभाव रहा है ये धार्मिक-सामाजिक संस्थान (रामद्वारा) आज भी शिक्षा प्रचार, धर्मोपदेश एवं समाज सेवा के रूप मे औषधालय संचालन एवं विविध जन कल्याणप्रद कार्य करते हुए देश के विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान है।

ॐ—ॐ
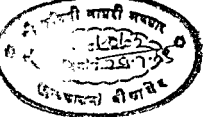
सोलहवाँ अध्याय - (१६)

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज

भारत में समाज सुधार एवं धार्मिक पुनर्जागरण के दो सौ वर्षों के इतिहास में जिन लोक-नायक नेताओं और संतमत के साधकों को स्मरण किया जाता है, उनमें अचार्य श्री दयालदासजी म. का विशिष्ट स्थान है। यद्यपि इनका कृतित्व एवं व्यक्तित्व किसी साहित्यिक अध्येता की कलम और इतिहासकार की लेखनी का विषय नहीं बना है; तथापि लोक समाज एवं धार्मिक जगत में अपने अप्रतिम व्यक्तित्व के लिये आप सदा स्मरणीय और सम्माननीय रहे हैं। आप धार्मिक सम्प्रदाय के आचार्य एवं लोक धर्म के पुनः प्रतिष्ठापक एक आध्यात्मिक महापुरुष के रूप में सुविख्यात हैं।

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी थे। धार्मिक अन्ध विश्वास, पाखण्ड, वामाचार, एवं बाह्य आडम्बरों के प्रति उनकी वाणी में कबीर की-सी निर्भीकता और ओजस्विता पाई जाती है। एक तरफ उनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती के समान योग साधना, बौद्धिकता एवं तार्किकता के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर उनमें स्वामी विवेकानन्द के समान आध्यात्मिक अनुभूति की गहनता, अन्यान्य मतों के प्रति सहिष्णुता एवं समन्वयता झलकती है। उनमें एक तरफ जहाँ सूरदास तथा मीरां के समान सच्चे भक्त हृदय की पावनता, दीनता, शरणागति एवं समर्पणता के भाव पाए जाते हैं, दूसरी ओर तुलसी की-सी काव्य प्रतिभा, उदार हृदयता एवं लोक धर्म के पुनरुत्थान की सजगता जान पड़ती है। सामाजिक

क्षेत्र में निम्नवर्ग के उत्थान के लिये उनमें महात्मा गांधी के समान तत्परता के दर्शन होते है।

ये धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक आदर्शों को वाग्विलास के साधन न मान कर इनकी व्यवहारगत व्याख्या के समर्थक होने से कथनी और करनी की एकता के पक्ष - पाती थे। उनकी दृष्टि मे धर्म परम्परागत कर्मकाण्ड, तीर्थाटन एवं आडम्बरपूर्ण अनुष्टानों तक ही सीमित न हो कर साधना और अनुभूति तथा साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन का विषय है। अतएव धर्म पण्डितों तथा मुल्लाओं के तर्क एवं बौद्धिक चर्चा का विषय नहीं अपितु वह जनसाधारण के आचरण के लिए हैं। इस प्रकार वे समाज सुधारक एवं धार्मिक पुनर्जागरण के सच्चे प्रतिनिधि कहे जा सकते है।

संतमत के प्रचारकों में आचार्य श्री दयालदासजी का स्थान सर्वोपरि है क्योंकि अन्यान्य संतमत के प्रचारकों की तरह इनका दृष्टिकोण एकांगी व संकीर्ण न होकर विशाल, सर्वांगीण एवं उदार है। इसी तरह इनका चिन्तन सुस्पष्ट एवं साधना पद्धति सुनिश्चित है। अन्यान्य संत जहाँ बहुश्रुत तथा स्वानुभवी थे, वहाँ ये धर्म-विज्ञान, समाजशास्त्र एवं साहित्य तथा काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ होने के साथ ही साथ साधना और आध्यात्मिक अनुभूतियों के धनी बहुज्ञ मनीषी एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में पहुँचे हुए महात्मा माने जाते हैं। ये भक्त, साधक कवि, समाज सुधारक, तत्वज्ञ, दार्शनिक एवं आचार्य आदि सब गुण सम्पन्न विशिष्ट विभूति थे।

आपके व्यक्तित्व में उदारता, बौद्धिकता, भक्त हृदय का दैन्य, शरणागति एवं समर्पण और आर्जवतादि गुण स्वाभाविक रूप में पाए जाते हैं। साधना की उत्कृष्टता और आध्यात्मिक सिद्धि फल-स्वरूप चमत्कारिता भी आपके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग कहा जा सकता है। मूल रूप में ये आध्यात्मिक महापुरुष थे। अतः आप [illegible] थे और सुधारक बाद मे। प्रथम भक्त थे और उपदेशक

बाद मे। इनमें से उत्कृष्टतम पक्ष कौन सा है; यह कहना कठिन है। वस्तुतः आपका जीवन-चरित्र लौकिक कृतित्व एवं लोकोत्तर सत्ता से समन्वित दिव्य व्यक्तित्व का अनुपम उदाहरण है। इनकी तुलना के लिए धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में स्वामी विवेकानन्द के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्तित्व उपलब्ध नहीं होता है।

आचार्य श्री दयालदासजी म. ने संतमत को पूर्णता और उसकी साधना को परिपक्वता की चरम परिणति तक पहुँचा कर उसे एक तरफ जहाँ आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता की दृढ भित्ति प्रदान की, वहाँ दूसरी ओर उसे लोक जीवन में प्रतिष्ठित करने में जो सफलता प्राप्त की उसके पश्चात् इस क्षेत्र में और कुछ करना शेष नहीं रह गया था। अतएव संत कबीर से संतमत का आध्यात्मिक साधना की एक प्रणाली एवं धार्मिक पुनर्जागरण एवं समाज सुधार आन्दोलन के रूप मे सूत्रपात होता है; तो आचार्य श्री दयालदासजी महाराज से उसका समाहार होता प्रतीत होता है। इस प्रकार आप धार्मिक पुनर्जागरण एवं संतमत के प्रचारकों की सुदीर्घ शृंखला की अंतिम कड़ी स्वरूप थे; जिनके व्यक्तित्व में उनके पूर्ववर्ती अनेकानेक विभूतियों की विशिष्टताएँ समाहित थी; परन्तु इनका स्वय का व्यक्तित्व जिन-जिन विशेषताओं एवं खूबियों से विभूषित था; उनकी झलक अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतएव जब तक आपके बृहत् वाणी साहित्य का सम्यक् अनुशीलन, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का अध्ययन एवं साधना पद्धति का अनुसन्धान नहीं किया जाता है, तब तक संतमत की दार्शनिक पृष्ठभूमि; उनकी साधना का स्वरूप एवं लोक समाज में उसकी उपादेयता का अध्ययन अपूर्ण ही कहा जायगा।

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज का जीवन-चरित्र सिद्धान्त एवं साधना; भागवत धर्म की भक्ति एवं संतमत की ज्ञान साधना के मध्य एक उज्ज्वल समन्वय सेतु का निर्माण करता है; जिस पर चल

कर वैष्णवों की केवल भावुकता और संतों की तार्किकता अथवा उनकी उलट बाँसियों के परे विशुद्ध एवं लोक जीवन के लिये अधिक उपादेय धर्म के स्वरूप को जाना जा सकता है। इनके जीवनादर्श एवं वाणी साहित्य से उस आध्यात्मिकता की झलक पाई जा सकती है; जो मानव के इस जीवन को लोक कल्याणकारी एवं लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व प्रदान करता है।

इस प्रकार भारत में ऋषि, मुनि, संत-साधक एवं चिन्तक और सुधारकों की जो सुदीर्घ शृंखला पाई जाती है, उसमें आचार्य श्री दयालदासजी का स्थान अन्यतम है। सम्भवतः भारतवर्ष के पश्चिमी छोर, राजस्थान की इस वीर प्रसूता वसुन्धरा पर तो जाज्वल्यमान संध्या शुक्र सदृश एकमात्र आपका दिव्य व्यक्तित्व ही आलोक विकीर्ण कर रहा प्रतीत हो रहा है। यद्यपि इस क्षेत्र में कुछेक महापुरुषों द्वारा विशृंखलित होती हुई सामाजिक व्यवस्था में संगठन स्थापित करने और हताश जनमानस, जो मुस्लिम फकीरों के चमत्कारों के कारण इस्लाम धर्म के प्रभाव में आकर स्वजाति और स्वधर्म से च्युत हो रहा था; की निष्ठा को पुनः पुनः सनातन धर्म और स्वजाति के प्रति कायम करने के प्रयास अवश्य ही किये जाते रहे हैं, परन्तु धर्म का वास्तविक स्वरूप, समाज की आन्तरिक शुद्धि, चरित्र निर्माण और आध्यात्मिकता की जो विमल धारा प्रवाहित कर जिस पावन परिवेश, स्वस्थ दृष्टि, यथार्थ चिन्तन एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त सम्यक् विचारणा की प्रस्थापना करने में आप कृतकार्य हुए हैं; उसका कोई अन्य सानी नहीं मिलता।

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज संत, साधक एवं सुधारक होने के साथ ही साथ लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न एक आध्यात्मिक महापुरुष थे। आपके व्यक्तित्व ने तत्कालीन समाज, राजनीति एवं धर्म को समान रूप से प्रभावित किया। आपका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य साधना एवं आध्यात्मिकता के माध्यम से सामाजिक जीवन का

बाद में। इनमें से उत्कृष्टतम पक्ष कौन सा है; यह कहना कठिन है। वस्तुतः आपका जीवन-चरित्र लौकिक कृतित्व एवं लोकोत्तर सत्ता से समन्वित दिव्य व्यक्तित्व का अनुपम उदाहरण है। इनकी तुलना के लिए धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में स्वामी विवेकानन्द के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्तित्व उपलब्ध नहीं होता है।

आचार्य श्री दयालदासजी म. ने संतमत को पूर्णता और उसकी साधना को परिपक्वता की चरम परिणति तक पहुँचा कर उसे एक तरफ जहाँ आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता की दृढ़ भित्ति प्रदान की, वहाँ दूसरी ओर उसे लोक जीवन में प्रतिष्ठित करने में जो सफलता प्राप्त की उसके पश्चात् इस क्षेत्र में और कुछ करना शेष नहीं रह गया था। अतएव संत कबीर से संतमत का आध्यात्मिक साधना की एक प्रणाली एवं धार्मिक पुनर्जागरण एवं समाज सुधार आन्दोलन के रूप में सूत्रपात होता है; तो आचार्य श्री दयालदासजी महाराज से उसका समाहार होता प्रतीत होता है। इस प्रकार आप धार्मिक पुनर्जागरण एवं संतमत के प्रचारकों की सुदीर्घ शृंखला की अन्तिम कड़ी स्वरूप थे; जिनके व्यक्तित्व में उनके पूर्ववर्ती अनेकानेक विभूतियों की विशिष्टताएँ समाहित थी, परन्तु इनका स्वयं का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न विशेषताओं एवं भूमिकाओं से विभूषित था; उनकी अपनी पावन वाणी भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतएव जब तक आपके बृहद् वाणी साहित्य का सम्यक् अनुशीलन, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का अध्ययन एवं साधना पद्धति का अनुसन्धान नहीं किया जाता है तब तक संतमत की दार्शनिक पृष्ठभूमि, उनकी साधना का स्वरूप एवं लोक समाज में उसकी उपादेयता का अध्ययन अपूर्ण ही रह जायगा।

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज का जीवन-चरित्र सिद्धान्त एवं [illegible], [illegible] धर्म की [illegible] तक संतमत की ज्ञान साधना के [illegible] एक [illegible] [illegible] हेतु का निर्माण करता है, जिस तरह [illegible]

कर वैष्णवों की केवल भावुकता और संतों की तार्किकता अथवा उनकी उलट बाँसियों के परे विशुद्ध एवं लोक जीवन के लिये अधिक उपादेय धर्म के स्वरूप को जाना जा सकता है। इनके जीवनादर्श एवं वाणी साहित्य से उस आध्यात्मिकता की झलक पाई जा सकती है; जो मानव के इस जीवन को लोक कल्याणकारी एवं लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व प्रदान करता है।

इस प्रकार भारत में ऋषि, मुनि, संत-साधक एवं चिन्तक और सुधारकों की जो सुदीर्घ शृंखला पाई जाती है, उसमें आचार्य श्री दयालदासजी का स्थान अन्यतम है। सम्भवतः भारतवर्ष के पश्चिमी-छोर, राजस्थान की इस वीर प्रसूता वसुन्धरा पर तो जाज्वल्यमान संध्या शुक्र सदृश एकमात्र आपका दिव्य व्यक्तित्व ही आलोक विकीर्ण कर रहा प्रतीत हो रहा है। यद्यपि इस क्षेत्र में कुछेक महापुरुषों द्वारा विशृंखलित होती हुई सामाजिक व्यवस्था में संगठन स्थापित करने और हताश जनमानस, जो मुस्लिम फकीरों के चमत्कारों के कारण इस्लाम धर्म के प्रभाव में आकर स्वजाति और स्वधर्म से च्युत हो रहा था; की निष्ठा को पुनः पुनः सनातन धर्म और स्वजाति के प्रति कायम करने के प्रयास अवश्य ही किये जाते रहे हैं; परन्तु धर्म का वास्तविक स्वरूप, समाज की आन्तरिक शुद्धि, चरित्र निर्माण और आध्यात्मिकता की जो विमल धारा प्रवाहित कर जिस पावन परिवेश, स्वस्थ दृष्टि, यथार्थ चिन्तन एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त सम्यक् विचारणा की प्रस्थापना करने में आप कृतकार्य हुए हैं; उसका कोई अन्य सानी नहीं मिलता।

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज संत, साधक एवं सुधारक होने के साथ ही साथ लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न एक आध्यात्मिक महापुरुष थे। आपके व्यक्तित्व ने तत्कालीन समाज, राजनीति एवं धर्म को समान रूप से प्रभावित किया। आपका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य साधना एवं आध्यात्मिकता के माध्यम से सामाजिक जीवन का

परिष्कार कर व्यक्ति के जीवन को स्वस्थ एवं अधिक सुन्दर बनाने का प्रयास करना है।

आपश्री एवं आपके पूर्ववर्ती आचार्यों के वाणी साहित्य के अनुशीलन से स्पष्ट है कि आपने धर्म को सर्वथा नवीन रूप से परिभाषित किया। धर्म के मुख्य दो अंग—व्यवहार और सिद्धान्त; कथनी एवं करनी तथा आचरण व आध्यात्मिकता के समन्वय पर बल दिया। लौकिक जीवन के उत्थान के लिये आचरण ही धर्म है। आचरण विहीन कथन एवं रूढ़िगत दिखाऊ धार्मिक कृत्यों को उन्होंने धर्म की संज्ञा देने की अपेक्षा आडम्बर कह कर सम्बोधित करना अधिक पसन्द किया। इसी प्रकार लोकोत्तर कल्याण के लिये धर्माचरण एक साधन है; जिसके द्वारा जीवन को शुद्ध एवं सात्विक बना कर ज्ञान, कर्म एवं भक्ति तथा योग की साधना द्वारा आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त कर इस जीवन को एक साधारण लौकिक जीवन के बजाय एक दिव्य आध्यात्मिक जीवन में परिणत करना ही मानव जीवन का लक्ष्य प्रतिपादित किया गया।

इस प्रकार धर्म के आचरण एवं साधनागत—दो रूपों को दृढ़तापूर्वक स्थापित कर उन्हें परस्पर पूरक बताने वाले एवं धार्मिक जगत में एक नवचेतना का संचारण करने वाले आचार्य श्री दयालदासजी महाराज का नाम एक महान् आध्यात्मिक विभूति, और धार्मिक जगत को नवबोध प्रदान करने वाले संतमत के विशिष्ट साधक के रूप में सदा-सदा के लिये स्मरण किया जाता रहेगा।

संक्षिप्त जीवनवृत्त

जीवन चरित्र लिखने का मुख्य आधार अन्तः साक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्य हुआ करता है। पूर्व में लिखी गई जीवनियाँ भी प्रामाणिक मानी जाती है। लोक-श्रुतियों एवं अनुसन्धाता की अपने प्रवेक्षण अनुसन्धान के समय अन्य स्रोतों से प्राप्त तथ्य भी अपना महत्व रखते हैं।

जीवनी लिखना एक कठिन कार्य समझा जाता है। फिर किसी महान् आध्यात्मिक पुरुष की जीवनी लिखना तो और भी दुस्साध्य हुआ करती है। वह भी यदि अति संक्षेप में प्रस्तुत करना हो तो और भी कठिन। कारण; पूर्व मे लिखित एवं किंवदन्तियों के रूप लोक समाज में प्रचलित ढेर सारी सामग्री लेखक के सम्मुख होती है। उसमें वे घटनावृत्त भी सम्मिलित होते हैं; जिनमें चमत्कारिता, विचित्रता एवं असम्भाव्यता झलकती है। उनमें से सही घटनाओं का चयन कर पाना एवं परस्पर अन्तविरोध प्रकट करने वाली घटनाओं में संगति बैठाना किसी शोधकर्ता परिश्रमी और अनुभवी लेखक का ही काम है। अतः यहाँ पर आचार्य श्री दयालदासजी महाराज के जीवन चरित्र की कुछेक मुख्य-मुख्य घटनाओं का उल्लेख मात्र कर देना हमारा अभिप्रेत है।

इनका जन्म जोधपुर रियासतान्तर्गत बढ़ू गाँव में विक्रम सम्वत् १८१६ को मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन आचार्य श्री रामदासजी महाराज के घर 'सुन्दर' माता की पवित्र कोख से हुआ था। उस दिन भृगुवार, रेवती नक्षत्र, अमृत पुल एवं सिद्धि योग बताया जाता है। उस दिन गीता जयन्ती भी थी। इसी दिन भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के सुमंगलकारी ज्ञान का अर्जुन को उपदेश दिया था।

वर्षा ऋतु का समय समाप्त हो चुकी थी। शरद ऋतु भी अपनी किशोर वय को पार कर भरपूर यौवन की ओर भागी जा रही थी। आकाश एकदम अपनी शुभ्रता एवं नीलिमा बिखेर रहा था। प्रातःकाल का समय था। शरद-कालीन शीतल समीर मन्द-मन्द गति से संचरण कर रहा था। ऐसे सौम्य समय, आकर्षक वातावरण एवं मोहक परिवेश मे आचार्य श्री दयालदासजी म० का प्रादुर्भाव हुआ।

अभी जन्मोत्सव की प्रारम्भिक तैयारियाँ की ही जा रही थी कि आकाश अप्रत्याशित शीतकालीन श्यामल-श्यामल घने मेघों की घटा से घिर गया और वह फूट पड़ा ओलावृष्टि के रूप में। एक ओर

अवनि पर वनिताएँ मगल-गान गा रही थी तो दूसरी ओर नभ में गंभीर-रव से गहराते हुए घनों से ओलावृष्टि हो रही थी, मानों इस महापुरुष के प्रादुर्भाव के उपलक्ष में सुरपुर में देवगण पुष्पवृष्टि कर हर्षोल्लास मना रहे हों। इस प्रकार आपके जन्म के समय ओलावृष्टि एवं गीता जयन्ति का शुभ दिन होना एक विशेष शुभ बात मानी जाती है। गीता का मत है कि योगभ्रष्टजन पुनः महर्षियों के कुल में उत्पन्न होकर अपने पूर्व जन्म की अधूरी साधना को पूर्ण करते हैं। अतः भक्त जन ओलावृष्टि को देवगण का हर्ष एवं गीता जयन्ती को इस महापुरुष के ज्ञान का प्रतीक मानते हैं।

इनके परवर्ती जीवनवृत्त से ऐसा पता लगता है कि ये वस्तुतः पूर्वजन्म के योगभ्रष्ट साधक थे। इस सम्बन्ध में प्रामाणिक अन्तः साक्ष्य एवं जनश्रुति भी उपलब्ध होती है; जो नीचे लिखी जा रही है।

संभवतः विक्रम संवत् १८८३ की बात है। आचार्य श्री दयालदासजी महाराज अपनी 'रामसभा' मण्डली सहित दक्षिण भारत में धर्म प्रचारार्थ गये। आपने खेड़ापा से प्रस्थान किया और जोधपुर, पचपदरा-बालोतरा (जि० बाड़मेर) एवं सांचोर होते हुए गुजरात की सीमा में प्रवेश किया। गुजरात के विभिन्न गाँवों, कस्बों, शहरों एवं राजधानियों में धर्म प्रचार-प्रसार करते हुए कुछ दिन बड़ोदा में विराजे। एक दिन धर्मोपदेश की समाप्ति पर आपने वहीं के निवासी एक ब्राह्मण दम्पति का उल्लेख करते हुए कहा—"ये ब्राह्मण दम्पति ईश्वर के सच्चे भक्त एवं उच्च-कोटि के साधक हैं। वे जो पद गाते हैं, उन्हें सुनने की बड़ी इच्छा है।"

सभा में उपस्थित जनसमुदाय ने बताया कि वे नामवाले ब्राह्मण दू-[illegible] का पता लगाया एवं उन्हें श्री दयालदासजी म० की सभा में [illegible] उपस्थित किया गया। वे दम्पति सभा में उपस्थित हुए। [illegible] अनुरोध पर आचार्य श्री के निकट बैठ वे पद गाने लगे।

श्री दयालदासजी म० ने भी स्वर मे स्वर मिलाया। ब्राह्मण दम्पति एवं रामसभा' तथा उपस्थित श्रोता यह जानकर दग रह गये कि जो भजन ब्राह्मण दम्पत्ति गा रहे हैं; उनको प्रारभ श्री दयालदासजी महाराज द्वारा ही हो रहा है। पूरे पदो का गायन भी वे ही कर रहे है, ब्राह्मण दम्पत्ति तो केवल उनका अनुसरण कर सहगायन करने वाले है।

इस प्रकार अपरिचित पदों का पूर्व परिचित एव मानो कण्ठस्थ हों; इस भाँति गाए जाने का रहस्य ज्ञात करने की सबके मन मे उत्कण्ठा हो रही थी, तब भजन समाप्त कर श्री दयालदासजी महाराज ने कहा—"जूनागढ के अन्दर एक रामकृष्ण नाम के नागर मेहता रहा करते थे। वह ईश्वर भक्त थे। एक दण्डी स्वामी उनके गुरु थे। ये पद उन्ही रामकृष्ण के बनाए हुए हैं। उन्होने विक्रम सम्वत् १७६८ को पचभौतिक शरीर का त्याग किया। उनकी समाधि अमुक स्थान पर बनी हुई हैं। इनका अहमदाबाद एव बडोदा मे बडा व्यवसाय चलता था और हरिशकर नाम का एक पुत्र था, जो अपने पैतृक व्यवसाय को देखभाल करने के साथ सदा परमानन्द के मग ईश्वर की भक्ति किया करता था। रामकृष्ण यद्यपि ईश्वर का अनन्य भक्त था और उसे एक पहुँचे हुए दण्डीस्वामी का उपदेश प्राप्त था, परन्तु वह कुलीन होने से स्पर्शास्पर्श का बडा ध्यान रखा करता था, जबकि दण्डी स्वामी सब वर्णाश्रम के लोगों के साथ समान रूप से व्यवहार करते थे। वह चाहते थे कि रामकृष्ण भी 'समत्वदृष्टि' अपना ले ताकि उस का भी उद्धार हो जाय। इस प्रकार अपने शिष्य के प्रति उनकी भी ममता एव आसक्ति थी। फलत. वह दण्डीस्वामी ही आचार्य श्री रामदासजी महाराज हैं: और उनका तुच्छ दास 'रामकृष्ण' ही यह दयालदास नाम से आपके सम्मुख विद्यमान है एव हरिशकर ही 'पूरणदास'[1] के नाम से पुनर्जन्म को प्राप्त हुआ है।"

---

१. मालव प्रदेश में रतलाम निवासी एक वैश्य का पुत्र जो श्री दयालदासजी के शिष्य एव उनके उत्तराधिकारी सम्प्रदायाचार्य हुए हैं।

परम्परागत जनश्रुति के अनुसार श्री दयालदासजी द्वारा दण्डीस्वामी एवं उनके शिष्य रामकृष्ण के सम्बन्ध में बनाए गये जन्म, निर्वाण एवं समाधिस्थल आदि के तथ्यों की उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर पुष्टि की गई। कहा जाता है कि सर्वप्रथम श्री दयालदासजी म० को अपने पूर्व जन्म का ज्ञान तब हुआ, जब वे 'गुफा-भजन' में लीन थे और समाधिस्थ हुए। तब उन्होंने अपने गुरुदेव से यह कहा था कि—"अमुक जगह मेरे पूर्व जन्म की धरोहर गाडी हुई व्यर्थ ही पड़ी है; क्यों न उसे यहाँ ला कर सदाव्रत एवं जनसेवा में लगा दिया जाय ?" परन्तु उन्हें श्रीगुरुदेवने केवल राम भजन ही सार है, अन्य सन्ताप क्यों करता है" कह कर मना कर दिया। यथा:—

वहँ वृथा पड़ी धुर आय सोई।
यहँ सदावरत करि सुफल होइ।
श्री स्वामी उचरे सुनोंदास।
तुम सूझत कैसे सो प्रकास॥

श्री राम भजन अरु कृपा आप।
तो काहें कीजे दुख सन्ताप।
जिन दिये जन्मसो कर संभाल।
करण कीड़ी कुंजर मणहि आल॥[1]

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज के बाल्य काल की घटनाओं और खास कर उनकी शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में हमें कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता; परन्तु इतना सुनिश्चित है कि आचार्य श्री रामदासजी महाराज की देख-रेख में धर्मशास्त्र, काव्य-शास्त्र, एवं नीतिशास्त्र और दर्शन तथा इतिहास की शिक्षा अच्छे विद्वानों द्वारा हुई होगी; क्योंकि तत्कालीन समय में आचार्य श्री के पास ऐसे विद्वानों की कमी नहीं थी। उनका व्यक्तित्व स्वयं श्री रामदासजी म० द्वारा घड़ा

---

१ आचार्य श्री अर्जुनदासजी म० विरचित 'पूर्वजन्म' वर्णन।

(ठोक-बजा कर निर्माण करना) गया था। उनका लालन-पालन एक विशेष प्रकार के धार्मिक एवं आध्यात्मिक वातावरण में हुआ था। जिस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य श्री वल्लभाचार्य के सुपुत्र श्री विट्ठलनाथ एक सुयोग्य उत्तराधिकारी किंवा उनसे भी बढ़ कर हुए; ठीक इसी प्रकार आचार्य श्री दयालदासजी महाराज भी उत्तराधिकारी आचार्य श्री रामदासजी महाराजके पुत्र एवं उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी किंवा उनसे भी बढ़कर श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्य हुए हैं।

आचार्य श्री दयालदास अपनी किशोर वय में ही आध्या-मक साधना की ओर कैसे उन्मुख हुए; इस-सम्बन्ध में एक वृतान्त का ल्लेख मिलता है। ऐसा कहा जाता है कि ये अपनी किशोर वय में ष्ट्र की सवारी के बड़े शौकीन थे। प्रतिदिन प्रातः काल जब आचार्य धर्म प्रवचन, साधना, आदि में सलग्न होते थे और साधु-संत, रक्त लोग भजन-ध्यान किया करते थे; उस समय ये ऊण्ट पर सवार कई-कई गाँवों का भ्रमण कर लौटते थे।

एक दिन का वृतान्त है कि ये अपने नित्यक्रम के अनुसार मण करते हुए खेड़ापा गाँव के निकट कजणाऊ नाम के एक दूसरे म पहुँचे। वहाँ इनकी भेंट ग्राम ठाकुर से हुई। यह ठाकुर आचार्य रामदासजी के शिष्य एव परम भक्त थे। श्री दयालदास को शिक्षित विद्वान् समझ कर यह ठाकुर उनसे कुछ साधनापरक विषय पर र्चा करने लगे। इस चर्चा से किशोर वय दयालदास को अनुभव हुआ यद्यपि उन्होंने विविध विषयों की शिक्षा पाई है, परन्तु श्रीराम जी महाराज द्वारा चलाई जा रही साधना पद्धति एवं आध्यात्मिक ना का उन्हे (श्री दयालदास को) कोई ज्ञान नही है। अतः इन्होने को बड़ा अपमानित अनुभव किया और पिताश्री को गुरु रूप में कार कर उनसे अध्यात्म विद्या एवं योगविधि सहित तारक मंत्र ' नाम की साधना करने एवं तदर्थ अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग कर की ठान ली।

ठाकुर की ठोकर लगी, छोकर बुद्ध गई छूट।
पोखर फूटो प्रेम को, चल्यो प्रवाह प्रखूट ॥[1]

जब श्री रामदासजी महाराज को उनका यह निश्चय ज्ञात हुआ तो वे बड़े प्रसन्न हुए; फिर भी इनके वैराग्य की एवं आचरण की कठोर परीक्षा ली गई। तत्पश्चात् साधना की सम्पूर्ण विधि एवं अध्यात्म विद्या का क्रमशः ज्ञान प्रदान किया गया।

सम्भवतः इस समय इनकी आयु १६ से १८ वर्ष के मध्य रही होगी। अतः यह घटना विक्रम सम्वत् १८३२-३४ के मध्य की ठहरती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये अपनी धुन के धनी, लगन के पक्के, दृढ़ निश्चयी एवं वैराग्यवान किशोर थे। अपनी इस किशोरवय में ही इन्होंने कठोर एवं सतत की साधना द्वारा समाधिस्थ हो आत्म साक्षात्कार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया और तदनुरूप साधन-भजन करने में भी संलग्न हो गये। दृढ़ वैराग्य, आत्मतत्व को जानने की प्रबल इच्छा एवं उत्कृष्ट जिज्ञासा तथा लक्ष्यवेध करने की परम लगन के साथ आप भजन, ध्यान और चिन्तन मनन के लिये अनुकूल एकान्त एवं निर्जन स्थान की खोज करते हुए खेड़ापा गांव के सन्निकट स्थित एक पहाड़ी पर पहुँचते हैं। वहाँ पर्वत शृंखला के मध्य एक विशाल शिलाखण्ड इस प्रकार ऊपर उठ आया है कि उसका एक सुन्दर गुफा-नुमा आकार बन गया है। यही गुफा आपकी साधना का स्थान कहा जाता है। यहीं परमज्ञान की प्राप्ति एवं समाधि की अवस्था प्राप्त हुई। यह गुफा सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा तीर्थ के रूप में वन्दनीय एवं दर्शनीय मानी जाती है।

कुष्ठ आक्रमण

श्री दयालदासजी के गुफा भजन के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इनकी साधना निर्बाध नहीं थी। साधना काल में आपको भीषण नेत्र पीड़ा से जूझना पड़ा। नाना प्रकार के औषधोपचार किये गये, परन्तु सब व्यर्थ सिद्ध हुए। अन्ततः

---

१. [illegible] — श्री दयालु [illegible] १०।

प्रार्थना एवं ईश-स्तुति ही इस व्याधिका शमन करने वाली अमोघ ओषधि सिद्ध हुई।

इस सम्बन्ध में अन्तः साक्ष्य एवं लोक श्रुति इस प्रकार है कि एकान्त गुफा में बैठ आप योगविधिसहित 'राम' नाम का स्मरण करने लगे। इस प्रकार सतत 'राम' नाम का स्मरण करते हुए आपको स्मरण की उत्तमावस्था (नाभि से र र र ध्वनि का स्वतः उच्चारण) प्राप्त हो गई। सुध-बुध को भूल कर घण्टों तक ध्यानमग्न रहने लगे। अजपाजाप होने लगा। कई दिन इस अवस्था में व्यतीत हुए। पुनः कुल कुण्डलिनि का उत्थापन हुआ और वह मूलाधार चक्र का वेधन कर मेरुदण्ड स्थित सुषुम्ना विवर से शनैः शनैः क्रमश अग्रसर होती हुई त्रिकुटि पर जा स्थित हो गई। श्री दयालदास सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित हो गये। अभी असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था तक नहीं पहुँचे थे। कौन जाने आप इस समाधि में लीन हो कितने समय तक परमानन्द में गोते लगाते रहे ?

एक दिन आप समाधिस्थ थे। अन्तर्जगत में अध्यात्म शक्तियों का स्फुरण हो रहा था। महान् आश्चर्य कि उसी समय बाह्य जगत में, उस सुन्दर गुफा तथा सम्पूर्ण उपत्यका में वसंतोद्भव अपनी शोभा बिखेर रहा था। अद्भुत दृश्य था वह !

आपकी तपोभूमि रेगिस्तान का एक शुष्क भाग है। वह पहाड़ी सूखी, हरे-भरे वृक्षों से रहित एवं शुष्क मरु-मैदान से घिरी हुई है। परन्तु यह बाल योगी जब अन्तर्जगत के परमानन्द में निमज्जित हो बहिर्जगत की सुधि लेते हैं तो वे वहाँ क्या देखते हैं? वह गुफा घने वृक्षों, सुगन्धियुक्त लताओं एवं निर्मल जलाशयों से घिरी हुई है। झरने झर रहे हैं। पक्षी मधुर स्वर में कलरव कर रहे हैं। शीतल, मद एवं सुगन्ध समीर सचरण कर रहा है। मंजुल वाद्यों के उद्घोष से वह गुफा प्रतिध्वनित हो रही है। कोयल पंचम-स्वर मे अलाप रही है।

और आश्चर्य तो यह कि उसी गुफा के सम्मुख एक परम सुन्दरी सोलह शृंगार-युक्त हो विविध भाव भंगिमा में नृत्यरत है। उसके नुपूरों के मंजुल घोष से गुफा गुंजरित हो रही है। उसने अपने समक्ष विविध पाक एवं षटरस व्यजनों से सजाया हुआ थाल रख छोड़ा है। श्री दयालदासजी की समाधि खुलते ही वह सुन्दरी उनके निकट आ जाती है। श्री दयाल गम्भीर मुद्रा एवं सरल चित्त से स्वभावतः उस देवी का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं।

> देखी समय प्रभाव को, बोले वचन दयाल।
> मुझ आश्रम एकान्त में, विघ्न करत क्यों बाल ॥[1]

पूछने पर प्रत्युत्तर में वह देवी नाम विश्वमोहिनी और अपने को इन्द्र की अप्सरा बताती है। वह काम-ज्वर से पीड़ित अपने तन और मन को शान्त करने का घृणित प्रस्ताव रखती है। परन्तु स्वभावतः दृढ वैराग्य एवं अविचल भक्ति-युक्त स्थितप्रज्ञ श्री दयालदासजी के मन पर इन वचनों का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता है। वे विश्वमोहिनी को मायिक पदार्थों व संसार की असारता का उपदेश करते हैं और क्षणभंगुर सुखों के लिये इस दुर्लभ जीवन के अमूल्य क्षणों का आत्म कल्याण में उपयोग करने का निर्देश देते हुए पुनः समाधि में लीन हो जाते हैं।

अपने रूप-लावण्य एवं संमोहित करने वाली मोहक भ्रू-भंगिमा तथा मनसिज शर सदृश-नेत्र कटाक्ष पर गर्वित उस सुन्दरी को श्री दयालदास की इस उदासीनता से अपना बड़ा अनादर अनुभव हुआ। वह क्रोधवश उन्हें अन्धे होने का शाप दे कर इन्द्रलोक को प्रस्थान कर जाती है।

> यह अपमान कीन तुम मोरा, ताते देहों शाप कठोरा।
> अन्ध होउ यह शाप हमारा, कौन पाप तहिं कर प्रतिकारा ॥[2]

---

१. श्री दयालु दिव्य चरित्र पृ० ४७

२. वही।

नेत्र पीड़ा एवं ईश-स्तुति

अहो पाठक ! ईश्वर की लीला, प्रकृति की क्रीड़ा अथवा जगत्-नियन्ता की इच्छा— कुछ भी कहो। वह परम सुन्दरी कौन थी ? कहाँ से आई ? उस पहाड़ी को कुछ क्षणों के लिये अपनी क्रीडा हेतु नन्दन-कानन बना कर पुनः सूखी मरुस्थली छोड कहाँ गई ? क्या यह माया थी अथवा मन का भ्रम ? यदि मन का भ्रम ही हो तो फिर तत्काल पश्चात् नेत्र पीड़ा क्यों हुई ? क्या हम इसे केवल मनोविज्ञान का ही विषय मान कर छोड़ दें अथवा वह अध्यात्म शास्त्र का विषय है ?

बाल योगी श्री दयालु देव के मन पर तो उपर्युक्त घटना का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु आश्चर्य ! कुछ ही क्षणोपरान्त इस बाल योगी के नेत्रों में पीड़ा शुरु होती है। धीर-गम्भीर योगी की समाधि टूट जाती है। असह्य पीड़ा से नेत्रों की ज्योति समाप्त हो जाती है। जनितेन्द्रीय ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को इस पीड़ा ने असहाय बना दिया। सभी प्रकार के औषधोपचार किये गये परन्तु एक भी सफल न हो सका।

अन्ततः भक्त का बल भगवान् की शरणागति होती है। दृष्टिनाश और नेत्रों में होने वाली सतत असह्य पीड़ा को शमन करने के लिये श्री दयाल पुनः एकान्त स्थान को चले जाते हैं। वहाँ वे मनन करने लगे—"कहाँ जरामरण के दुःखों की समाप्ति का प्रयास कर रहा था, परन्तु हे भगवान् आपने उसका विपरीत अर्थ समझ, इस पंचभौतिक शरीर का ही दुःख लगा दिया। आपका शरणागत भक्त दुख भुगते, ऐसा तो यह पहली वार ही हुआ है।"

उलटा समझे राम, औखाणों साचो कियो।
शरणागत दुख ताम, यह कारण अवह्रो भयो ॥[1]

[1] श्री करुणा सागर—वह प्रार्थना ग्रन्थ, जिसे नेत्र पीड़ा को शान्त करने के लिये श्री दयालदास ने रचा था। इससे घटना की प्रामाणिकता भी सिद्ध होती है।

इस प्रकार मनन करते हुए श्री दयाल नेत्रों की असह्य पीड़ा होने पर भी उसके शमन के लिये, उस करुणासागर परब्रह्म परमात्मा से काव्य बद्ध प्रार्थना करने लगे। प्रार्थना करते करते एक बहुत ही सुन्दर "करुणासागर" नामक काव्य ग्रन्थ [काव्यात्मक स्तुति] की रचना कर दी। इस ग्रन्थ की समाप्ति पर श्री दयालदासजी म० उस परात्पर परब्रह्म परमात्मा से इन शब्दों में प्रार्थना करते है :—

"काल दुकाल संभाल करैं करुणा के सागर।
झाल असराल त्रिकाल, टरैं हरि कृपा कर ॥
जन्मा जन्म अनन्त, कहा बरणंत दुःख जीवस।
अब सहायक महाराज, राज तारण धिन पीवस॥
रामइन्द्र हरिजन घटा, यह वर्षा अब कीजियै।
दयाल बाल शरणागति, अपनो करि के लीजिये॥
[करुणा सागर]

अर्थात् "हे करुणा के सागर राम ! (काल दुष्काल) शुभ या अशुभ हर समय आप ही इस जीव की सार सम्हाल करने वाले हैं। हे हरि ! तीन ही समय में समस्त दुखों की ज्वालाएं आपकी कृपा से दूर ही रहती है। इस जीवात्मा के दुःख का वर्णन करके क्या कहूँ—वह तो जन्म जन्म में अनन्त कष्ट पाता आ रहा है। किन्तु हे समर्थ स्वामी राम ! आप धन्य हो। अब यह जीव रामजी की शरण मे आया है, आप रक्षा करो।"

"हे राम आपतो इन्द्र स्वरूप हैं। आपके भक्त महात्मा संत मेघमाला के समान है, उनके द्वारा कृपावृष्टि करवाइये। और यह दयाल आपका बालक है, उसको शरणागत के रूप मे अपना लीजिये। जिससे करुणा वरुणालय आपका नाम चरितार्थ हो जावे।"
[करुणा सागर-प्रबंधमुक्तावली टीका]'

१. श्री दयालु दिव्य चरित्र पृ० १३६-४०

इस प्रकार स्तुति-प्रार्थना एवं भगवान् की शरणागति के भावों से ओतप्रोत हो आत्म समर्पण कर देने के पश्चात् भी यदि नेत्र ज्योति समाप्त हो गई तो फिर हे भगवान् आपको भक्त वत्सल एवं भक्तभयहारि' अथवा शरणागत रक्षक कौन कहेगा ? भक्त-रक्षक होने का आप दावा करते हैं, आपके उन वचनों (बैन) का क्या हाल होगा ?

यों करतां जासी नयन, बैन समासी बेत ।

[करुणा बत्तीसी]

भक्त ने सर्व प्रथम भगवान् की स्तुति-प्रार्थना की, फिर आत्म निवेदन के भाव प्रकट किये। परन्तु इस करुणा वरुणालय भगवान् के कानों में भनक पडी प्रतीत नहीं हुई। तब उस भक्त की खीझ बढ़ जाती है। वह उसे अपने वचन 'बिरद बाह' आदि याद दिलाता है और उपालम्भ देता है। तभी उस आर्त्त पुकार को भगवान् सुनने को तत्पर होते जान पड़ते हैं।

श्री दयालदास जी महाराज द्वारा उपर्युक्त स्तुति-प्रार्थना की जाती है फिर उन्हें उपालम्भ दिया जाता है। उसके अन्त में श्री दयालु देव को किसी के पदचाप सुनाई दिये, जो उत्तरोत्तर समीप आते गये। फिर आगन्तुक ने श्री दयालदेव के नेत्रों को अपने कर कमलों से स्पर्श करते हुए मानों औषध दे रहा है, यह वचन कहा कि हे वत्स ! तुम्हें क्या पीड़ा है ?

उस दिव्य पुरुष के दिव्य औषध का प्रभाव भी दिव्य ही हुआ। कर स्पर्श से नेत्रों की पीड़ा शान्त हो गयी, और नेत्र ज्योति पुनः लौट आई। श्री दयाल जी महाराज क्या देखते हैं कि उनके सामने कोई तेजपुञ्ज महात्मा खड़े हैं। उनका प्रभाव अलौकिक है। उनके दिव्यालोक का अवलोकन करते ही कण्ठ गद्‌गद् हो गया और वाणी ने मौन धारण कर लिया। स्वयं उस दिव्य पुरुष के दर्शन मात्र के आनन्द में विभोर हो गये। फिर सोचा ये कोई योगी पुरुष जान पड़ते हैं।

अतः साष्टांग दण्डवत प्रणाम किये और विनीतभाव से करबद्ध हो उनका परिचय जानने की इच्छा प्रकट की गई। प्रत्युत्तर में वह महापुरुष बोले—''हम साधु हैं। हमतो रमते राम हैं। किसी निश्चित स्थान पर हमारा निवास नहीं है। फिर भी तुम्हारे परिचय के लिये इतना बतला देते है कि हम प्रायः 'मानसरोवर' [भक्त का मन] में निवास किया करते हैं।'' यह कहते हुए वह महापुरुष देखते-देखते अदृश्य हो गये।

श्री दयालुदेव इससे अत्यन्त विस्मित हुए और उनके मन में तरह-तरह के शंका-समाधान होने लगे। वे सोचने लगे क्या ये कोई संत महापुरुष हैं? अथवा स्वयं निर्गुण 'राम' जिन्होंने मुझे दर्शन देकर कृतार्थ किया है।

पाठकगण! यह घटना अपने आप में अत्यन्त आश्चर्यजनक, असम्भाव्य एवं अलौकिक प्रतीत होती है। परन्तु महापुरुषों के जीवन में ऐसी दिव्य घटनाओं का घटित होना कोई असामान्य प्रतीत नहीं होता। श्री दयालुदेव स्वयं इस घटनावृत्त से अत्यन्त विस्मित हुए। लम्बे समय तक उसे मनन करते रहे। परन्तु कुछ भी समाधान नहीं पा सके। इस मध्य आपके गुरुदेव आचार्य श्री रामदास जी महाराज ने इस सारी घटना का आभास पा लिया था, वे आपके निकट पधारे और शंका समाधान करते हुए सदुपदेश दे कर मन के भ्रम का निवारण किया। अहो! धन्य है, वह दयालुदेव जिनकी आर्त पुकार पर निराकार उस ब्रह्म ने भी दिव्य संत रूपी आकार ग्रहण कर आपको दर्शन दिये।

इस भगवद्दर्शन की अनुपम घटना से श्री दयालदास अत्यन्त अभिभूत हो गये और गद्गद् वाणी में उस अनिर्वचनीय परब्रह्म परमात्मा की स्तुति के उद्गार छप्पय छन्द में प्रवाहित होने लगे, जो इस प्रकार हैं:—

नमो निरंजन देव, सेव किन्हीं पार न पाया।
अमित अथाह अतोल, नमो अनमाप अजाया ॥
एक अखण्ड अमण्ड, नमो अनभंग अनादं ।
जग में ज्योति उद्योत, नमो निर्भव सुखाद ॥
नमो निरंजन आप हो, कारण करण अपार गत।
रामदास वन्दन करै, नमो नूर भरपूर तत ॥

(श्री दयालदास जी म० की वाणी)

यह घटना आचार्य श्री दयालदास जी महाराज की कठोर [illegible]धना और उच्च आध्यात्मिक स्तर की ओर इंगित करती है। नेत्र [illegible]ड़ा के वास्तविक कारण पर किसी का मतभेद होना सम्भव है। [illegible]न्तु यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि उन्हें अपनी साधना काल में [illegible]कर नेत्र रोग से पीड़ित होना पड़ा था। उसका निवारण किसी भी [illegible]पथ से जब सम्भव नहीं हुआ तब ईश-स्तुति-प्रार्थना की गई। इस [illegible]मत हो 'करुणासागर' नामक ग्रन्थ एवं 'रक्षाबत्तीसी' तथा 'अरदा-[illegible]तीसी' ग्रन्थों की रचना की गई। ये उच्च कोटि के प्रार्थना ग्रन्थ समझे जाते हैं। इन्हीं ग्रन्थों के अन्तः साक्ष्यों से इस घटना की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। वह गुफा, जहाँ साधना की गई थी, वर्तमान में भी सुरक्षित है और दर्शनीय स्थानों में से एक है।

सम्भवतः गुफा भजन एवं नेत्र पीड़ा की यह घटना विक्रम संवत् १८३२ और १८४५ के मध्य की हो; अधिक सम्भावना वि० सं० १८३५-३८ के आस-पास होने की है। इस प्रकार हम पाते हैं कि जन्म सम्वत् १८१६ से १८४६ तक का समय, लगभग ३० वर्षों की सुदीर्घ कालावधि आपकी शिक्षा, साधना एवं अनुभवों का अर्जन करने में व्यतीत हुई। अब तक आपकी शिक्षा पूर्ण हो चुकी थी, साधना परिपक्व हो कर आत्मसाक्षात्कार की अवस्था में परिणत हुई और काव्य-कला में निखार आने लगा था। आप अपने ज्ञान, साधना एवं अनुभवों द्वारा

लोकमंगल करने के लिये लोक-समाज के और निकट आने को कटिबद्ध थे। प्रतीक्षा थी केवल किसी सुअवसर की— और वह अवसर शीघ्र आ उपस्थित हुआ। मानों स्वयं विधाता उपयुक्त समय पर उचित अवसर सम्प्रदान करने की ताक में ही थे।

घटना विक्रम सम्वत् १८४६ फाल्गुन शुक्ल षष्ठमी की है; जबकि जोधपुर नरेश श्री विजयसिंह के चार सुतर-सवार आचार्य श्री रामदासजी महाराज के देश-निष्कासन का आदेश लेकर सेड़ापा पहुँचे। हुआ यह कि एक दिन जोधपुर राज्य के राजगुरु गुसांईजी महाराज आचार्य श्री रामदासजी महाराज के फक्कड़ अखाड़ा (आचार्य धाम सेड़ापा) में पहुँचे; जहाँ सभी संत साधक ईश्वर-भजन एवं साधना में तल्लीन थे; फलतः गुसांईजी महाराज का यथोचित मान-सम्मान नहीं हो सका। वह बड़े नाराज होकर जोधपुर लौटे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने महाराजा के कान भरे कि सेड़ापा के संत धर्म के नाम पर पाखण्ड करते हैं। वे बड़े ढोंगी हैं और भोली भाली जनता को लूटने के लिये महात्मा बन बैठे हैं। चतुरवर्ण को रामभक्ति का उपदेश दे कर बड़ा अनर्थ कर रहे हैं। राम भक्ति के नाम पर ये पाखण्डी साधु वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा को भंग कर रहे हैं। आप जैसे धर्मात्मा राजा के शासन में इस प्रकार अधर्म फैल रहा है। राजन! आपका कर्तव्य है कि आप समय रहते उनको रोकिये। राजगुरु ने इसके प्रमाण के लिये स्वयं को एक साक्षी के रूप में प्रस्तुत किया। फिर क्या था, सत्यासत्य की जाँच कराए बिना ही महाराजा ने आचार्य श्री रामदासजी को देश-निष्कासन का आदेश दे दिया।

जब आदेश वाहक चार ऊँट सवार सेड़ापा पहुँचे तो उनकी प्रथम भेंट श्री दयालदासजी महाराज से ही हुई। वह उन्हें श्र चार्य चरण के पास ले गये। प्रातः काल का सुहावना समय था। सेड़ापा गाँव से एक-डेढ़ किलोमीटर दूर छोटी सी पर्वतीय उपत्यका है जिसे इस राम महाने की शोभा ही निराली थी। अनेकों संतु सब इस

साधक प्रातः कालीन संध्या में तल्लीन थे। राम-नाम स्मरण की सु-मधुर ध्वनि से सारी उपत्यका प्रतिध्वनित हो रही थी। अनेकों साधक ध्यान एवं समाधि की प्रक्रिया में संलग्न थे। आचार्यश्री राममहोले के विशाल भवन और प्रांगण से दूर, उत्तर दिशा में बाहर की ओर स्थित जलकुण्ड के किनारे एक शिला पर आसन लगाए धीर-गम्भीर मुद्रा में चिन्तन-मनन में निमग्न थे। सम्पूर्ण परिवेश जादुई प्रतीत हो रहा था। एक दिव्य अनुभूति का साक्षात्कार हो रहा था।

कहा जाता है कि महाराजा के आदेश-वाहक इस दिव्य परिवेश को पाकर इतने अभिभूत हो गये कि उनसे महाराजा का आदेश कहते नहीं बन पाया। उस समय आचार्य श्री रामदासजी महाराज ने उन पर यह प्रकट किया कि वे यहाँ किसी विशिष्ट कार्य से आए हैं, अतः उन्हें अपना कर्तव्य पालन करने में सकोच नहीं करना चाहिए। तब अतीव भारी मन से सकुचाते हुए उन्होंने आदेश की प्रति आचार्यश्री के चरणों में रख दी, जिसे आदेश पा कर श्री दयालदासजी महाराज ने पढ़कर सुनाया।

राजा का आदेश-पत्र सुनने मात्र की देर थी। बस फिर क्या था, आचार्यश्री राम महोला भवन के बाहर जहाँ विराजे थे, वहाँ से बाहर ही बाहर मारवाड़ राज्य की सीमा से बाहर जाने के लिये चल दिये। आचार्य श्री दयालदासजी महाराज ने भी उनका अनुसरण किया। खबर तुरन्त पूरे राम महोला में फैल गई। अनेकों साधु-संत एवं साधक भी चल दिये आचार्यश्री का पदानुसरण करने आचार्यश्री की आज्ञा थी कि साधन-भजन में सहायक उपकरण एवं गुरुवाणी की पुस्तक के अतिरिक्त अन्य कुछ भी वस्तु साथ न ली जाय। बस, वैसा ही हुआ। देखते ही देखते ११७ संत एवं साधकों की मण्डली आचार्यश्री दयालदासजी के नेतृत्व में आचार्य श्री रामदासजी महाराज का अनुगमन करते हुए वहाँ से प्रस्थान हो गई। चारों

सन्देश वाहक अवाक् रह गये उस अद्भुत दृश्य को देख कर। उस विशाल किलानुमा भवन, उस रमणीय प्रांगण, रम्भाती हुई अनेकों दुधारु-गायों, अलंकृत रथ, सजे हुए घोड़े एवं वहां की अतुल सम्पत्ति के प्रति न किसी का अनुराग झलक रहा था एवं न ही उनमें लेश मात्र भी थी ममता। सच्चे निस्प्रेही थे वे। सन्देश वाहक राज्य कर्मचारियों ने अर्ज की कि वे अपनी गायें, बैल, रथ, घोड़े, ऊँट आदि चल एवं अचल सम्पत्ति साथ लेकर जायें, यही नरेश का आदेश है। परन्तु आचार्यश्री ने प्रत्युत्तर में कहा कि इन सबको साथ ले जाने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है। रही महाराजा के आदेश की बात। आदेश तो वे एक रामजी (परमात्मा) का ही मानते हैं। उन्हीं की इच्छा थी कि हम पर्यटन करते हुए लोक मंगल सम्पन्न करें। राज्यादेश तो मात्र निमित्त है।

वर्षों तक साधनरत रह कर जिस सत्य की अनुभूति की गई, जिस साधना की सिद्धि से आत्म-तत्व का साक्षात्कार किया, धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में जो नवीन अनुभूतियों एवं उपलब्धियों को प्रत्यक्ष किया, अब लोक मंगल के लिये उनका प्रचार-प्रसार करने हेतु यह देश निष्कासन का राज्यादेश उन्हें सुमंगलकारी प्रतीत हो रहा था।

आचार्य श्री रामदासजी महाराज की प्रेरणा से श्रीदयालदास जी महाराज ने इस यात्रा को राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में नव चेतना का संचार करने का रूप प्रदान कर दिया। अर्थात् लगभग ढाई तीन वर्षों की इस यात्रावधि में राजा-महाराजाओं से निकट का सम्बन्ध स्थापित कर उनकी राजनीतिक एवं धार्मिक दृष्टि को संशोधित एवं परिशोधित कर परिष्कृत बनाया। शासन-नीति को धर्म-नीति से अनुशासित किया एवं समाज में नैतिकता और आध्यात्मिकता को प्रतिष्ठित किया। विभिन्न प्रदेशों

के परम्परागत शास्त्रीय पण्डित वर्ग की स्वार्थ पूर्ण धर्मनीति एव उनके संकुचित धार्मिक दृष्टिकोण में उदारता एवं विशालता का समावेश करने में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली।

धर्म, जो कर्मकाण्ड के घेरे मे घिर चुका था, उसे प्राचरण में उतारने और प्राध्यात्मिकता से संयुक्त करने के लिये इन्होंने पर्याप्त प्रयास किया; जिनमे इनको प्रशंसनीय सफलता मिली। सामाजिक प्रतिष्ठा प्रर्जन करने हेतु किये जाने वाले लोक दिखाऊ धार्मिक-कृत्य, उत्सव और तीर्थाटन प्रादि के स्थान पर लोक मंगल की भावना से दान-पुण्य एव समाजोपयोगी कार्य करने तथा सात्विक जीवन व्यतीत करते हुए साधना द्वारा प्राध्यात्मिक अनुभूति की उपलब्धि करने के लिये लोक-समाज को प्रेरित किया। इस प्रकार आपने अपने बहुमुखी व्यक्तित्व के माध्यम से धर्म, राजनीति और समाज में अनेक विध सुधार किये।

संत-मत के साधक इस महापुरुष को अनेकानेक ऐसी समस्याओं से जूझना पड़ा, जिनसे संत-मत के प्रवर्तक कबीर आदि भी मुक्त थे। कबीर को इस बात की परवाह नहीं थी कि उनके सिद्धान्त एवं साधन पद्धति को धार्मिक जगत में मान्यता मिलती है अथवा नहीं। धर्म का और अपने विचार तथा दृष्टिकोण का प्रचार-प्रसार करने हेतु उन्होने कभी शास्त्रीय वाद-विवाद का मार्ग नहीं अपनाया। वह अपनी अक्कड़ एवं उलटबांसियों से ही विरोधियों को निरुत्तर कर देना पर्याप्त समझते थे। उनके परवर्ती संत-मत के प्रचारक भी इसी पथ पर चले। फलतः संत-मत एक रहस्य मात्र बनकर रह गया। वह धार्मिक पुनर्जागरण एव सामाजिक सुधार आन्दोलन का रूप ग्रहण नहीं कर पाया। अन्यान्य सगुणोपासक वैष्णव सम्प्रदायों के साथ जो कटुता और वैमनस्य फैल चुका था, वह अलग से।

लगभग तीन शताब्दी के सुदीर्घकाल तक संत-मत की साधना इस देश में होती रही, फिर भी सब कुछ अस्पष्ट एवं मात्र रहस्य बनी

हुई थी। निर्गुण भक्ति, राम नाम की साधना, समाज के चतुर वर्णो और आश्रम के लोगों द्वारा संन्यास-ग्रहण करने को अब भी सन्देह तथा चुनौती की नजरों से देखा जाता था। फलतः आचार्य श्री दयाल दासजी महाराज को इन्हीं समस्याओं को लेकर परम्परागत शास्त्रीय मत के पण्डितों की शंकाओं का समाधान करने हेतु तर्क संगत विवाद का मार्ग अपनाना पड़ा। ऐसे शास्त्रीय वाद-विवादों में प्रायः ही आप विजयी रहा करते थे। बहुधा विरोधी पण्डित समाज तक आपके स्पष्ट मत और तर्क संगत विवाद की प्रामाणिकता को अनुभव कर इनकी प्रशंसा करने लग जाता था।

एक बार राजपूताने के पण्डित वर्ग का सोजत शहर में जमाव हुआ। सम्भवतः यह वही समय था, जब आप मारवाड़ (जोधपुर) रियासत से निष्कासन का आदेश पाकर मेवाड़ (उदयपुर) होते हुए दक्षिण भारत की ओर जा रहे थे। पण्डित वर्ग के लिये यह समय अत्यन्त ही अनुकूल था। क्योंकि एक रियासत के नरेश ने इन्हें निर्वासित किया था, अब शास्त्रार्थ में भी इन्हें पराजित कर पण्डित वर्ग निर्गुण-भक्ति, राम नाम की साधना द्वारा योग सिद्धि एवं संत-मत के अन्य सिद्धान्तों को अधार्मिक एवं अशास्त्रीय करार देने का सुनहरा अवसर वे यों ही गंवा देना नहीं चाहते थे। फलतः आचार्य श्री का सोजत शहर में पड़ाव होते ही वेद-वेदांगों के धुरन्धर पण्डित एवं मूर्धन्य विद्वान् वहाँ पहुँच गये और हो गई शास्त्रार्थ करने की ललकार। आचार्यश्री ने उनकी चुनौती स्वीकार कर लिया। फिर क्या था; विविध विषयों की चर्चा होने लगी और एक लम्बा शास्त्रार्थ (शास्त्रीय वाद-विवाद) छिड़ गया।

श्री दयालदासजी महाराज ने शान्त किन्तु गम्भीर भाव से उनकी एक-एक शंका का शास्त्रसम्मत विचारों एवं प्रमाणों से समाधान कर दिया। अब वे पण्डित जो विद्वेषी प्रतीत हो रहे थे; शास्त्रार्थ के अन्त में आपके प्रशंसक बन गये :—

ब्राह्मण द्वेष करण को आया, वांछित समय पदारथ पाया।
रामदास गुरु बोले जब ही, संशय पट खोले सब ही॥
दयालदास को आज्ञा दीन्हीं, ग्रन्थी उक्ति वार्ता किन्हीं।
वर्ण छेद प्रवरण दर्शाये; पण्डित कह भल दर्शन पाये॥
वंदन करि अपने घर गया, होनहार कोई कारण भया।[1]

एक अन्य जनश्रुति के अनुसार ऐसा ही चुनौती भरा शास्त्रीय वाद-विवाद एक बार कुम्भ के धार्मिक मेले के अवसर पर भी किया गया था। कहा जाता है कि आचार्य श्री दयालदासजी महाराज द्वारा अनेक सम्प्रदायों के धर्माचार्यों एवं पण्डितों द्वारा व्यक्त की गई शंकाओं का समाधान अत्यन्त ही कुशलतापूर्वक किया गया था। इस अवसर पर आपने एक पद्यमय ग्रन्थ की भी रचना की थी; जिसका विषय अति गूढ़ एवं शास्त्रीय बताया जाता है। इससे इनकी मान्यता एव लोक प्रसिद्धि भी बढ़ गई। उस ग्रन्थ के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ सूत्रों का कहना है कि यह ग्रन्थ इनकी ३५ हजार श्लोकमेधा की उपलब्ध अप्रकाशित वाणी का ही कोई अंश है। ऐसा भी कहा जाता है कि तभी से इन्हें एक सम्प्रदाय के आचार्य के रूप में कुम्भ जैसे धार्मिक मेले में अपना शिविर लगाने और धर्माचार्य की अन्य मर्यादा रखने की मान्यता प्राप्त हुई।

सम्भवतः यह घटना विक्रम सम्वत् १८५५ के पश्चात् की हो; क्योंकि इस घटना का उल्लेख हमें आचार्य श्री दयालदासजी म० द्वारा रचित आचार्य श्री रामदासजी महाराज के जीवन-चरित्र 'श्रीगुरु प्रकरण परची' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। यदि यह शास्त्रार्थ इनके पूर्ववर्ती आचार्य श्री रामदासजी महाराज की विद्यमानता में किया गया होता तो उसका उल्लेख उनके जीवन-चरित्र 'श्री गुरु-प्रकरण परची में अवश्य ही किया जाता।[2] फिर भी इतना सुनिश्चित

१. श्री दयालदास :—गुरु प्रकरण परची
२. गुरु प्रकरण परची रचनाकाल वि० सं० १८५५.

है कि ग्राचार्य श्री दयालदासजी महाराज को प्रकाण्ड पण्डितों एवं विद्वानों के समक्ष शास्त्रार्थ और काव्य-कला का प्रदर्शन करने के अनेक अवसर प्राप्त हुए। आप आशु-कवि थे। काव्य-कला आपके लिये सहज थी। अतः सारगर्भित भाषा में पण्डितों के समक्ष शास्त्रों व तत्व चिन्तन पर चर्चा आरम्भ करते ही सहज एवं स्वाभाविक तौर पर काव्य-स्रोत प्रस्फुटित हो प्रवाहित होने लगता था। एक बार राव चूण्डावत श्री गोपालजी के दरबार में विक्रम संवत् १८४८-४६ में हुए काव्यबद्ध प्रश्नोत्तर का वर्णन इस प्रकार मिलता है:—

> आसण दिये दयाल विराज, प्रश्नोत्तर भयो समाज।
> अनभव शब्द छोल अपार, छन्द प्रबन्ध गिनत न पार॥
> अनभव अगम सिंध अथाह, नरपति सभा कहे वाह वाह।
> ऐसा साध देख्या नाय, छन्द अपार कहता जाय॥[1]

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज का मस्तिष्क पक्ष जितना सबल था, उतना ही हृदय पक्ष भी। उनकी काव्य-कला, बहुमुखी प्रतिभा, विद्वता एवं तर्कपूर्ण विचारणा, आदि सब कुछ जैसी बेजोड़ थी, वैसी ही उनमें उदारता, भावुकता, भक्त हृदय की दीनता एवं पर-दुःख कातरता भी थी। इस सम्बन्ध में हमें एक घटना-प्रसंग का विवरण उपलब्ध होता है। यह घटना विक्रम सम्वत् १८६६ की है। उस समय मारवाड़ में भयंकर अकाल पड़ा था। चहुँ तरफ अन्न-जल के लिये भूखे-प्यासे लोग दाने-दाने के लिये तरस रहे थे। दीन जनता की करुण पुकार आपके पास भी पहुँची। उनमें आपने साक्षात् दरिद्र-नारायण के दर्शन किये। उनके करुण-क्रन्दन से द्रवित हो आपने अपना थोड़ा-सा सुरक्षित अन्न भण्डार खोल दिया। सदावरत चलने लगा। परन्तु वह सीमित अन्न भण्डार चींटी को नाल सदृश आने वाले भूखे-प्यासे लोगों के लिये भला कब तक

१ श्री सालिगरामजी महाराज—जन प्रभाव परची।

चल सकता था । वह शीघ्र ही समाप्त होने को आ गया और नौबत आ पहुँची स्वयं के भूखों रहने की। परन्तु इस उदारमना महापुरुष ने फिर भी सदाव्रत जारी रखा।

इस सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियें एवं अन्तः साक्ष्य उपलब्ध होते हैं कि अन्न भण्डार अति सीमित था और वहाँ पहुँचने वाले अकाल पीड़ित लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी जिनके लिये आचार्य श्री दयालदासजी महाराज को एक लम्बे समय तक यह सदाव्रत (सबके लिये मुफ्त भोजन व्यवस्था) जारी रखना पड़ा। इसे आपकी आध्यात्मिक साधना की सिद्धि फल-स्वरूप घटित होने वाली एक चमत्कारिक घटना के रूप में स्मरण किया जाता है। तत्कालीन विद्वान्-कवि श्री सालिगरामजी ने इस घटना का विवरण इस प्रकार दिया है :—

इक दिन भण्डारी अर्ज कीन, अब झाड़ बुहार कोठार लीन।
कहुँ मोल उधारो रजा होय, जन दयाल कह्यो हरि-सा न कोय॥
जब चले दास कोठार देख, वहाँ भवन नाज आनन्द पेख।
नित रहत भण्डारे हमट सिद्ध, प्रसाद साध महिमा प्रसिद्ध॥[२]

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज जितने उदार, दयालु एवं सहृदयी थे, उतने ही निर्भयी एवं स्पष्ट वक्ता भी थे। कटु सत्य कहने में भी इन्हें कोई हिचक न थी। घटना विक्रम सम्वत् १८८६ की है। उस समय ये आचार्य श्री रामदासजी महाराज के साथ बीकानेर नरेश श्री सुरतसिंहजी के आतिथ्य में चातुर्मास कर रहे थे। उसी समय जोधपुर नरेश श्री विजयसिंहजी को आचार्य श्री रामदासजी महाराज को जोधपुर रियासत से निर्वासित करने पर पश्चाताप हुआ। वह किसी तरह अपनी इस भूल को सुधार लेना चाहते थे। अतः उन्होंने आचार्यश्री से क्षमा याचना करने का निश्चय

२. वही।

किया। आचार्यश्री के पुनः मेड़ता में आ कर विराजने की प्रार्थना करने का भी तय किया गया। तदनुसार जोधपुर महाराजा ने आचार्य श्री को एक पत्र लिखा, जिसमें अपने किये पर पश्चात्ताप प्रकट करते हुए आचार्यश्री से क्षमा चाही गई थी और उन्हें पुनः मेड़ता आकर विराजने की अनुनयपूर्ण प्रार्थना की गई थी। स्वयं महाराजा श्री विजयसिंहजी के हाथ से लिखा हुआ यह पत्र लेकर जब उनका निजी संदेशवाहक आचार्यश्री के पास बीकानेर पहुँचा तो आचार्यश्री समाचार ज्ञात कर महाराजा की प्रार्थना के औचित्य पर विचार करने लगे। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि मारवाड़ जाना अथवा नहीं जाना हरि इच्छा पर निर्भर करता है। परन्तु श्री दयालदासजी महाराज ने तुरन्त कटु उत्तर लिख दिया। इन्होंने महाराजा को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उत्तर लिख भेजा कि 'हे राजन! राम भक्ति का उपदेश करने के जिस अपराध में आपने हमें देश-निकाला दिया था, वह अपराध तो हम अब भी कर रहे हैं और भविष्य में उसे छोड़नेवाले नहीं हैं. फिर ऐसा कौन-सा कारण बन गया है कि आप हमें वापस बुला रहे हैं :—

> हम भुण्डो करतां भिलां, भुण्डो अजहूं करांत।
> जो आदो करता नृपति, सोई सिरं धरत॥
> जद कहियो जावो परा, कारण कौन प्रदीप।
> अब कहियो आवो इहां, बुझू राज विवेक॥'[1]

इस स्पष्टोक्ति से आचार्यश्री दयालदासजी महाराज की निर्भीकता, चारित्रिक दृढ़ता एवं उनके उज्ज्वल व्यक्तित्व की झलक मिलती है। इस प्रकार हम पाते हैं कि इनका व्यक्तित्व उन सब विशेषताओं और खूबियों से सुसज्जित था, जो एक आध्यात्मिक एवं धार्मिक उपदेशक एवं समाज सुधारक के जीवन को उज्ज्वल

१ [illegible]

नाने के लिये आवश्यक ही नहीं अपितु अपरिहार्य समझी जाती है। आचार्य श्री दयालदासजी महाराज के ये तीनों ही रूप हमारे सम्मुख है। एक उन्होंने आध्यात्मिक पुरुष के रूप में अनेक संत एवं साधकों का मार्ग दर्शन किया। इससे उनके सम्प्रदायान्तर्गत आत्मसिद्ध महात्माओं की सुदीर्घ परम्परा स्थापित हुई, जिनसे समय-समय पर मुमुक्षु जन लाभान्वित होते रहे हैं। दो, सच्चे धार्मिक उपदेशक के रूप में वे समाज में कथनी और करनी की एकता स्थापित करने के पक्षधर थे। वैयक्तिक जीवन में सत्कर्म, सदाचार एवं सद्भावों का उन्मेष र सामाजिक जीवन को परिष्कृत करने के लिये सतत सजग रहे। र्म का सम्बन्ध व्यवहारगत आचरण से जोड़ कर उसे लोक दिखाऊ र्मकाण्डों के बजाय आत्म-साक्षात्कार एवं अनुभूति का विषय घोषित या। उन्होंने धार्मिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता को प्रश्रय या। व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों को उदार एवं घनिष्ट बना र समाजिक जीवन में मधुरता और आत्मीयता की स्थापना करना उनकी आध्यात्मिक धार्मिकता का सार तत्व था।

तीन, समाज सुधारक के नाते वह व्यक्ति के जीवन को ध-विश्वासों, अज्ञान और शोषण से मुक्त कर उदार चरित्र उन्नत जीवन, जीने एवं सब प्रकार के भय तथा आतंक से विहीन आचरण करते हुए कुछ आध्यात्मिक अनुभूतियों को आत्मसात व्यक्ति संकुचित स्वार्थ से ऊपर उठ उदार एव उत्तम जीवन ीत करे, ऐसा सामाजिक परिवेश स्थापित करने और तदनुरूप स्थितियाँ उत्पन्न करने की दिशा में वह संलग्न रहे। एक सुधारक ाते आचार्य श्री दयालदासजी महाराज व्यक्ति के सुधार से समाज र का लक्ष्य प्राप्त करने के पक्षपाती थे। अतएव वह सर्वप्रथम क के जीवन को उदार एवं उत्तम देखने के पक्षपाती थे। इसके लिये कगत जीवन में साधना और सामाजिक जीवन में सेवा को विशेष व दिया करते थे।

इस प्रकार सेवा एवं साधना के तटबंधों से जीवन-सरिता का प्रवाह उस अनन्त सत्ता-सागर की ओर उन्मुख करना ही लौकिक जीवन की सफलता और पारलौकिक सिद्धि एवं नि:श्रेयस की कसौटी माना गया। आध्यात्मिक सिद्धि एवं सफलता के लिये साधना जहाँ अपरिहार्य है, वहाँ लोक जीवन को सुखी-सानन्द एवं समृद्ध करने के लिये लोक-सेवा का आदर्श भी अत्यावश्यक है। दान-पुण्य एवं परोपकार के अन्यान्य समस्त कार्य लोक सेवार्थ सम्पन्न किये जांय—यही उनके उपदेशों का सार-तत्व समझा जा सकता है।

साहित्य-साधना ※ संत परम्परा के महापुरुषों द्वारा जो पद्यमय साहित्य-सृजन किया गया है, उसे 'अनुभव-वाणी' कहा जाता है। वह 'वाणी-साहित्य' के नाम से भी पुकारा जाता है। कबीर से लेकर आज दिन पर्यन्त जो संत महापुरुष हुए हैं, उन्होंने अपने अनुभवों को वाणी दी है और उन्हें पद्यबद्ध रचनाओं के रूप में अभिव्यक्त किया है। यह प्राय: मुक्तक काव्य है, जो साखी, सबद एवं पदों के रूप में उपलब्ध है। प्राय: संत-साहित्य का सृजन दोहा जैसे छन्द और गेय पदों के रूप में ही हुआ है। बहुत ही कम वाणीकार महात्माओं ने नाम मात्र के लिये अन्य छन्दों को अपनाया है। संत सुन्दरदास ने अवश्य ही 'सुन्दर-विलास' जैसे उत्तम काव्य ग्रन्थ का प्रणयन किया है, जिसमें संत-परम्परा की दोहा एवं पदशैली से हटकर कुछ अन्य छन्दों का प्रयोग किया गया है। परन्तु अनुभव वाणी साहित्य की विपुलता, साहित्यिक उत्तमता विविध जाति के छन्दों का प्रयोग एवं भाषा का सौष्ठव, विषय की विविधता तथा प्रबन्ध, मुक्तक और

※ श्री दयालदासजी महाराज का विपुल अनुभव-वाणी साहित्य अब तक अप्रकाशित था; परन्तु वह निकट भविष्य में 'संत-साहित्य संस्थान' [illegible], बीकानेर एवं 'श्री मराप रामस्नेही साहित्य शोध प्रतिष्ठान, प्रधान पीठ श्री रामधाम खेड़ापा' के सौजन्य से चार भागों में एक साथ [illegible] किया जा रहा है।

गेय—सब प्रकार के काव्य का सृजन करने वाले संत-मत के साहित्यकारों में यदि किसी का नाम ढूंढ़ा जाय तो आचार्य श्री दयालदासजी महाराज ही का नाम एक मात्र अपवादस्वरूप लिया जा सकता है। यहाँ तक कि समस्त संत-साहित्य के परिपेक्ष्य मे आपका वाणी साहित्य विशिष्ट एवं अनुपम ठहरता है।

आचार्य श्री दयालदासजी महाराज का कुल वाणी साहित्य; जो वर्तमान में उपलब्ध है, लगभग ३५ हजार श्लोकमेधा का है एवं इससे कुछ ही न्यून वाणी साहित्य लुप्त समझा जाता है। भाषा, भाव, शैली एवं छन्द तथा अलकार सब प्रकार से आपका काव्य उत्तम कोटि का है। भावानुकूल भाषा और विषयानुकूल काव्य शैली आपकी विशेषता है। प्रधानरूपेण आपके काव्य की भाषा राजस्थानी है; परन्तु प्राचीन हिन्दी काव्य की भाषा पिंगल (व्रज भाषा का प्राचीन रूप) एवं डिंगल (राजस्थानी भाषा की चारण-भाट शैली) और बोलचाल की ठेठ राजस्थानी भाषा पर भी आपका जबरदस्त अधिकार है। कहीं-कहीं पर पिंगल-डिंगल मिश्रित भाषा की छटा दर्शनीय बन गई है। प्रार्थना ग्रन्थ 'करुणासागर' में डिंगल शैली अपनाई गई है, तो क्रिया पद पिंगल के है और शब्दावली मे संस्कृत के तत्सम रूपों से लेकर राजस्थानी बोलचाल के शब्दों तक का प्रयोग अत्यन्त ही स्वाभाविक एव सुन्दर रूप से हुआ है। शैली में डिंगल का ओजगुण प्रकट है तो भाषा मे पिंगल का माधुर्य छलकता है। प्रवाह वेगवती एवं बलखाती लहराती सरिता का-सा है। अनुप्रास अलकार आदि से अन्त तक छाया हुआ है; परन्तु उदाहरण; उपमा एवं रूपक अलंकारों का प्रयोग भी सुन्दर तथा स्वाभाविक बन पडा है। पौराणिक कथा प्रसंगों को लेकर इति वृत्तात्मक शैली में छन्द सारसी, रोमकंदी, दोहा एव छप्पय में लिखे गये इस काव्य ग्रन्थ की एक-एक पंक्ति और यहाँ तक कि एक-एक शब्द भक्त-हृदय की विनय, दीनता, शरणागति एवं आत्मसमर्पण के भावों से ओतप्रोत एवं करुणरस से सराबोर है। भावुकता और करुणा से परिपूर्ण यह ग्रन्थ यथार्थ में 'करुणा का सागर'

ही बन गया है; जिसमें 'करुणासागर' श्री परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना की गई है। इस में आपकी सारी सम्वेदना, भक्ति, दर्शन एवं काव्य-कला की सर्वोत्तम अभिव्यञ्जना हुई है।

'गुरु प्रकरण परची' नाम से एक प्रबन्ध काव्य का प्रणयन भी आपके द्वारा किया गया है। इसमें आचार्य श्री रामदासजी महाराज का सम्पूर्ण जीवनवृत्त दिया गया है। यह ग्रन्थ राजस्थानी भाषा में दोहा-चौपाई छन्दों में रचा गया है। रचना काल विक्रम सम्वत् १८५५ है। यह ग्रन्थ आपने आशु कवि के रूप में मौखिक कहा था, जिसे श्री परसरामजी महाराज ने लिपिबद्ध किया। इस ग्रन्थ की कथा को ४८ विश्रामों में विभक्त किया गया है। इस ग्रन्थ के घटना प्रसंगों के माध्यम से तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थिति तथा वातावरण का भी दिग्दर्शन कराया गया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों का भी उद्घाटन होता है, जो अन्यत्र उल्लिखित नहीं मिलते।

इसके अतिरिक्त पौराणिक युग, मध्यकाल एवं आधुनिक काल में हुए समस्त भगवद् भक्तों के चरित्रों को सूत्रबद्ध कर 'भक्तमाल' नामक ग्रन्थ की रचना की गई है। वैसे अनेकों भक्त कवियों ने कोटियों ग्रन्थों का प्रणयन 'भक्तमाल' नाम से किया है, परन्तु यह 'भक्तमाल' अपनी कई विशेषताओं के कारण विशिष्ट महत्त्व का ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जाता है। सिद्धान्तात्मक एवं दार्शनिक गूढ़ रहस्यों पर प्रकाश डालनेवाले 'सर्वंगसार' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख पाया जाता है। इनके अलावा और भी कई ग्रन्थ हैं। इनकी वाणी साहित्य पद, ग्रन्थ आदि नाम से एवं मुक्तक रूप में प्राप्त होता है। फुटकर दोहा, चौपाई, कवित्त, तथा रेखता और अन्य [illegible]न छन्दों में उपलब्ध होते हैं।

एक परम्परागत जनश्रुति के अनुसार आचार्य [illegible] के ५५ हजार श्लोक मेवाड़ के वाणी साहित्य के अंतर्गत हुए

महत्वपूर्ण और भी साहित्यिक ग्रन्थ कहे जाते हैं। ये मध्यप्रदेश में किसी राजपरिवार के पास रखा जाना बताया जाता है। यह भी कहा जाता है कि श्री दयालदासजी से तीसरे ग्राचार्य श्री ग्रर्जुनदासजी महाराज ने उस वाणी साहित्य को हस्तगत करने के लिये प्रयास किये थे: परन्तु वह उसमें सफल नहीं हुए। कहा तो यह जाता है कि उस राजपरिवार ने इस वाणी साहित्य को ग्रपने पूर्वजों की धरोहर ग्रौर ऐतिहासिक महत्व की वस्तु बता कर वाणी साहित्य के प्रति ग्रपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए उसे लौटाने ग्रथवा प्रतिलिपि तैयार करवाने से ग्रपनी ग्रसमर्थता प्रकट कर दी। ऐसी ग्रनुश्रुति के प्रचलित होने के उपरान्त भी यह ज्ञात नहीं है कि वह वाणी साहित्य कहाँ तथा किस राजपरिवार के पास है।

एक वृद्ध एवं ग्रनुभवी संत महापुरुष से ऐसा विदित हुग्रा है कि यह लुप्त साहित्य १६ हजार श्लोक मेधा का है। इसका रचना काल विक्रम सम्वत् १८४६-४६ के मध्य का होने की सम्भावना व्यक्त की जा सकती है, क्योंकि इन्हीं सूत्रों ने देवगढ़ (मेवाड़) में यह वाणी साहित्य रखे जाने की सम्भावना व्यक्त की है। तत्कालीन घटनावृत्त के सन्दर्भ में विचार करने पर इस सम्भावना को तर्कसंगत माना जा सकता है। यह कालावधि जोधपुर नरेश श्री विजयसिंहजी द्वारा ग्राचार्यश्री रामदासजी महाराज को निर्वासित करने एवं पुन: क्षमायाचना कर ग्रादरपूर्वक उन्हें वापस बुलाने के मध्य की है। इस ग्रवधि में ग्राचार्य श्री का एक माह एवं तेरह दिवस तक देवगढ़ में रहने का उल्लेख पाया जाता है। तत्कालीन देवगढ़ नरेश राव चूंडावत श्री गोपालजी के समक्ष श्री दयालदासजी महाराज का काव्य बद्ध प्रश्नोत्तर होने का प्रसंग भी पाया जाता है।[1] यह भी कहा जाता है कि यही राव चूंडावत श्री गोपालजी ग्राचार्य श्री दयालदासजी महाराज के प्रथम गृहस्थ शिष्य थे। ग्रतः यह सम्भव है कि एक

१. प्रस्तुत पुस्तक पृ० २६४

माह एवं तेरह दिनों की अवधि में आचार्य श्री दयालदासजी म० ने वहां विद्वानों एवं नरेश से लोक भाषा में काव्यबद्ध तत्वचिन्तन धर्म एवं अध्यात्म पर चर्चा की हो, जिसे लिपिबद्ध करने का कार्य स्थानीय विद्वानों में से ही किसीने किया हो और पश्चात् वह वहीं पर रह गया होगा। अथवा यह भी सम्भव है कि नव दीक्षित अपने स्थानीय अनुयायियों में प्रचारार्थ और उन्हें शिक्षित करने हेतु किसी पढ़े लिखे स्थानीय भक्त को कुछ वाणी साहित्य सम्प्रदान कर दिया गया हो और उसकी प्रतिलिपि स्वयं के पास न रही हो। इस प्रकार 'अनुभव-वाणी' की पुस्तकें स्वयं आचार्यों द्वारा अपने विशेष अनुयायी भक्तों को सम्प्रदान किया जाना एक प्रामाणिक तथ्य है। अतः उनके द्वारा लिखे गये अमूल्य वाणी साहित्य के कुछ अंशों का इस प्रकार लुप्त हो जाने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

स्फुट प्रसंग :—

घटना विक्रम सम्वत् १८५५ के असाढ़ महिने की है। असाढ़ कृष्णा सप्तमी के दिन इनके गुरु आचार्य श्री रामदासजी म० पंचभौतिक देह का परित्याग कर ब्रह्मलीन हो गये। समाचार सुन कर दूर-दूर से भक्तगण, साधु, साधक एवं गृहस्थ अनुयायी उनके अस्थि-अवशेष एवं भस्मी का अन्तिम दर्शन करने के लिये उमड़ पड़े। एक अच्छा सा मेला लग गया। अभी तक इस मरुभूमि में प्रथम मानसून का आगमन नहीं हुआ था। अतः समस्त जलाशय रिक्त एवं सूखे पड़े थे। आगन्तुकों के लिये कुएं से सींच कर जल का प्रबन्ध किया गया था। परन्तु निरन्तर पानी खींचते रहने से दो तीन दिन में ही वह मरुभूमि का कुआं जवाब देने लगा। पीने के पानी की भयंकर समस्या खड़ी हो गई और लोग थे कि निरन्तर आ रहे थे एवं जो आ गये थे वे सतरहवीं के पूर्व लौट जाने का नाम नहीं ले रहे थे। खामोर ठाकुर श्री शिवसिंहजी ने श्री दयालदासजी से प्रार्थना की कि यदि आज्ञा हो तो खामोर से खेड़ापा तक जल लाने के लिये ऊँटों एवं गाड़ियों की कतार लगा दी

जाय। परन्तु यह कार्य सरल नहीं था। इतनी दूरी को पार कर जल का पूर्ण प्रबन्ध करना असम्भव-सा लग रहा था।

श्री दयालदासजी महाराज को तो उस करुणा वरुणालय भगवान् की भक्त-वत्सलता पर पूर्ण विश्वास था। अतः इस समस्या के समाधान हेतु ये निमाज गाँव मे सम्प्रदाय का थाम्भायत शाखा स्थान रामद्वारा स्थापित करने वाले श्री राघोदासजी महाराज को संग लेकर एकान्त स्थान में प्रार्थनालीन हो गये। भक्त हृदय की पुकार भगवान् ने सुन ली। हवा का रुख बदला। पुरवैया के झोंके आए। उत्तर दिशा में बदलो-सी नजर आई। देखते-देखते पूरा मोसम ही बदल गया। आकाश में घन-घटा घिर आई। बिजली चमकने लगी और रिमझिम वर्षा प्रारम्भ हो गई। प्रातः होते होते सारे जलाशय वर्षा के निर्मल जल की उत्ताल तरंगों से तरंगित होने लगे। इस घटना का वर्णन स्वयं श्री राघोदासजो महाराज ने इन शब्दों में किया है :—

करुणा कर कुंकुंतणी, लिखो इन्द्र पहुँचाय।
मेले रामदास के, जल हर भरजो आय॥
खरा खेड़ापे आवजो, आरम्भ सगलो लेह।
जिग महोत्सव त्यारी हुई, कूं वाज दोनों छेह॥
इन्द्र आयो घोर के, जांझो बीज खिवाय।
मेलेजू रामदास के, सरवर दिया छिलाय॥

तत्कालीन विद्वान् एवं प्रत्यक्षदर्शी सत श्री बालकदासजी ने इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है :—

ततकाल लई हरि अरजमान, कृपाल भये कृपा निधान।
उत्तराध चढ़े बादल उमँग, घरहरे गाज हुए सजल रंग।
चमकत बीज घन अखण्ड धार, जल आय राम सागर मंझार॥
(जन प्रभाव परचो)

इस अवसर पर एक अन्य चमत्कारपूर्ण घटना के घटित होने का भी उल्लेख मिलता है। यह इनके गुरुदेव के निर्वाण होने

के तीसरे दिन अर्थात् असाढ़ कृष्ण दसमी की घटना है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि श्री दयालदास अत्यन्त ही सरल स्वभाव के एक उत्कृष्ट गुरु भक्त शिष्य थे। घटना प्रसंग यह बताता है कि आचार्य श्री रामदासजी महाराज जब असाढ़ कृष्ण सप्तमी को प्रातःब्रह्म-मुहूर्त में निर्वाण पद को प्राप्त हो गये तो ये अतीव व्याकुल हुए। दो दिन एवं दो रात्रि विरह विकल हो व्यतीत कर दी। सारी सुध-बुध खो बैठे। भूखा शिशु स्तनपान के लिये जिस तरह तड़पता है उसी तरह ये श्री गुरु दर्शन के लिये व्याकुल हो तड़पने लगे। श्री गुरुदेव के विरह-वियोग की व्यथा की इन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है :—

❀ चरण ❀

राम अमीरस पाता रे। श्वास श्वास में साता रे॥
या ऊणत मन मांही रे। मुख बिन वायक सिध नाही रे॥१॥
किनको शीश नमाऊं रे। कुण ढिग लाड़ लड़ाऊं रे॥
किनकी संगति साभूं रे। चित्त मनही मन में दाभूं रे॥२॥
या मन की कुण माने रे। सद्गुरु साहिब जाने रे॥
वे नहीं प्राण पियारा रे। दर्शन बिन अंधियारा रे॥३॥
आज अनाथ अनाया रे। संदकृत लियो न साया रे॥
सांई किन दिशि जोऊं रे। मन ही मन में रोऊं रे॥४॥

(श्री परची)

इस प्रकार विरह-व्याकुल हो संतप्त हृदय से अशान्त मन की व्यथा को व्यक्त करते करते तीसरा सूर्योदय हो गया। आंगन में श्री गुरुदेव के विराजने का खाली सिंहासन रखा हुआ था। समक्ष बैठे श्री दयालदास विलापपूर्ण विनती करते हुए सारी सुध-बुध भूले विदेह में विराज रहे थे। भक्तगण, साधु-साधक एवं अनुयायी सोच रहे धीर-वीर पुरुष को, जो अधीर हो रहा था, धैर्य कौन दे? को कौन समझावे कि आत्मा अमर है एवं नाशवान

शरीर के लिये व्यथा क्यों की जाय ? चहुँतरफ एक अपूर्व स्तब्धता थी। अगर कोई स्वर था; किसी प्रकार की ध्वनि सुनाई दे रही थी, तो वह विनय-विलाप करते हुए श्री दयालदास की थी। सहसा एक चिर-परिचित गम्भीर स्वर सुनाई दिया। सम्पूर्ण सभासद् क्या देख रहे है कि ब्रह्मलीन आचार्य श्री रामदासजी महाराज सिंहासन पर पूर्ववत विद्यमान है एवं वह उपदेश कर रहे हैं। उस उपदेश को सबने सुना और आचार्य श्री रामदासजी म० का कुछ क्षणों के लिये अतृप्त नेत्रों से दर्शन करते रहे। दयालदासजी महाराज के स्वयं के शब्दों में—

दिवस तीसरे उदय प्रभाता, जोवधार नवमो दिन साता।
मानो रंक चिन्तामणी पाई, प्रगट दर्शन आप दिखाई।
बाबोजी महाराज पधारे, अपने को घिन सार सम्भारे।
नख सिखतें सैंदेह स्वरूपी, आय विराजे पाट अरूपी।[1]

एक अन्य कवि इस दिव्य घटना का स्मरण कर श्री दयालदासजी के प्रति अपने हृदयोद्गार इन शब्दों में प्रकट करता है :—

भक्त्या येन समाहूत, आचार्योऽपि परं गतः।
दयालुं त सदा वन्दे, करुणा वरुणालयम् ॥[2]

अर्थात् ब्रह्मलीन हुए आचार्यचरण को भी जिसने एक बार पुनः पीछा बुला लिया, उन करुणा के समुद्र श्री दयालु प्रभु को मैं हमेशा वन्दना करता हूँ। श्रीरस्तु शुभम्।

हरिः ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—:❋:—

❋ सत्यम् शिवम् सुन्दरम् ❋

1. श्री परचो
2. श्री आचार्य-चरितामृत पृ० ३२७

श्री मदाद्य रामस्नेहि सम्प्रदाय की आदि प्रणालिका

(नादवंश-वर्णन)

छंद घनाक्षरी

प्रथम अस्तुति परब्रह्म गुरु राम जनां,
प्रनालिका आदि भक्ति द्राविड़ देस मान यं।
तोताद्रि विराजमान रामानुज स्वामी नमो,
अनुक्रम शिष ताय उजागर जानयं।
सम्प्रदा प्रभाव च्यार द्वारा ताय बावन जु,
प्रतापीक भये शिष भगति प्रवान यं।
बारावली प्रगट रामानंद समथ महा,
ताके शिष शाखा बहु धरे ब्रह्म ध्यान यं ॥१॥

छप्पय छंद

रामानंद महाराज, अनंतानंद उजागर।
करमचंद ता शिष्य, देवाकर पूर्ण दमोदर॥
नरायण मोहन नमो, मंदानि माधो दासं।
गुन्दर है ता शिष्य, चरणदास हु शिष जासं॥
जन जैमल हरिराम पिन, परचे जन 'सिहथल' प्रगट।
दरस परस उदय भगति, सघन समागम राम रट ॥२॥
सतगुरु श्री हरिराम, रता तत भक्ति उजागर।
ता शिष रामादास, सरण समथ सुख सागर॥
परब्रह्म पारस नेह, शक्ति सुर बगस कृपा निध।
इच्छा किरिया ग्यान, नित्य अवतार अनां विध॥
उत्तम तन दरसैन उर, राम नाम निज मंत्र मन।
अनुभव परचे अगम गम, ब्रह्म समाधि गंग जन ॥३॥
श्री गुरु रामादास, अपना सभा सोम घन।
दूधधारी निज दयाल, ग्यान गुण भक्ति उदै मन॥
विद्या विविध प्रकार, संस्कृत प्राकृत सारा।
हंसां परम प्रसंग, काव्य गुण छंद धारा।
रामनाम परचे परमिथ, अनुभव शब्द उचार जिन।
गुरु प्रेम ध्यान प्रधान कर, नमो नमो गुरु दयाल जिन ॥४॥
श्री बालकरामजी—जन-प्रकाश-नामी; चंद्रदत्त प्रकाश।

परिशिष्ट १ :–

सम्प्रदाय का दर्शन

श्री मदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय के दर्शन को आचार्यश्री "रामदासजी महाराज की "अनुभव वाणी" नामक ग्रन्थ की भूमिका मे विस्तार दर्शाया गया है, जो अविकल रूप से यहाँ पर उद्धृत किया जा रहा है।

"रामस्नेही सम्प्रदाय के दार्शनिक धरातल की रूपरेखा संक्षेप में इस प्रकार दी जा सकती है :—

१. रामस्नेही सम्प्रदाय का दर्शन शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत से प्रभावित है।

२. रामस्नेही सम्प्रदाय में राम के सगुण—निराकार रूप का सुमिरण और साधना होती है। यह रामदाशरथी राम नही है। यह एक शब्द में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का सृजन करने वाला है। यह निरंजन ब्रह्म है। यह अचल, अखण्ड, अभंग है। यह पतितपावन है। सर्वांगीण है। राम ही परब्रह्म है, राम ही परमतत्व है, और राम हो ब्रह्म तारक है। रामस्नेही का राम द्वैत, अद्वैत, सगुण—निर्गुण सभी सीमाओं से परे हैं। निर्गुण राम के सगुण रूप की आराधना अनेक संत मतों में हुई है। रामस्नेही सन्तो की अनुभव वाणी में भी यत्र तत्र ऐसे अवतारी स्वरूप का गुणगान मिलेगा किन्तु इसकी मूल आस्था निराकार राम में ही है। निर्गुण राम के सगुण रूप की आराधना इसलिए हुई है क्योंकि इस सम्प्रदाय का दर्शन ब्रह्म में दया, आनन्द, वत्सलता आदि गुणों को स्वीकारता है।

३. रामस्नेही सम्प्रदाय का विश्वास भी 'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या' में है। कबीर की भांति रामस्नेही सन्तों ने भी माया की खूब ही भर्त्सना की है। आचार्यश्री रामदासजी के शब्दों में देखिये :—

> रामा माया डाकिणी, डकणायो संसार।
> काढ़ कलेजो खायगी, जाको सुध्य न सार॥
> मायापासो रामदास, सब नाख्या फंद मांय।
> तीन लोक कूं घेर कर, हरि सूं लिया छुड़ाय॥

४. रामस्नेही सम्प्रदाय की साधना-पद्धति में योगशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है। 'सुरति-शब्द-योग' उस में प्रमुख है। यह एक साधना-पद्धति है। इसकी व्युत्पत्ति और अर्थ के सम्बन्ध में विद्वान् आज भी एक मत नहीं है। रामस्नेही सम्प्रदाय में 'सुरति-निरति' शब्दों का विशिष्ट प्रयोग हुआ है। यहाँ सुरति शब्द से चित्त की उस विशेष वृत्ति का द्योतक होता है जो ररंकार ध्वनि के साथ अबाध रूप से एकाग्र हो कर उसमें समाहित रहती है। निरति शब्द से यहाँ तात्पर्य उस सहजावस्था से है जहाँ पर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि का लय हो जाता है—साधना का अन्त हो कर जहाँ साध्यावस्था प्राप्त हो जाती है।

उपरोक्त सुरति शब्द योग के अनुसार रामस्नेही साधना का मार्ग निम्नानुसार है :—

इस सम्प्रदाय में रामनाम का स्मरण एक विशिष्ट योग पद्धति से अवलम्बित है। रसना, कण्ठ, हृदय, नाभि आदि स्थानों पर शब्द सुरति की स्थिति होती है, इसलिये इस नामस्मरण की चार कोटियाँ है १. अध (अधम) २. मध (मध्यम) ३. उत्तम ४. अति उत्तम अर्थात् रसना के द्वारा स्मरण अधः स्मरण कहलाता है। कण्ठ के द्वारा मध्यम स्मरण कहलाता है, हृदय के द्वारा अति उत्तम स्मरण ..... है। नाभि में आ कर राम मन्त्र के 'मकार' एवं 'अकार'

जो माया एवं जीव के स्वरूप माने जाते हैं केवल 'रकार' रूप हो कर परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। नाभि में शब्द के स्थित होने पर शरीर की सम्पूर्ण रोमावलियों से केवल 'रकार' ध्वनि होती है। नाभि के आगे साधना के द्वारा कुण्डलिनी को जागृत कर, मेरुदण्ड की २१ मणियो का छेदन कर शब्द उर्ध्वगति को प्राप्त होता है। त्रिकुटी में जाकर यही शब्द सुरति एवं निरति के द्वारा ब्रह्म में लीन हो जाता है। इससे आगे माया का कोई प्रवेश नहीं है—'जीव' और 'सीव' का यही सम्मिलन है। जीव जीवत्व-मुक्त होकर यहाँ ब्रह्मलीन हो जाता है एवं साधक की योगियों की-सी सहज समाधि एव निर्विकल्प अवस्था प्राप्त हो जाती है। यही रामस्नेही संत की परम साध्यावस्था है।

रामस्नेही सम्प्रदाय में भक्ति एवं योग का जो समन्वय हुआ है, वह अपना विशिष्ट स्थान रखता है और इस सम्प्रदाय को अपनी इसी मौलिकता के कारण इतर सम्प्रदायों से पृथक करता है।

५. रामस्नेही सम्प्रदाय में जीवन-मुक्त अवस्था को ही मुक्ति माना है। संसार में रहते हुये, शरीर को धारण करते हुये, मन को निर्जीव कर लेना और ब्रह्म में लीन होने की अवस्था ही जीव-न्मुक्ति है। आचार्यश्री रामदासजी महाराज ने 'मरजीवा' के लक्षण इस प्रकार बताये हैं :—

"और सार पूछे नहीं, जग की तजो पिछाण।
रामदास मरतग भया, लगे न जम का बाण ॥
रामदास जन ऊबरया, अम्मर बूटी पाय।
जीवत मरतक हुय रह्या, साँई सरण संभाय ॥

[आचार्यश्री रामदासजी म० की वाणी-भूमिका से]

—o—

परिशिष्ट २ :—

सम्प्रदाय के नौ सूत्री नियम

आचार्यों की वाणी में यत्र तत्र रामस्नेही के आचार-विचारों के सम्बन्ध में निर्देश पाया जाता है। इन्ही निर्देशों को लिपिबद्ध कर विद्वानों ने 'पंचदश नियम' नाम से कई पुस्तकों में प्रकाशित किये हैं। सम्प्रदाय के विद्वान्, चिन्तक, उद्भट कवि एव साहित्यकार तथा रामस्नेही सम्प्रदाय के इतिहास, दर्शन एवं मन्तव्यों के मर्मज्ञ पण्डित ब्रह्मलीन श्री उत्साहरामजी महाराज प्राणाचार्य 'कलहंस' ने अपनी पुस्तक 'रामस्नेही मत दिग्दर्शन' में इन नियमों को वर्गीकृत कर नौ विभागों में विभक्त कर उनकी विशद व्याख्या की है। ये सूत्रबद्ध नियम निम्नप्रकार हैं :—

नियम—१. (क) सतचित् आनन्दस्वरूप सर्वव्यापी राम का इष्ट रखना।

(ख) श्रद्धा के साथ नित्यप्रति नियमित रूप से राममंत्र का स्मरण प्रातः सायं १ या २ घण्टा नित्य करना।

(ग) श्रीराम महाराज में ही पूर्ण-विश्वास अटल भक्ति रखें और ऐहिक तथा पारलौकिक सब सुखों का साधन रामस्मरण को ही समझें।

नियम—२. (क) श्रुति, स्मृति, श्री गुरुवाणी, गीता आदि आर्षग्रंथों का सदा नियमित रूप से स्वाध्याय करें और इन्हीं ग्रन्थों को प्रमाणभूत मान कर तदनुकूल आचरण रखें।

(ख) सदा स्नान, ध्यान और आचार्यवाणी का पाठ तथा वाणी की पुस्तक को पीठासन पर रख कर प्रातः सायं प्रार्थना, साष्टांग दण्डवत् एवं प्रदक्षिणा और प्रणाम करें।

नियम—३. राम, गुरु, संत इन तीनों की एकान्त उपासना करें और इनमें अनन्य भक्ति रखना, सदा सत्संगति में प्रीति रखना।

नियम—४. शील, संतोष, दया का पालन करना, ब्रह्मचर्य का व्रत रखना। काम, क्रोध, अभिमान, परनिन्दा का सर्वथा परित्याग करना।

नियम—५. (क) सात्विक वेषभूषा रखना।

(ख) शृंगार प्रधान, अश्लील साहित्य का नहीं पढ़ना। गालीगलोज आदि हीन भाषा का प्रयोग नही करना।

(ग) स्त्रियों के साथ बेहूदा हंसी-मजाक आदि हीन वृत्तियो का त्याग करना।

नियम—६. सप्तव्यसन जैसे—मद्य, मांस, अफीम, भांग, तम्बाखू, वेश्यागमन, परदारा व्यभिचार, चोरी आदि का पूर्ण परित्याग करना।

नियम—७. (क) मजबूत गाढ़े कपड़े से छानकर जल का व्यवहार करना।

(ख) बने जहाँ तक दिवाभोजी होना। यदि वह संभव नही हो तो चातुर्मास में अवश्य ही चार मास रात्रि-भोजन का निषेध करना।

नियम—८. (क) सत्य और मितभाषी होना एव अनर्गल अर्थात् बिना मतलब अधिक नही बोलना।

(ख) अपनी शक्ति के अनुसार परोपकार करते रहना और दीन-हीन की सहायता करना।

नियम—९. अन्य तुच्छ देवों की उपासना का त्याग करना और सब तरह के मन्तव्य एव वाग्दान (बोलवा) केवल श्री 'राम' के प्रति ही करना।

['श्री रामस्नेही मत दिग्दर्शन' से साभार उद्धृत]

परिशिष्ट-३

रामद्वारा धमाडा एक परिचय

श्रीमदाद्य रामस्नेही सम्प्रदाय के पीठ संस्थापक आचार्य श्री रामदासजी महाराज के प्रमुख ५२ शिष्य हुए; जिनमें से अधिकांश ने देश के विभिन्न भागों में सम्प्रदाय की शाखास्वरूप रामद्वारा स्थान स्थापित किये; जो थाम्भायत रामद्वारा कहलाते हैं। रामद्वारा धमाडा भी एक थाम्भायत स्थान है। मूलरूप से यह थाम्भायत रामद्वारा धमाडा ग्राम से दक्षिण में ८-१० किलोमीटर की दूरी पर स्थित बूड़ीवाड़ा ग्राम में आचार्य श्री रामदासजी महाराज के एक प्रमुख शिष्य श्री [illegible]रामजी महाराज द्वारा स्थापित किया गया था; जहाँ वर्तमान में भी रामद्वारा विद्यमान है। श्री [illegible]रामजी महाराज के उपदेश का प्रचार-प्रसार आस-पास के कई गाँवों में था; उनमें से धमाडा ग्राम भी एक है। इस गाँव में आपके विशेष अनुयायी हुए; जिनके आग्रह से आपकी चतुर्थ पीढ़ी में श्री गंगारामजी महाराज हुए; जो अपने जीवन के उत्तरार्द्ध काल में धमाडा ग्राम में आकर स्थायी रूप से रहने लगे। उन्हीं के द्वारा विक्रम संवत् १९५८ में इस ग्राम में रामद्वारा स्थान स्थापित किया गया। परवर्ती काल में जो इनके उत्तराधिकारी हुए वे भी प्रमुख रूप से इसी स्थान पर रहने लगे। इनके सब प्रकार के धार्मिक उत्सव एवं संस्कार के आचारों की व्यवस्थाएँ और उत्तराधिकार महोत्सव करने की रस्म भी इसी स्थान पर सम्पन्न की जाने लगी; जिससे इस बूड़ीवाड़ा एवं धमाडा के रामस्नेही अनुयायी बड़ी संख्या में अभिवर्द्धित होते गए हैं।

इस प्रकार ग्राम बूड़ीवाड़ा का यह थाम्भायत शाखास्थान सम्प्रदाय में थाम्भायत रामद्वारा असाडा के नाम से जाना जाने लगा। रामद्वारा असाडा का अधिपति ही बूड़ीवाड़ा स्थान का भी अधिपति होता है और उनके द्वारा अपने अधीनस्थ किसी साधु को रामद्वारा बूड़ीवाड़ा को देख-रेख करने एवं स्थानीय अनुयायियों को धर्म-उपदेश करने के लिये रखा जाता है।

१. श्री रूपरामजी महाराज

थाम्भायत शाखा स्थान बूड़ीवाड़ा-असाडा के मूल संस्थापक श्री रूपरामजी महाराज का जीवन-परिचय अज्ञात है। सम्प्रदाय का सर्वप्रथम प्रकाशित ग्रन्थ 'श्रीरामस्नेह धर्मप्रकाश' के अन्त में 'श्री सिंहथल खेड़ापा रामस्नेही संप्रदाय का मूल नादवंश' शीर्षक से जो सूची पत्र दिया गया है; उसमें क्रमसंख्या अठारह पर श्री रूपरामजी महाराज एवं उनके शाखा स्थान बूड़ीवाड़ा की पांचवी पीढ़ी में हुए श्री समर्थरामजी म०, जो केवल असाडा में ही विराजे और वहीं पर संप्रदाय के आचार्य द्वारा थांभायत रामद्वारा बूड़ीवाड़ा के उत्तराधिकारी महंत के पद पर गद्दीसीन किये गये; तक का नादवंश दिया गया है। 'आचार्य-चरितामृत' नामक पुस्तक में इस सम्प्रदाय के भूतपूर्व आचार्य श्री हरिदासजी शास्त्री दर्शनायुर्वेदाचार्य बी० ए० ने आचार्य श्री रामदासजी महाराज के प्रमुख शिष्यों का 'शिष्य शाखा' शीर्षक अध्याय में परिचय देते हुए वहाँ पर भी क्रम संख्या अठारह पर श्री रूपरामजी महाराज का परिचय इन शब्दों मे दिया है—"क्षत्रिय-कुल में आपका जन्म हुआ था। जन्म के ग्राम का नाम बायड़ था। उपदेशस्थल बूड़ीवाड़ा ग्राम था। अन्य चरित्र अज्ञात है।"[1]

इन तथ्यों के आधार पर साधिकार तो कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य

---

१. आचार्य चरितामृत पृ. २३१

श्री रामदासजी म० के ५२ प्रमुख शिष्यों में श्री रूपरामजी महाराज अठारहवें थे। निमाज गाँव में शाखा स्थान स्थापित करने वाले श्री राघोदासजी महाराज का उल्लेख नादवंश सूचीपत्र में चौदहवाँ है; उनका दीक्षाकाल विक्रम सम्वत् १८३४ की ज्येष्ठ शुक्ल १४ है एवं २२-२३ वें क्रम पर उल्लिखित सूरसागर शाखा रामद्वारा (जोधपुर) के संस्थापक श्री परसरामजी महाराज का दीक्षाकाल विक्रम सम्वत् १८४४ की माघ कृष्ण एकादशी है।[२] अतः श्री रूपरामजी महाराज का दीक्षाकाल विक्रम सम्वत् १८३४ और १८४४ के मध्य ठहरता है। इसी मध्य किसी समय आप आचार्य श्री रामदासजी महाराज से दीक्षित हुए। राम-मंत्र की दीक्षा प्राप्त कर साधना की विधि सीखने पर्यन्त कुछ काल आप आचार्यश्री के पास खेड़ापा में विराजे होंगे। तत्पश्चात् गुरुपदिष्ट मंत्र की साधना करते हुए मुक्त पर्यटन पर निकल पड़े। भ्रमण करते हुए आप मारवाड़ (जोधपुर) रियासत के मालाणी क्षेत्र के बूड़ीवाड़ा ग्राम में आ पहुँचे, जो वर्तमान राजस्थान प्रान्त के पश्चिमी जिला बाड़मेर की पूर्वी क्षेत्र की पचपदरा तहसील में पंचायत समिति बालोतरा के अन्तर्गत बालोतरा-पादरु सड़क पर बालोतरा से १८-२० किलोमीटर दक्षिण में स्थित एक उन्नत सघन कृषि प्रधान छोटा कस्बा है।

उपर्युक्त तथ्यों के संदर्भ में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि श्री रूपरामजी महाराज विक्रम सम्वत् १८४४-४५ तक बूड़ीवाड़ा ग्राम में स्थायी रूप से निवास करने लग गये होंगे; अतएव इस शाखा स्थान—बूड़ीवाड़ा (असाडा) धाम्मायत रामद्वारा की स्थापना श्री रूपरामजी महाराज द्वारा विक्रम संवत् १८४५ में किया जाना सिद्ध होता है।

श्री रूपरामजी महाराज बूड़ीवाड़ा ग्राम में उत्तर पूर्व की दिशा में गाँव के किनारे पर स्थित रेत के टिले पर आसन किया

२. वही पृ. २३४

करते थे। रेत के टीले पर अन्यान्य झाड़ियों के साथ एक 'झाल' नाम का रेगिस्तानी पेड़ था, जो वर्तमान में भी विद्यमान है। सम्भवतः उसी पेड़ की छाया में बैठकर आप राम-भजन एवं उपदेश किया करते थे। फलत. उसी स्थान पर एक कुटिया बना दी गई; जो रामद्वारा कहलाने लगा। कालान्तर में उसी स्थान पर एक कच्चा छापरा बनाया गया। सम्भव है, यह नाम मात्र का निर्माण कार्य भी आपके निर्वाण के पश्चात् आपकी स्मृति को अक्षुण बनाए रखने के लिये किया गया हो। इस प्रकार श्री रूपरामजी महाराज विरक्त, त्यागी एवं अपरिग्रही महात्मा थे। गाँव की आबादी एवं उसकी हलचल से तनिक हट कर एकान्त में बैठ भजन-साधन करने में तल्लीन रहना ही आपकी दिनचर्या थी। आपकी गिनती आचार्यश्री रामदासजी महाराज के अनुभवी प्रधान शिष्यों में थी, अतः यह संभव है कि आपने सम्प्रदाय के अन्य अनुभवी महात्माओं की भांति अनुभव वाणी का सृजन किया हो, परन्तु आज हमें उनकी कोई वाणी उपलब्ध नहीं होती। इसके दो कारण बताए जाते हैं—एक, स्थानीय गृहस्थ अनुयायियों में निरक्षरता होने से उनके द्वारा अनुभव वाणी का संग्रह नहीं किया गया। दो; ऐसा कहा जाता है कि इनके उत्तराधिकार की परम्परा इनके शिष्य श्री गोविन्दरामजी महाराज के पश्चात् टूट गई और कई वर्षों तक इस स्थान में कोई साधु नहीं रहा। फलतः हस्तलिखित ग्रन्थ नष्ट हो गये।

सुदीर्घ काल तक इस क्षेत्र में धर्म प्रचार-प्रसार एवं साधन-भजन करते हुए आप इस पंचभौतिक देह का परित्याग कर ब्रह्मलीन हो गये। आपका निर्वाण सम्वत् एवं तिथि-मिति अज्ञात है।

२. श्री गोविन्दरामजी महाराज

आप श्री रूपरामजी महाराज के शिष्य थे। आप में उत्कट वैराग्य एवं त्याग-तितिक्षा थी। ये राम भजन में मस्त रहा करते थे। पूरे फक्कड़ लक्षणों से युक्त फक्कड़ बाबा थे। आप अपने गुरु श्री रूपरामजी के निर्वाण के पश्चात् बूड़ीवाड़ा धाम्मायत रामद्वारा के

उत्तराधिकारी हुए और वहीं पर विराज कर भजन-साधन एवं धर्मो-पदेश किया करते थे, परन्तु पूर्ण विरक्तवृत्ति के कारण आपने स्थान परम्परा को चलाने की ओर ध्यान नहीं दिया। फलतः आपने कोई शिष्य दीक्षित नहीं किया। अतः आपके निर्वाण काल के पश्चात् आपका कोई उत्तराधिकारी नहीं हुआ और यह स्थान सूना हो गया।

३. श्री सालिगरामजी महाराज

श्री सालिगरामजी महाराज सम्प्रदाय के आचार्य पीठ खेड़ापा के दीक्षित थे। सम्भवतः आप सम्प्रदाय के तृतीय आचार्य श्री पूरणदासजी महाराज के शिष्य थे। श्री गोविन्दरामजी महाराज के निर्वाण के पश्चात् यह स्थान पर्याप्त समय तक सूना रहा। एक बार यहां के स्थानीय गृहस्थ अनुयायियों द्वारा खेड़ापा जाकर सम्प्रदाय के आचार्यश्री से रामद्वारा बूड़ीवाड़ा में किसी साधु को भेजने की प्रार्थना की गई; तदनुसार श्री सालिगरामजी महाराज को इस थाम्भायत रामद्वारा के उत्तराधिकारी का अधिकार-सम्प्रदान कर उसकी व्यवस्था एवं धर्मोपदेश करने के लिये उन्हें यहां भेजा गया।

श्री सालिगरामजी महाराज पूर्ण विरक्तवृत्ति के साधु एवं समाधि सिद्ध महापुरुष थे। ये पूर्ण अपरिग्रहीवृत्ति से रहा करते तथा धर्मोपदेश किया करते थे। एक बार आप चातुर्मास करने के लिये तिलवाड़ा गांव पधारे। वहां एकान्त में रामस्मरण करते हुए समाधिस्थ हो गये। समाधि अवस्था में आपको मालूम हुआ कि यह पंचभौतिक कलेवर अपनी आयु पूर्ण कर चुका है, अतः वह नष्ट होनेवाला है। मृत्यु का पूर्वाभास होने पर आपने वहां चातुर्मास व्यतीत करना स्थगित कर दिया और आप असाढ़ शुक्ल पूर्णिमा के दिन गांव बूड़ीवाड़ा में लौट आए। वहां आकर पूर्णिमा के उपलक्ष में (जीवन-पूर्णिमा) रात्रि जागरण का आयोजन किया। प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में स्नान कर भक्त-मण्डली द्वारा लाया गया प्रसाद का भोग भगवान् को लगाया और श्रद्धालु

भक्तों में वितरित करने के उपरान्त प्रांगण में बैठ रामस्मरण करते हुए देह त्याग कर दिया।

इस प्रकार आप विक्रम सम्वत् १९४४ को श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन निर्वाणपद को प्राप्त हुए। कहा जाता है कि जिस समय आपने ग्राम बूड़ीवाड़ा में देह-त्याग किया, उस समय प्रसाडा ग्राम का निवासी किसनाजी चौधरी नाम का एक किसान अपने सिचाई के कुए को पक्का बधवाने के लिये गाँव से दूर पर्वत पर पत्थर लाने के लिये बैल गाड़ी ले कर गया। उसने जिस पत्थर को गाड़ी पर रख कर ले जाने के लिये पसन्द किया, वह संयोग से कुछ अधिक बडा और वजनी था। किसनजी पत्थर को गाडी पर रखने का बार-बार प्रयत्न करते और असफल होते। अन्त में निराश हो वे सहायता के लिये किसी चरवाहे अथवा उनके किसी हमराही के आने की प्रतीक्षा करने लगे। उसी समय उन्हें अपने परिचित श्री सालिगरामजी महाराज आते हुए दिखाई दिये। वह पास आए। कुशलक्षेम पूछा और उसे वह पत्थर गाड़ी पर रखवाया। इसके पश्चात् वह वहाँ से अगले गाँव जाने का कह कर चल दिये। किसनजी भी उस मन पसन्द पत्थर को लेकर अपने कुए पर पहुँच गया। वहाँ पहुँचे उन्हें कुछ ही क्षण हुए होंगे कि बूड़ीवाड़ा से श्री सालिगरामजी महाराज के देह-त्याग करने का सन्देश लेकर सन्देशवाहक आ पहुँचा। अब किसनजी को समझ में आया कि कुछ समय पूर्व पर्वत पर पत्थर गाड़ी पर रखवाने के लिये जो श्री सालिगरामजी महाराज ने मदद की थी, वह उन्होंने मरणोत्तर काल में उसी स्वरूप में प्रकट होकर उसे दर्शन देकर कृतार्थ किया था।

श्री सालिगरामजी महाराज सहज साधुवृत्ति के त्यागी, विरक्त, पूर्ण अपरिग्रही एवं समाधि सिद्ध महापुरुष थे। स्थानीय गृहस्थ अनुयायियों में आपके प्रति बड़ी श्रद्धा है और अभी भी वे आपको ही मनौति निवेदित किया करते हैं।

४. श्री गंगारामजी महाराज

श्री गंगारामजी महाराज के जीवन का प्रारम्भिक परिचय अज्ञात है। आप श्री सालिगरामजी महाराज के प्रमुख शिष्य थे। और उनके पश्चात् आप बूड़ीवाड़ा रामद्वारा के उत्तराधिकारी हुए। आप अत्यधिक परिश्रमी एवं भ्रमण प्रिय थे। प्रायः आप रामत किया करते थे। आप 'राम' स्मरण और भजन-साधन करने के अतिरिक्त कभी कभी कठोर तपश्चर्या भी किया करते थे।

श्री गंगारामजी महाराज प्रज्ञाचक्षु थे। परन्तु आपने अपने गुरु एवं सम्प्रदाय के अन्य योग्य साधुओं के संग रहकर सम्प्रदाय के आचार्यों और महात्माओं के वाणी साहित्य का गहन अध्ययन किया था। बहुत से ग्रन्थ आपको कण्ठस्थ थे।

ये अपने गुरु श्री सालिगरामजी महाराज के निर्वाण के पश्चात् लगभग पन्द्रह वर्षों तक ग्राम बूड़ीवाड़ा में रहे। वहाँ पर इन्होंने एक पक्की शाल बनवाई। इसके पश्चात् ग्राम असाड़ा के गृहस्थ अनुयायियों के विशेष आग्रह से आप असाड़ा ग्राम में पधार गये, जहाँ विक्रम सम्वत् १९५९ में वर्तमान रामद्वारा भवन का निर्माण करवाया और वहाँ रहने लगे। अनुमानतः विक्रम सम्वत् १९७०-७२ में आश्विन शुक्ल ८ के दिन इस पंचभौतिक कलेवर का परित्याग कर आप ब्रह्मलीन हो गये।

५. श्री समर्थरामजी महाराज

श्री समर्थरामजी महाराज सरल स्वभाव एवं साधुवृत्ति के एक सज्जन पुरुष थे। आप मिलनसार और उदार प्रकृति के थे। अपने आत्मीय व्यवहार से सबको मोह लेते थे। आपका जन्म [illegible] में एक सद्गृहस्थ किसान चौधरी [illegible] था। श्री गंगारामजी महाराज से दीक्षा प्राप्त [illegible] के

पश्चात् आप उनके उत्तराधिकारी स्थानाधिपति बने। प्रायः आप ग्राम प्रखाड़ा में ही विराजा करते थे। आपने विक्रम सम्वत् २००६ में भादवा के कृष्ण पक्ष की तृतीया को निर्वाण पद प्राप्त किया।

६. श्री भक्तिरामजी महाराज

स्वनाम धन्य श्री भक्तिरामजी महाराज 'राम' की 'भक्ति' के मूर्त रूप थे। यथा नाम तथा गुण वाली कहावत उन पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। अधरों पर इठलाती हुई मन्द मुस्कान, प्रशान्त भाव, सरलचित्त एवं मधुरवाणी सहज ही संत-स्वभाव के परिचायक थे। अडिग आसन जमाए, सतत 'राम' नाम के स्मरण में अहर्निशरत कभी भी उनका दर्शन किया जा सकता था। मन्दध्वनियुक्त हिलते हुए प्रोष्ट ही यह दर्शाते थे कि वह ध्यान में मग्न है। स्मरण-ध्यान करने के लिये आपको किसी प्रकार की औपचारिकता का आडम्बर करने की कभी कोई आवश्यकता नहीं हुआ करती थी। जिस स्थान पर आसन किया, वहीं 'राम' नाम के स्मरण में लीन एवं ध्यानमग्न हो जाते थे। वस्तुतः आप सहज स्मरण एवं सहज ध्यान की अवस्था में नित्य निवास किया करते थे।

श्री भक्तिरामजी महाराज का जन्म विक्रम सम्वत् १६५३ में रंगाला के निकट सोलाऊपा गाँव जिला बाड़मेर में समरागामजी चौधरी (सोनंकी) परिवार में किशनाबाई की कुक्ष से हुआ था। सम्वत् १६६६ में इन्होने श्री समरथरामजी महाराज से दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने अपनी गुरु परम्परा का वर्णन इन शब्दों में किया है:—

रामदास अवतार लियो जिन, सुरधर-माँय खेड़ा विराजे।
ताहि के दयालहु दयाल के पूर्ण, पूर्ण के अर्जुन हो ताजे।
अर्जुन के हरलाल भये जिन, ताहू के लालूराम सराजे।
लाल के केवल शिष्य भये जिन, आज समथ गादी पर छाजे ॥१॥

पुनः—

> रामदास अवतार लियो जन, गुरघर मांय गेहाणो है धामा।
> ता शिष्य रूपाराम भये पिन, वास बसे बूडोवाड़ आरामा।
> ताहु के पाट गोविन्द बिराजत, गोविन्द के शिष्य सालिगरामा।
> ता शिष्य गंगाराम भये पिन; समरथ भक्तिराम प्रणामा ॥२॥

ग्रोर :—

> रूपदास गोविन्द गुरु, सालिग संत प्रणाम।
> गंगा समरथ चरणकूं, वन्दत भक्तिराम ॥३॥

दीक्षोपरान्त आपका लाल-पालन एवं शिक्षा आपके दादा गुरु श्री गंगारामजी महाराज के संरक्षण में सम्पन्न हुई। श्री भक्तिरामजी महाराज प्रज्ञाचक्षु थे, अतः आपकी शिक्षा का आरम्भ अक्षराभ्यास के बजाय मौखिक शास्त्राभ्यास से हुआ। श्री भावनादासजी महाराजकृत श्रीमद् भगवद्गीता का दोहा-चोपाई पाठ कण्ठस्थ किया। संत सुन्दरदास का 'सुन्दरविलास' एवं भर्तृहरि के शतकत्रय को भी कण्ठाग्रह किया गया। इसके अतिरिक्त सम्प्रदाय के आचार्यों एवं महात्माओं के विपुल वाणी साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंश आपको कण्ठस्थ था। श्रीमद्भागवत की कथाएं, रामचरितमानस एवं पुराणों के सैकड़ों भक्त चरित्र और दृष्टान्त तथा उदाहरणों के माध्यम से अनेकानेक डिंगल, पिंगल, एवं संस्कृत कवियों के छटादार छन्दों का उच्चारण तथा गान करते हुए आप ज्ञान का प्रचार-प्रसार एवं उपदेश किया करते थे। आपके उपदेश का मुख्यस्वर ग्रामीण और निरक्षर तथा असभ्य जनता को सभ्यता की ओर उन्मुख करने का होता था। बिना छाने वर्षा का जल पीने से गाँवों के लोग प्रायः नारू रोग से पीड़ित रहा करते हैं। उन्हें दया का महत्व समझाते हुए छानकर जल पीने का उपदेश इन शब्दों में किया है—

एक ही घूँट लेवे अण छाणो जु, जोव असंख्य मांय सुणोजे।
गाढ़ो पट ले दुपट करीजे, निरमल नोर छान के पोजे।
जुगत जीवाणी जल में डारहु, महो दया सुण मेटण कोजे।
महातम मोटो दयाको कहावत, भक्तिराम भलोवद लोजे ॥४॥

भांग-तमाखु आदि दुर्व्यसनों का निवारण करने के लिये श्री भक्तिरामजी महाराज ने भांग के पौधे एवं रासभ के मध्य सम्वाद द्वारा लोगों को इस प्रकार उद्बोधित किया है :—

भांग को बूटो देख्यो गधे जब, होय कने तब शीघ्र सिधावें।
भांग बोलो मोहि सबहि चाहत, रासभ तू तब क्यु नहीं खावे।
'मिनख खाय सो होत है मो सम, हम खाय क्या नाम धरावें'।
भांग भली नहीं भक्तिराम, खावे सो नर जन्म गमावें।

आज-कल शिक्षा के साधन बढ़ गये हैं। गांवों में भी विद्यालय है। रेडियो हैं एवं शहरों के साथ सक्रिय सम्वाद है। परन्तु स्वतंत्रता के पूर्व जन-शिक्षण का एक मात्र साधन सत्सग ही हुआ करता था। वही वह माध्यम था, जहाँ धर्म, नीति, समाज, इतिहास एवं मानवता की शिक्षा मिला करती थी। अतः सत्संग का नित्य सेवन करने के लिये कहा है :—

वेद, पुराण सदा इम भाखत, सन्तन को सत्-संगत कीजे।
संत-संग जिसो सुख ग्रोर नहीं, तहाँ होय निराश सदा रस पीजे।
मनरंजन, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशतप्रेम, मन के पद्-कुपद्द धोइजे।
भक्तिराम मिला तोहि ग्रोसर, वाद विवाद वृथा म खोइजे ॥६॥

ग्रौर:—

मात-पिता जु मिलत है बहुत ही, सत चोरासी जात जहाँही।
सत्-सदन लाभ मनुष ही पावत, नाहि कृपा जु गुरु की होई।
महंगो वस्तु देन हैं सन्त जु, ज्ञानस्वरूप उर्द घट माँही।
भक्तिराम ऐसा गुरु समरथ, इष्ट स्वरूप का ध्यान कराही ॥७॥

परन्तु यह सत्संग वास्तव में संतजन एवं सज्जन पुरुषों का ही होना चाहिए। अंध विश्वास एवं भ्रमों को फैलाने वाले तथाकथित ज्ञानी, जो वस्तुतः सत्संग की आड़ में अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते है, उनके चक्र में फंस गये तो कुछ भी मिलने का नहीं है। इस बात को उन्होंने एक रूपक द्वारा अति ही सुन्दर रूप से व्यक्त किया है—

नगन के भेलो सोय के मूर्ख, आपनो सीत निवारण चावें।
आपहु धूजत है बहु शीतते, तुमको कहाँ ते वस्त्र ओढ़ावें।
मिलें न पैसा एक ही गाँठ में, साहुकार वह नाम धरावें।
ऐसे मूर्ख ज्ञानी कहावत, भक्तिराम इस विध गावें ॥८॥

इस प्रसंग में इन्होने रामस्नेही संत-महात्माओं की प्रशंसा करते हुए कहा है :—

रामस्नेही संत कहावत, सो हमरे उर इष्ट विराजे।
आन अज्ञान मिटाय पलक में, ज्ञानस्वरूप निरूपण राजे।
बड़भागी सोही महातम जानत, दुष्ट दुरमती दूर ही भाजे।
समरथ दान दियो अति मोटो, भक्तिराम के हैं शिर ताजे ॥६॥

आप परब्रह्म राम, संत एवं गुरु के अनन्य भक्त थे। अपने गुरु के असीम उपकारों को स्मरण कर वन्दना करते हुए कहते हैं।—

गुरु के चरणों चित्त तिनकुं प्रणत नित,
अतिही आनन्द होत, शरणों सुहायो है।
में तो हूं मलिन अति, गुरुदेव मूलो मतो,
आपके प्रसाद मति विश्राम पायो है।
भवजल बहे जात गुरु आय गयो हाथ,
ज्ञान दे सुधारयो गात, पार लंगायो है।
समरथ मोटो नाम जगतहुं आठो याम।
कहत भक्तिराम मेरे मन भायो है ॥१०॥

श्री भक्तिरामजी महाराज ने तत्वज्ञान एवं उपासना का सार आरती के नाम से एक ही छन्द में इस प्रकार कह दिया है, जो वास्तव में चिन्तन-मनन करने योग्य है :—

ऐसी आरती कर मन मेरा, चौरासी का मिट जाय फेरा।
पहली आरती प्रेम सु कीजे, राम रसायन निशदिन पीजे।
दूसरी आरती दिल में खोजो, कबहु भाव धरो मत दूजो।
तीसरी आरती त्रिगुण त्यागो, सतगुरुचरणाँ प्रीति लागो।
चौथी आरती समर्पण कीजे, श्वास उश्वास राम रस पीजे।
पांचवीं आरती परमपद पाया, आवागमन बहुर नहीं आया।
पांचों आरती इण विध कीजे, भक्तिराम गुरु शरण रहीजे ॥११॥

अर्थात् आरती का अभिप्राय धूप, दीप एवं अगरबत्ती आदि के द्वारा भगवान् के अवतार विग्रह अथवा प्रतिमा की सेवा-पूजा करने से होता है। परन्तु संत महात्माओं ने जिस आरती को करने का निर्देश किया है, वह इससे सर्वथा भिन्न है। वे मानसिक वृत्तियों का इस प्रकार रूपान्तरण करने को आरती किंवा मानसिक आरती करना कहते हैं, जिससे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का दिव्यान्तरण हो व्यक्ति अहं से मुक्त होकर मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। अतः 'राम' नाम स्मरण करना एवं सर्वत्र प्रेमभाव को विकसित करना मानसिकवृत्तियों के रूपान्तरण का प्रारम्भ बिन्दु है, अतः इसे पहली आरती कहा है। इसका अगला स्तर ध्यानावस्था में 'एकंसत्' का साक्षात्कार करना है। जब ध्यान एवं समाधि की अवस्था में साधक को सर्व भूतप्राणियों में एक ही परात्पर सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव एवं दर्शन हो जाता है, तब वह अनुभव करता है कि वही परात्पर सत्ता व्यक्ति एवं सम्पूर्ण सृष्टि को यंत्रारूढवत् चला रही है। ऐसी अनुभूति प्रत्यक्ष होने हो साधक साधना की तीसरी अवस्था में पहुँच कर गुणातीत हो जाता है। इसी को तीसरी आरती कहा है। तत्पश्चात् ज्ञान, कर्म एवं योग की अंतिम सीढ़ी आती है समर्पण की। आत्मनिवेदन अथवा सम्पूर्ण

छन्दों का प्रवाह उमड़ पड़ता था। इस प्रकार ८०-८२ वर्ष की दीर्घायु तक धर्म प्रचार एवं उपदेश के द्वारा जन जीवन को जागृत, उद्‌बोधित एवं पर्याप्त परिमाण में शिक्षित और सुसंस्कृत करते हुए विक्रम संवत् २०३४ को प्रथम श्रावण शुक्ल १४-भृगुवार के दिन आप इस पंचभौतिक कलेवर की इहलीला का संवरण कर ब्रह्मलीन हो गये।

७. श्री रामगोपालजी महाराज

श्री रामगोपालजी महाराज अपने योग्य गुरु के सुयोग्य शिष्य थे। आपका जन्म विक्रम संवत् १९७८ में बाड़मेर जिलान्तर्गत गोल-भीमरलाई गाँव में एक पशुपालक रेबारी परिवार में हुआ था। आपके पिता श्री थानारामजी इस सीमान्त क्षेत्र की रेलवे लाईन पर काम करनेवाले बारहमासी मजदूरों के जमादार थे। ये जब चार पांच वर्ष के बालक थे तब इनके माता-पिता का देहान्त हो गया। ये दो भाई एवं दो बहिनें मामा के आश्रित हो गये। परन्तु जिनका भाग्योदय होनेवाला है, उसे कोई रोक नहीं सकता। मामा के मनमें कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि वह आपको बूड़ीवाड़ा ले आए और वहाँ पर श्री समरथरामजी महाराज की आज्ञा से श्री भक्तिरामजी म० ने वि० सं० १९८५ में आपको रामस्नेही धर्म की दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया।

श्री भक्तिरामजी महाराज अपने प्रारम्भिक जीवन में प्रायः रामत (पर्यटन) किया करते थे। ये बहुश्रुत एवं शास्त्राभ्यासी थे। अतः इनके मनमें अपने शिष्य को भी शिक्षित एवं विद्वान् देखने की महत्वाकांक्षा जागृत हुई, परन्तु भिक्षान्न से निर्वाह करनेवाले इस फकीर गुरु के पास शिष्य की शिक्षा का व्यय वहन करने के लिये कुछ न था। फलतः प्रारम्भिक अक्षराभ्यास कराने के पश्चात् गुरुने स्वयं शिष्य को मौखिक शास्त्राभ्यास कराना आरम्भ किया। गाँव के जुलाहा द्वारा बुने गये मोटे कपड़े की थैली, स्लेट एवं पेंसिल, बस इतनी सी शिक्षण

सामग्री जुटाई गई। 'रामत' में कभी किसी गाँव में सद्गृहस्थ भक्त के घर आसन होता तो दूसरे गाँव में ठाकुरजी के मन्दिर में, अथवा हनुमानजी की चौकी पर। अगले गाँव पहुँचते तो वहाँ ग्राम ठाकुर की पोल मिलती। जहाँ कहीं रुकते गुरुजी स्लेट पर कभी महात्माओं की वाणी के अंश, कभी श्लोक अथवा शास्त्रीय सूत्र तो कभी छटादार छन्द लिखवाते और उनका मन्तव्य समझाते। शिष्य दत्तचित्त हो उसे समझने और कण्ठस्थ करने में जुट जाता। इस प्रकार शिक्षाभ्यास करते हुए, दिन पर दिन, माह पर माह एवं पुनः वर्ष पर वर्ष व्यतीत होने लगे।

परम्परागत महाजनी शिक्षा देने के लिये ग्राम असाडा में चल रही पोशाल (पाठशाला) में भी इन्हें भर्ती किया गया। वहीं पर इन्होंने हिसाब, गणित, एवं चिट्ठी-पत्री लिखना तथा कामकाजी लिखा-पढ़ी के कानूनी मसौदे (प्रारूप) बनाना सीखा। परन्तु इससे आप सन्तुष्ट नहीं हुए। आपने अपने संप्रदाय के वैद्यों एवं विद्वानों से संपर्क साधना प्रारम्भ किया और उनसे हिन्दी तथा संस्कृत भाषा, साहित्य तथा व्याकरण एवं प्रारम्भिक आयुर्वेद का अभ्यास प्राप्त किया। सीखने और सीखाने का यह अभ्यास ऐसा चल पड़ा कि वह जीवन पर्यन्त चलता ही रहा। शिक्षा जीवन पर्यन्त चलनेवाली एक अविरल प्रक्रिया है, इस उक्ति को इन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाया।

लगभग १८-१९ वर्ष की अवस्था में श्री रामगोपालजी महाराज अपने गुरु समेत बूड़ीवाड़ा के रामद्वारा में स्थायी रूप से निवास करने लगे। सर्वप्रथम आपका रुझान वैद्यगिरि करने का हुआ। तदनुसार संप्रदाय के वैद्यों के संपर्क से प्राप्त अनुभव एवं स्वाध्याय की शिक्षा के बल पर कुछ औषध जुटाया और इलाज-उपचार करने लगे। [illegible]-धीरे आप इस कार्य में लोकप्रिय होने लगे। परन्तु आपने शीघ्र [illegible] कि यह कार्य उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं

है। कारण, पीड़ित गरीब रोगी से उपचार शुल्क वसूल करना तो दूर रहा उससे औषध का वास्तविक मूल्य मांगने में भी बड़ा संकोच होता था। धनाभाव के कारण औषध क्रय करने में कठिनाई आने लगी। इस प्रकार अपने जीवन की प्रथम पसन्द इस चिकित्सा व्यवसाय को तिलाञ्जलि देने के लिये उन्हें बाध्य होना पड़ा।

अब आपने ऐसा व्यवसाय चुनने की ठान ली, जो अपनी साधु प्रकृति के अनुकूल हो, जिसके करने में पैसे की आवश्यकता न पड़े एवं उससे परोपकार भी हो। काफी सोच-विचार के पश्चात् आपने पाठशाला चलाने का निश्चय किया। अभिभावकों से संपर्क किया तो वे अपने बच्चों को पढ़ाने के लिये तैयार हो गये। प्रतिमाह प्रति छात्र आठ आना शिक्षण शुल्क निश्चित किया गया। इस प्रकार आपकी पाठशाला चल पड़ी। एक उपदेशक, सुधारक, साधु और शिक्षक के रूप में आपके द्वारा महत्वपूर्ण जन-सेवा सम्पन्न हुई।

श्री रामगोपालजी महाराज १८-२० वर्ष की अल्पायु में ही अपने सद्गुण, सदाचार, व्यवहार कुशलता एवं विद्वता के कारण गाँव मे प्रतिष्ठित व्यक्ति माने-जाने लगे। सज्जन प्रकृति, साधुवृति एवं शिक्षक होने के कारण गाँव के सामान्य लोग, किसान, महाजन एवं ग्राम ठाकुर सभी आपको विशेष मान-सम्मान देते थे। चौधरी, महाजन एवं ग्राम ठाकुर के बच्चे आपकी पाठशाला में शिक्षा पाने लगे। शासक और शासित, शोषक एवं शोषित, स्वाभाविक रूप से परस्पर विरोध रखनेवालों को समानता और सहअस्तित्व से प्रेमपूर्वक जीवन जीने का प्रथम पाठ आपकी पाठशाला द्वारा पढ़ाया जाने लगा। उन्ही दिनों देश में स्वतंत्रता संग्राम अपनी चरम सीमा को छू रहा था। मारवाड़ में भी प्रजापरिषद् सक्रिय थी। किसान एवं परम्परागत शासक ठाकुरों के मध्य उग्र संघर्ष होने की नित नवीन घटनाएँ घटित हो रही थी। उस समय स्थानीय शासक एवं शासितों के मध्य सभावित दुर्घटनाओं को घटित होने से आपने अपनी दूरदर्शिता, निष्पक्षता तथा

सन्तुलित व्यवहार और शान्त प्रकृति के द्वारा अनेकों बार बाल-बाल बचाकर समाज में अमन-चैन स्थापित करने में महत्वर्ण योगदान दिया। फलतः आप अन्त तक दोनों वर्गों के श्रद्धाभाजन बने रहे।

आप नम्र स्वभाव, गम्भीर प्रकृति, सादा-सरल जीवन एवं उच्च विचार रखने वाले, ऊपर से कठोर परन्तु हृदय से अत्यधिक सम्वेदनशील एवं भावुक व्यक्ति थे। समाज के तथाकथित सम्भ्रान्त लोगों तथा चलते-पुरजों द्वारा साधारण तथा अपेक्षाकृत दुर्बल लोगों का शोषण एवं उनका उत्पीड़न होते देख कर आपका मन वेदना एवं विषाद से भर जाता था। इस प्रकार की घृणित समाज व्यवस्था के प्रति आपके मन में जितना तीव्र आक्रोश था, उसके प्रतिकार का मार्ग भी उतना ही शान्त, गम्भीर एवं शालीन हुआ करता था। आप चाहते थे कि कमजोर व्यक्ति अपने ऊपर होने वाले अन्याय अत्याचार का प्रतिकार संघर्ष के द्वारा करने का प्रयास करके अपनी स्वल्प शक्ति को समाप्त न करें अपितु संघर्ष के हर अवसर से बचते हुए अपनी बल-बुद्धि को सृजनात्मक कार्यों में नियोजित कर अपनी कमियों का निवारण करते हुए क्षमता को विकसित करें। सैकड़ों-सैंकड़ों लोगों का इस प्रकार आप जीवन पर्यन्त मार्ग-दर्शन करते रहे और अनेकों को शिक्षार्जन, उद्योग एवं व्यापार-व्यवसाय में लगाया।

श्री रामगोपालजी महाराज को साधुता के नाम पर अकर्मण्यता एवं निठल्लापन तनिक भी पसन्द नहीं था। वह एक क्रियाशील एवं कर्मठ व्यक्ति थे। अतः आप शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने एवं समाज सुधार की दिशा में सदैव कर्मरत रहते थे। वह सामूहिक शिक्षा प्रचार एवं समाज-सुधार का आडम्बर किये बिना पूर्ण शान्त भाव से व्यक्ति के सुधार द्वारा समाज सुधार के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे। व्यक्ति का सुधार करने के लिये वह धर्म, नीति एवं अध्यात्म को-शिक्षा को आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि सभी प्रकार की बुराइयों का मूल अज्ञान है। अतः सर्वप्रथम शिक्षा के

माध्यम से अज्ञान का उन्मूलन कर व्यक्ति को वास्तविकता का
कराना आवश्यक है। इस काम को वह ईश्वर की भक्ति एवं
पूजा की औपचारिकता से भी अधिक महत्व देते थे। यही क
था कि प्रातः काल से सायंकाल तक आपके पास एक एक व
अपनी सुविधा एवं फुर्सत के अनुसार आता रहता और आप
से व्यक्ति का सुधार एवं व्यक्ति से समाज सुधार के लक्ष्य की प्र
के ध्येय को ध्यान में रख कर पात्र के अनुसार धर्म, नीति, इति
पुराण, अध्यात्म एवं सामाजिक व्यवहार से सम्बन्धित विविध वि
की विवेचना करने में व्यस्त रहा करते थे। इस प्रकार की
व्यस्तता में कभी स्नान एवं पाठ-पूजा का समय निकल जाता
कभी समय पर भोजन नहीं हो पाता। जब अकेले होते तब क
ही कहते—"हे प्रभु ! इतने समय तक मैं तो आपका ही काम कर
था। उसी को मेरा पाठ-पूजा स्वीकार करना।" और, फिर
कुछ क्षणों के लिये गहरे अन्तर्ध्यान में लीन हो जाते।

गाँवों में जो मन्दिर, मठ एवं गुरुद्वारे होते हैं, उनके
प्रायः सब जगह लाग-बाग बंधे होते हैं एवं विशेष अवसरों पर
आदि से धन इकट्ठा किया जाता है। दिन-प्रतिदिन भेंट-उ
की प्राप्ति होती रहती है। परन्तु रामद्वारा सूरीबाड़ा-मसाड़
परम्परा से लाग-बाग वसूल करने को महत्व नहीं दिया गया।
नाम मात्र का प्रचलन था तो उसे भी श्री रामगोपालजी मह
ने पसन्द नहीं किया। चन्दा आदि लेना तो आपको बिल्कुल प
नहीं था। भेंट-उपहार, जो व्यक्ति स्वेच्छा एवं श्रद्धा से देवें, उसे
प्रोत्साहन नहीं देते थे। लाग-बाग तथा चन्दा लेने को वह गरीब ज
पर अत्याचार [illegible] कहते थे। उनकी निगाह में यह भी एक
का शोषण है। वह कहते—"मैं फकीर हूँ, एक [illegible]
लाग-बाग वसूल करना, चन्दा लेना एवं भेंट-उपहार स्वीकार
से गरीब जनता को दरिद्र करने की कुप्रथा के और इस [illegible] और

मिव्यता पर कर लेती है। इसी से सब प्रकार की समस्याएँ उ
ती है।

एक साधक के नाते ज्ञान, कर्म एवं भक्ति में से वह
धिक महत्व देते थे, यह कहना कठिन है। उनका जीवन कर्म प्र
। भक्त हृदय की भावुकता एवं संवेदनशीलता उनमें पर्याप्त
न के प्रति उनका आग्रह अत्यधिक था। चिन्तन, मनन एवं उ
टि के साहित्य का नित्य-निरन्तर स्वाध्याय करते रहने को वह
र स्थान देते थे। स्वाध्याय में जब वह लीन होते तो उसी
ते थे। इन पंक्तियों का लेखक जब विश्व विद्यालय का छात्र था
रकाश के दिनों में वे इसे दान्त, दर्शन, ज्ञान, भक्ति, कर्म एवं योग
य अध्यात्म विषय से सम्बन्धित किसी विद्वान् का निबंध, किसी पु
' अंश निकाल कर पढ़ने को देते और फिर वह कहते, इसी अंश वे
सटीक विस्तार पूर्वक व्याख्या करते हुए मौखिक रूप में समझा
ा ही किया जाता। कभी दो चार अन्य श्रोता बैठे होते और
ैसे गुरुजी शिष्य का प्रवचन सुनते। प्रायः यह देखा जाता कि
नते-सुनते उस विषय के चिन्तन मनन में लीन हो ध्यान मग्न
ाते। आसन पर पालथी लगाए, वक्षस्थल पर दोनों हाथ बाँधे,
दृष्टि गढ़ाए उस समय ऐसे लगते मानो वह ध्यान में डूबे हुए है।
पलतावश यह वक्ता उनकी परीक्षा लेने के लिये कभी-कभी प्र
मध्य में अकस्मात चुप हो जाता। कई क्षणोपरान्त वे एक दृष्टि
र आगे बोलने का संकेत करते। सोचता था, "विषय को पढ़ा,
र चिन्तन-मनन किया, विस्तार के लिये सामग्री एकत्र की, पुष्टि
ये तर्क जुटाए, क्रम बांधा स्मरण किया सुन्दर अभिव्यक्ति और प्र
ाली प्रस्तुतिकरण का हर सम्भव प्रयास किया गया, परन्तु वे
यारी का मूल्यांकन करने के बजाय अपने ही ध्यान में मस्त हैं।'

वास्तविकता यह थी कि उस समय वह विषय के
न्तन-मनन में स्वयं निमग्न होते। उनकी चित्तवृत्ति विषयाका

जाती। कभी-कभी उस विषय पर मन को एकाग्र कर चित्त को पूर्ण निश्चल एवं शान्त कर लेते और इस प्रकार पूर्ण नीरव तथा निर्विकार हो ध्यान की स्थिति में पहुँच जाते। व्याख्यान की समाप्ति के पश्चात् उसी स्थिति में उनके कई क्षण व्यतीत हो जाते थे। उनकी नित्य यह अभिलाषा रहा करती थी कि मैं एक ही दिन में अनेक बार धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म के विविध बिन्दुओं की व्याख्या करता ही रहूँ। ऐसी थी उनकी सीखाने एवं सीखने की प्रक्रिया एवं एक अमिट लगन और कभी नहीं बुझने वाली ज्ञान पिपासा।

श्री रामगोपालजी महाराज का जीवन एक समर्पित जीवन था। वह शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने, व्यक्ति के जीवन को नैतिकता प्रधान बनाने और सामाजिक जीवन में फैली बुराइयों का संशोधन-परिशोधन कर व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत एवं सुसंस्कृत तथा धार्मिक दृष्टि से उन्नत और भौतिक रूप में सभ्य बनाने के आकांक्षी थे। व्यक्ति को तनाव एवं कटुतापूर्ण पारस्परिक सम्बन्धों का परित्याग कर सद्भावनापूर्ण व्यवहार करने और आत्मीयता को अपनाने के लिये सदैव उत्प्रेरित किया करते थे। जीवन में सहिष्णुता, अक्रोध एवं सद्भावना विकसित करने को अत्यधिक बल देते थे। वह कहा करते थे कि हवा के रुख के साथ प्रवाहित मत होओ। व्यक्ति के आडम्बरपूर्ण दिखाऊ व्यक्तित्व से प्रभावित मत होओ, हवा को पहिचानो, व्यक्ति की गहराई की थाह लो; तथ्यान्वेषी एवं विवेकवान बन कर मौलिकता धारण करो। सत्पथ पर चलो, पुरुषार्थी बनो, प्रमाद, आलस्य तथा दुर्व्यसनों का परित्याग करो। स्तरीय उच्चकोटि के साहित्य का स्वाध्याय करो। गुटबन्दी एवं पारस्परिक उच्छाल-पछाड़ से दूर रहो। संघर्ष में अपनी शक्ति का अपव्यय मत करो। आवश्यकतानुसार रक्षात्मक उपाय करते हुए स्व-क्षमता का सृजनात्मक एवं विकासात्मक कार्यों में निवेश करो। बस यही उन्नति का राजमार्ग है।

वह साधन विहीन एवं अभावग्रस्त जीवन जीते हुए शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने, समाज में परस्पर सद्भावना प्रतिष्ठित करने

व्यक्ति के जीवन को सुसंस्कृत बनाने एवं उनके दृष्टिकोण को उदार तथा व्यवहार को शालीन बनाने की दिशा मे सतत शान्तभाव से जीवन पर्यन्त कर्मरत रहे। वह अपने शारीरिक सुख के लिये साधन-सुविधा जुटाने को कभी किञ्चित भी प्रवृत्त नही हुए। उनका जीवन एक तपस्वी का-सा था। सभी प्रकार के पक्ष-विपक्ष से तटस्थ, दलबन्दी से दूर, समर्पित भाव से अपने कार्य में जुटे रहते थे। कईबार सरपंचाई के पद के लिये सर्वसम्मति से प्रस्ताव आए, परन्तु आप पद के प्रलोभन से कभी प्रभावित नहीं हुए। वह अपने गरिमामय गुरुपद को इन सबमे अधिक महत्वपूर्ण मानते थे।

श्री रामगोपालजी महाराज अपने सम्प्रदाय में श्रेष्ठ वाणी पाठकों में से एक थे। उनका गण्यमान्य विद्वानों में मान-सम्मान था। सम्प्रदाय में अच्छी प्रतिष्ठा थी। उनका अपने विद्यार्थियों एवं निकट सम्पर्क में रहने वाले लोगों पर कठोर अनुशासन था। ऊपर से वे कठोर प्रतीत होते थे, परन्तु उनका हृदय अत्यधिक कोमल एवं संवेदनशील था। उनका जीवन संयमित और अनुशासित था। वे अन्तर्मुखी प्रकृति के व्यक्ति थे। परन्तु उनकी चेतना उत्कृष्ट चिन्तन, शालीन व्यवहार और उदात्त कर्म के प्रति सदैव जागृत रहा करती थी। वह पर दुख कातर तो थे ही। अपने लिये अन्य की तनिक-सी असुविधा भी उनको असह्य होती थी। सीधे और सरल भाव से यदि कोई उनका साधारण सा काम भी कर लेता था तो उसके प्रति आपका दिल कृतज्ञता के भावों से भर जाता था। वह एक आदर्श गुरु भक्त थे। उनको अपने गुरु श्री भक्तिरामजी महाराज के प्रति अनन्य प्रेम था। गुरुजी के व्यक्तित्व के प्रति इनके हृदय में श्रद्धा एवं गर्व का भाव था। एक स्थान पर इन्होंने गुरु परम्परा के पूर्वज महात्माओं का परिचय देते हुए अपने गुरु श्री भक्तिरामजी के प्रति अपनी श्रद्धा को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

रामदास शिव रूप, नमो गोविन्द गुण सागर।
सालिग शुद्ध स्वरूप, तपोमूर्ति उजियागर॥
गंग ज्ञान पर भाव, अमित जन उद्धरे प्राणी।
श्री समरथ सुख धाम, ताहि कूँ करोड़ सिलामी॥
मम गुरु भक्त शिरोमणि, अविचल पद आसन सदा।
ता पद पंकज दर्शते, सिद्ध होत आतम मुदा॥

विक्रम सम्वत् २०३६ अपनी क्रूरता एवं प्राकृतिक विप-दाओं के लिये वर्षों तक स्मरण किया जाता रहेगा। इसी वर्ष अमेरिका द्वारा अन्तरिक्ष में स्थापित प्रथम प्रयोगशाला वैज्ञानिकों के नियंत्रण के बाहर होकर पुनः पृथ्वी पर अवरोहण करने लगी। मई-जून १६७६ के दो माह तक कभी पश्चिमी राजस्थान में, कभी दक्षिण भारत के बड़े शहरों पर तो कभी भू-मध्य रेखा की परिधि में कहीं भी अन्तरिक्ष प्रयोगशाला के गिरने की अफवाहें गर्म रही और जनमानस सम्भावित विध्वंस की अटकलबाजियों में व्यस्त एवं पूर्ण आतंकित रहा। इस वर्ष भगवान् भास्कर की अनुकम्पा भी कुछ ऐसी रही कि पूर्वापेक्षा ग्रीष्मकाल अधिक उष्ण अनुभव किया गया।

इधर बहुसंख्यक वर्ग में तथाकथित सुधारकों का अधिनायक-वादी शिकंजा ऐसा कसा गया कि व्यक्ति निरीह एवं वैभव मात्र आतंकित, भयभीत और मूकदर्शक बन गया। कई अपूर्व एवं अप्रत्या-शित घटनाएं घटित हो रही थी। वर्षा ऋतु का प्रारंभ प्रलयकारी घन-घटाओं के गर्जन-तर्जन एवं उमड़-घुमड़ के साथ हुआ। [illegible] बाढ़ सहित अधिकांश बांधों के ऊपर से कई फुट जल की चादर चलने लगी। लूनी नदी उफन रही थी। परिणामतः पीपाड़ शहर से [illegible] का सर्वत्र भूमि से [illegible] रहने वाला प्रदेश बाढ़ की चपेट में था। सैकड़ों गांव जल मग्न हो गये। बालोतरा के पास लूनी नदी [illegible] फुट [illegible] किया गया। पीपाड़, लूनी [illegible] बालोतरा में मकानों की छतों को छूते हुए बाढ़ का पानी निकला।

बालोतरा के दक्षिण में करीब आधा किलोमीटर चौड़ी नदी साढा तीन किलोमीटर चौड़ी एवं कस्बे के उत्तर में पचपदरा की ओर ८ किलोमीटर तक फैल चुकी थी। इस प्रकार यहाँ पर इस की चौड़ाई १०-१२ किलोमीटर हो गई थी, जिसमें ६ फुट से लेकर ३५ फुट तक का जलस्तर प्रवाहित हुआ। इस प्रकार उफनती लूनी नदी कोटनोद के पास ऐसी छलकी कि करीब दो किलोमीटर चौड़ा पानी का रैला ४-६ फुट जलस्तर लिये पसाडा गांव में भी आ पहुँचा, जो प्रातः ३ बजे से सायं ५ बजे तक प्रवाहित होता रहा। गांव के मध्य में स्थित रामद्वारा में भी चार फुट पानी भर गया था। हमारे चरित्र नायक यह सब दृश्य रामद्वारा भवन की दूसरी मंजिल पर बने अपने स्वाध्याय कक्ष में बैठे देख रहे थे।

प्रकृति का प्रकोप शान्त हुआ। लोग-आने जाने लगे। गांव में कोई जन हानि नहीं हुई थी। धीरे-धीरे यथा स्थिति कायम हो रही थी। परन्तु आस-पास के गांवों में हुई जन-धन की हानि की नित-नवीन कहानियां सुनने में आ रही थी। इस गांव के लोग परस्पर कहते सुने जाते कि हमारा यह सौभाग्य है कि कोई जन हानि नहीं हुई। धन तो हाथ का मैल (तुच्छ वस्तु) है और कमा लेंगे। परन्तु यह किसी को मालूम नहीं था कि क्रूर विधाता के दिल में क्या काला है?

एक दिन विधाता का राज खुल गया। श्रावण माह के शुक्ल पक्ष की दसमी को शुक्रवार और दिनांक ३-८-७९ थी। प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में श्री रामगोपाल जी महाराज ने शय्या का त्याग किया, उठे। शौच से निवृत्त हुए। मुँह, हाथ, पैर धोए। आसन पर आकर विराजे। लगभग प्रातः ७-३० का समय हो गया था। श्री रामगोपाल जी महाराज ने कर-बद्ध हो 'राम' नाम का स्मरण किया। गुरु श्री भक्ति राम जी महाराज की समाधि की दिशा में मुड़े। प्रणाम किया। पुनः करबद्ध हो ध्यानस्थ हो गये। बस यही ध्यान उनकी महासमाधि थी। कुछ क्षणोपरान्त निष्प्राण शरीर झुका तो पास बैठे उनके एक

अन्तरंग शिष्य का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। वह उठा और उन्हें सम्भाला। देखा, वे महाप्रयाण कर चुके थे।

वह दिन !
(एक भाव बिम्ब)

हाय ! हिमगिरि के उस पार,
पूर्व क्षितिज पर सूरज उगा।
पर, उर अन्तर में
शोक कुहरा छा रहा
रश्मि एक फैल न पाई ॥१॥
लो ! क्षितिज पर से उठ
रश्मि-रथि है कुछ आगे बढ़ा।
पर, अन्तर का तम
पावस के संदल जलद-सा
धूप-प्रकाश को बांधे रहा ॥२॥
अरे ! वह सूरज देखो,
अन्तरिक्ष मध्य दमक रहा।
रोको उसे, वह तो
तप्त किरणों से उर भीतर
विरहाग्नि जला-जला रहा ॥३॥
वह अपराह्न का ढलता सूरज
तस्कर-सा सिर पाँव उठा कर।
भाग रहा छिन हृदय धन को,
रोको उसे वह भाग न पावें ॥४॥
देखो ! अस्ताचल में वह,
गोल-गोल रक्तवर्ण पिण्ड
अस्तित्वहीन जलता हुआ
सूरज का अस्थिपिञ्जर ॥५॥
वह बता रहा हमको इक बाता,
पर उत्पीड़क सदा पीड़ा हो पाता
जलाने वाला स्वयं जल-जल जाता
अतः तोड़ो तुम अन्याय से नाता ॥६॥
ओहो ! क्या हुआ अचानक यह,
हायरे !! डूब गया वह सूरज
जो पंच दशाब्दि पथ आलोकित
करता रहा जन-जन का ॥७॥
सघन तिमिर छा गया दशों दिशा,
उफ ! सूझ न पड़ती कहीं राह।
हे-गुरुदेव ! हम पर यह
कैसा कहर ढाह दिया ॥८॥

—प्र० पटेल

सवैया

रामस्नेह कियो बलवन्त है, सन्त अनन्त की संगति भारी।
शास्त्र विचार प्रचार प्रसारक, प्रेम विनोद सुहास सुधारी ॥
आतम ज्ञान विलोकि महात्तम देह-विदेह करी सब धारी,
भक्ति गुरु करि साधु रमे, फिर राम रमे "गोपाल" विहारी ॥

—वैद्य श्री श्रीदेवशास्त्री शर्मा, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ

दोहा

मूल	रूपान्तर
रा-म रट्यां संकट कटे,	रा-म रट्या संकट कट्या,
म-न होवे मजबूत ।	म-न होया मजबूत ।
स-रण गयां साधक धरे,	स-म ग्रह्या ध्यान धारिया,
ने-म धर्म शिव सुत ॥१॥	ने-म सुं करया मन सुध ॥१॥
हि-त हिंसाने छोड़ीयां,	हि-त सोच्या हिंसा मिट गई,
सं-यम जठे सन्तोष ।	सं-यम लायो सन्तोष ।
त-प जपसूं तिरणों तुरन्त,	त-प जपसूं तर्या तुरन्त,
रा-जा प्रजा ने पोस ॥२॥	रा-जा प्रजा ने पोष ॥२॥
म-न मार्यां मुक्ति मिले,	म-न मार्या मुक्ति मिल्या,
गो-रव गुणरो होत ।	गो-रव गुणरो होत ।
पा-प टर्यां प्रभुता प्रखर,	पा-प टार्या प्रभुता प्रखर,
ला-भ धर्म उद्योत ॥३॥	ला-भ धर्म उद्योत ॥३॥
जी-त जबर मोह जोधने,	जी-त जबर मोह जोधने,
गा-वो प्रभुरा गीत ।	गा-या प्रभुरा गीत ।
न-कर मान नश्वर अरथ,	न-कर मान नश्वर अरथ,
अ-खण्ड ईश्वर सूं प्रीत ॥४॥	अ-खण्ड ईश्वर सुं प्रीत ॥४॥
खा-ध साधना सुध मन;	खा-ध साधना सुध मन,
ड़ा-र अहम् वण नर्म ।	ड़ा-र अहम् बण नर्म ।
संत-दास मुलतान मुनि,	मूल कह्यो मुलतान मुनि,
कहे स्वातम तव मर्म ॥५॥	प्रह्लाद पकड्यो मर्म ॥५॥

सरल सभ्य सम शिष्टता, राम स्नेही सु संत ।
संत-दास मुलतान कहे, चल्या 'गोपाल' सु पथ ॥६॥

—जैनमुनि संत श्री मुलतानमलजी महाराज सा. ।

(८) श्री जुगतिरामजी महाराज

इनका जन्म विक्रम सम्वत् २००१ में ज्येष्ठ माह के शुक्ल पक्ष की ११ अर्थात् निर्जला एकादशी को ग्राम असाडा में ही एक सम्पन्न चौधरी किसान परिवार में हुआ एवं विक्रम सम्वत् २००८ के श्रावण माह में ग्राम बूड़ीवाड़ा में इनकी दीक्षा सम्पन्न हुई। श्री रामगोपालजी महाराज के ब्रह्मलीन हो जाने के पश्चात् उनकी षण्मासीय पुण्य तिथि पर उनका 'निर्वाण स्मृति महोत्सव' मनाया गया। इसी अवसर पर विक्रम सम्वत् २०३६ माह माघ शुक्ल १० तदनुसार दि० २६ जनवरी १९८० को प्रातः शुभ ब्रह्ममुहूर्त में सम्प्रदाय के आचार्य द्वारा इन्हें श्री रामगोपालजी महाराज का उत्तराधिकार-सम्प्रदान कर रामद्वारा बूड़ीवाड़ा एवं असाडा के अधिपति 'महंत' के पद पर प्रतिष्ठित किया गया।

श्री जुगतिरामजी अपने पूर्व प्रादुर्भूत महात्माओं एवं मनीषियों द्वारा स्थापित उज्ज्वल परम्पराओं के प्रतिपालन के लिये पूर्ण सक्षम और सचेष्ट गतिशील प्रकृति के एक नौ जवान संत हैं। आप में अपने पद के दायित्वों को वहन करने की पर्याप्त क्षमता विद्यमान है। परम प्रभु परमात्मा से प्रार्थना है कि इनकी प्रसुप्त क्षमता विकसित होकर रामद्वारा की परम्परा और सम्प्रदाय की विशिष्टताओं की एक सुन्दर, सुरम्य, एवं मनोहर कड़ी बने।

सहायक ग्रन्थ सूची

१. श्री जयमलदासजी महाराज के पद
२. श्री हरिरामदासजी महाराज की अनुभव वाणी
३. श्री रामदासजी महाराज की अनुभव वाणी
४. श्री दयालदासजी महाराज की अनुभव वाणी
(केवल स्फुट प्रकाशित अंश)
५. श्री गुरुप्रकरण परची—श्री दयालदासजी म॰
६. श्री रामस्नेह धर्म प्रकाश—श्री चौकसरामजी म॰
७. श्री परसरामजी महाराज की वाणी
८. श्री सेवगरामजी महाराज की वाणी
९. जन प्रभाव परची—श्री बालकदासजी म॰
१०. आचार्य चरितामृत—पं॰ श्री हरिदासजी शास्त्री
११. श्री रामस्नेही मत दिग्दर्शन-पं॰ श्रीउत्साहरामजी प्राणाचार्य 'कलहंस'
१२. श्री दयालु दिव्य चरित्र— —„————
१३. उत्तरी भारत की संत परम्परा—आचार्य परसुराम चतुर्वेदी
१४. स्थित प्रज्ञ दर्शन—आचार्य श्री विनोबा भावे
१५. गीता प्रवचन—— ————„———
१६. गीता का भक्तियोग—स्वामी रामसुखदास
१७. श्री मद्भगवद्गीता
१८. पातञ्जल योगशास्त्र
१९. नारद भक्ति सूत्र
२०. श्री रामचरित मानस—गोस्वामी तुलसीदास
२१. भारत में विवेकानन्द—स्वामी विवेकानन्द
२२. धर्म तत्व — ——„——
२३. विवेकानन्द साहित्य प्रथम खण्ड—„———
२४. योग समन्वय भाग पहला—महर्षि अरविन्द
२५. भारतीय दर्शन भाग पहला—डा॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन ।

२६. भारत और विश्व — ——„——
२७. श्री हरिरामदासजी म० की परची—श्री जैराम
२८. विवेक चूड़ामणि—श्री मदाद्य शंकराचार्य
२९. रामस्नेही सम्प्रदाय की दार्शनिक पृष्ठ भूमि-डा० शिवाशंकर पाण्डेय
३०. श्री दरियाव म० की अनुभव गिरा
३१. श्री रामस्नेही सम्प्रदाय—वैद्य केवलराम स्वामी एवं अन्य।
३२. संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ, प्रथम संस्करण।
३३. राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० मोतीलाल मेनारिया।
३४. श्री रामस्नेही अनुभव आलोक—बलरामदास शास्त्री
३५. मासिक कल्याणाङ्क—गीता प्रेस, गोरखपुर
३६. अखण्ड ज्योति, मासिक पत्रिका—अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा